श्री सेठ जुगलकिशोरजी बिरला की श्री १०८ आचार्य देशभूषणजी महाराज के साथ धार्मिक तत्व चर्चा

बिरला मन्दिर न्यू देहली में आचार्य श्री १०८ देशभूषणजी महाराज प्रवचन करते हुये

सूची पत्र

प्रवचन विषय	पृष्ठ से तक	प्रवचन विषय	पृष्ठ से तक
शान्ति का मार्ग	२८१—२८५	अर्हन्त भक्ति	३८८—३९१
सन्तान शिक्षण	२८५—२८९	आचार्य-भक्ति	३९१—३९३
बाल्यावस्था के संस्कार	२८९—२९३	बहुश्रुत भक्ति	३९३—३९६
कृतज्ञता की आवश्यकता	२९३—२९७	प्रवचन भक्ति	३९६—३९९
विद्यार्थी	२९७—३०१	आवश्यकापरिहाणि	३९९—४०२
देवी देवता	३०१—३०५	मार्ग-प्रभावना	४०२—४०५
कल्पित धर्माचार	३०५—३०९	वात्सल्य	४०५—४०९
भोगों का विषम रूप	३०९—३१३	उत्तमक्षमा धर्म	४१०—४१३
सङ्गति	३१३—३१७	उत्तममार्दव ,,	४१४—४१६
धर्म-प्रचार	३१७—३२१	,, आर्जव ,,	४१७—४२०
सत्तसंख्या के अनेक कारण	३२१—३२५	,, शौच ,,	४२१—४२४
धर्मों की हाट	३२५—३२९	सत्यधर्म	४२५—४३०
कर्म-लीला	३२९—३३३	संयम धर्म	४३०—४३४
स्वार्थ का साम्राज्य	३३३—३३६	तप धर्म	४३४—४४२
सल्लेखना परिचय	३३६—३४०	त्याग धर्म	४४३—४४८
प्रचार का प्रयत्न	३४०—३४३	आकिंचन	४४८—४५२
दिगम्बर साधु	३४४—३४७	ब्रह्मचर्य	४५३—४५८
आयु	३४८—३५१	क्षमावणी	४५८—४६२
जैसी करनी वैसी भरनी	३५१—३५५	धर्म की आड़ में	४६२—४६५
कुसङ्ग का प्रभाव	३५६—३५९	विद्वान् कौन है	४६६—४६९
षोडश कारण भावना	३६०—३६३	भाग्य का उदय	४७०—४७३
विनय सम्पन्नता	३६३—३६६	सुख-दुःख का स्वागत	४७४—४७७
शीलव्रतेष्वनतीचार	३६६—३६९	परोपकार	४७७—४८२
अभीक्ष्णज्ञानोपयोग	३७०—३७२	ज्ञान-आवरक कर्म	४८२—४८६
संवेग भावना	३७२—३७५	परिग्रह का अभिशाप	४८६—४९०
शक्तितस्तप त्याग	३७५—३७८	धर्मवीरता	४९०—४९४
शक्ति-अनुसार तप	३७८—३८०	दिगम्बर	४९४—४९८
साधु-समाधि	३८१—३८४	कल्याण-पथ	४९८—५०२
वैयावृत्य	३८४—३८८	वेदनीय कर्म	५०२—५०६

प्रवचन विषय	पृष्ठ से तक
दिवगत आचार्य शान्तिसागरजी	५०६—५१०
परीक्षा का समय	५१०—५१४
शील की क्षमता	५१४—५१८
प्रज्ञा का प्रयोग	५१८—५२१
व्रत की दृढ़ता	५२२—५२५
शारीरिक मोह	५२६—५३०
नश्वरता	५३०—५३४
सुजन समागम	५३०—५३८
वैराग्य	५३८—५४२
घर की लक्ष्मी	५४३—५४६
अशरण-शरण	५४६—५५१
सम्यक्त्व की उत्पत्ति	५५१—५५५
श्रावक का कल्याण	५५५—५५६
आशा लक्षण	५५६—५६३
मन की दौड़	५६३—५६७
पंचलब्धि	५६७—५७१
क्रान्तिकारी परिवर्तन	५७२—५७६
भद्र-प्राणी	५७६—५८०
काल की प्रबलता	५८०—५८४

प्रवचन नं० ७२

स्थान— तिथि—
श्री दिगम्बर जैन मंदिर, कूचा सेठ, दिल्ली। प्रथम भाद्रपद कृष्णा १५ बुधवार, १६ अगस्त १९५५

शान्ति का मार्ग

आत्म सुख का मार्ग ही शांति का मूल कारण है इसी लिए महान् पुरुष संसार में रहते हुए भी हमेशा शांति की भावना किया करते हैं जैसे कि भर्तृहरि संसार में रहते हुए इस प्रकार की भावना किया करते थे:—

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्ष्यमक्षय्यमन्नं।
विस्तीर्णं वस्त्रमाशा सुदशकममलं तल्पमस्वल्पमुर्वी॥
येषां निःसंगतांगी करणपरिणतिः स्वात्मसन्तोषिणस्ते।
धन्याः संन्यस्त दैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति॥५२॥

वे ही प्रशंसा के भाजन है, वे ही धन्य हैं, उन्होंने ही कर्म की जड़ काट दी है—जो अपने हाथों के सिवा और किसी पात्र की आवश्यकता नहीं समझते, जो घूम २ कर भिक्षा का अन्न खाते हैं, जो दशों दिशाओं को ही अपना वस्त्र समझ कर नग्न रहते है, जो सारी पृथ्वी को ही अपनी निर्मल शय्या समझते है, जो अकेले रहना पसन्द करते हैं, जो दीनता से घृणा करते है और जिन्होंने आत्मा में ही संतोष कर लिया है॥५२॥

संसार का प्रत्येक जीव सुख और शान्ति चाहता है, दुःख और अशान्ति कोई भी जन्तु अपने लिये नहीं चाहता। परन्तु संसार मे सुख शान्ति है कहां? प्रत्येक जीव को किसी न किसी तरह का दुःख पाया जाता है। जन्म, मरण, भूख, प्यास, रोग, अपमान, पीड़ा, भय, चिन्ता, द्वेष, घृणा, प्रिय-वियोग, अनिष्ट-संयोग आदि दुःख के कारणों मे से अनेक कारण प्रत्येक जीव को लगे हुए हैं इसी कारण प्रत्येक जीव किसी न किसी तरह व्याकुल है और व्याकुलता ही दुःख का मूल है। निराकुलता ही परमसुख है। अनन्त निराकुलता कर्मों के क्षय हो जाने पर प्राप्त होती है, इस मुक्ति के साधन तप, त्याग, संयम, सुख-शान्ति के साधन हैं और क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व- राग, द्वेष, काम, क्षोभ आदि विकृत भाव कर्मबन्ध के कारण हैं सो ये ही विकृत भाव दुःख और अशान्ति के साधन है।

गृहस्थ स्त्री पुरुषों को परिवार के पालन पोषण की चिन्ता रहती है उस चिन्ता को हलकी करने के लिये वे धन संचय, परिग्रह एकत्र करने में लग जाते हैं, उस धन परिग्रह का उपार्जन तथा संचय करते हुए कभी किसी पर क्रोध, किसी के साथ मान, किसी से माया, लोभ आदि करने पड़ते है, उनसे ही मानसिक तथा अनेक तरह का शारीरिक दुःख होता है। परिग्रह त्यागी मुनिराज को धनसंचय, परिग्रह-संचय की चिन्ता नहीं होती अतः उनको मानसिक दुःख चिन्ता और अशान्ति भी नहीं होती। यों बाहर से देखने वाले उनको नग्न अकिंचन देख कर अपने मोटे विचार से उनको भले ही दुःखी मान बैठे परन्तु

सूक्ष्मदर्शी बुद्धिमान समझते हैं कि एकान्तवासी, नग्न, अपरिग्रही मुनि महान् सुखी हैं। नीतिकार ने कहा है—

चिन्तातुराणां न सुखं न निद्रा क्षुधातुराणां न वपुर्नतेजः।
अर्थातुराणां न सुहृन्न बन्धुः कामातुराणां न भयं न लज्जा॥

अर्थात्—चिन्तायुक्त स्त्री पुरुषों को न तो नींद आती है और न किसी तरह का सुख होता है, चिन्ता के कारण उन्हे अशान्ति बनी रहती है। भूखे मनुष्य के न शरीर में बल रहता है, न तेज। स्वार्थी मनुष्य का न कोई मित्र होता है, न भाई आदि कोई सम्बन्धी होता है और कामातुर मनुष्य को न किसी तरह की लज्जा रहती है, न भय। इस तरह चिन्ता महान् दुःख का मूल है।

चिता चिन्ता समाख्याता बिन्दुमात्र विशेषता।
चिता दहति निर्जीवं, चिन्ता दहति सजीवकम्॥

यानी—मृतक मनुष्य को जलाने की 'चिता' और 'चिन्ता' ये दोनों शब्द प्रायः बराबर हैं केवल एक बिन्दी का ही दोनों में अन्तर है। परन्तु इनके अर्थ मे महान् अन्तर है क्योंकि चिता तो निर्जीव मनुष्य को जलाती है किन्तु चिन्ता जीवित मनुष्य को जला देती है।

जब तक लड़के पढ़ते रहते हैं तब तक विद्यार्थी अवस्था में निश्चिन्त सुखी रहते है, उनके माता-पिता स्वयं कष्ट सहन करके भी उनकी पढ़ाई की व्यवस्था बनाये रखते है, उन विद्यार्थियों को धन उपार्जन आदि की चिन्ता नहीं रहती। किन्तु वही विद्यार्थी अपने आये हुए नव यौवन की उमंगो में अपनी जीवन सहचरी पाने को लालायित होकर अपने विवाह की तैयारी में योग देता है तभी से उसके ऊपर चिन्ता का भूत सवार हो जाता है, जब उसका विवाह हो जाता है तब कुछ दिन तो कामवासना मे रात दिन डूबा रहता है, तदनन्तर उसे गृहस्थाश्रम चलाने के लिये रुपये पैसे तथा विविध पदार्थों के संग्रह की चिन्ता सवार हो जाती है, यदि कहीं सौभाग्य या दुर्भाग्य से कोई सन्तान हो गई तो उसका जीवन और भी विपत्ति में फंस जाता है। उस समय की दशा को एक अनुभवी व्यक्ति ने विवाहित मनुष्य की दशा यों बताई है—

'भूल गये राग रंग भूल गये जकड़ी, तीन चीजें याद रहीं नोन तेल लकड़ी'।

यानी—विवाह हो जाने पर मनुष्य सब कुछ खेलना, कूदना, मनोरंजन करना भूल जाता है। उस समय उसको घर के लिये नमक, तेल, लकड़ी एकत्र करने की ही याद बनी रहती है।

एक युवक ने बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने गुरु को यह शुभ समाचार सुनाया कि 'गुरु जी! मेरी मॅगनी हो गई है।' अनुभवी गुरु ने उसे उत्तर दिया कि 'मूर्ख! तेरी मगनी नहीं हुई, तेरी टॅगनी हुई है' तेरे टगने (फसने) का फंदा तेरे गले में आ पड़ा है।

कुछ दिन पीछे उसी युवक ने मुस्कराते हुए अपने गुरु को कह सुनाया कि 'गुरूजी! मेरी शादी हो गई है!' गुरू ने इसके उत्तर मे कहा कि 'मूर्ख! तू प्रसन्न होता है, तेरी शादी नहीं हुई बल्कि तेरे जीवन की बर्बादी शुरू हो गई है।

इस तरह अशान्ति और दुःख का कारण एक तो गृहस्थाश्रम के लिये विविध परिग्रह का सञ्चय करना है। दूसरा अशान्ति का कारण 'अविवेक से जल्दबाजी में काम करना' है। मनुष्य विवेक से खूब सोच विचार करके जो कार्य करता है वह कार्य ठीक होता है, उसमें दुःख नहीं मिलता, न चिन्ता का अवसर आता है। राजा भोज के समय में एक कवि ने एक श्लोक बनाया—

सहसा विदधीत न क्रिया, मविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुतेहि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥

यानी—जल्दबाजी में कोई कार्य नहीं कर डालना चाहिये। अविवेक (कर्तव्य अकर्तव्य का ज्ञान न होना) अनेक बड़ी विपत्तियों का घर है। सोच विचार करके कार्य करने वाले मनुष्य को अनेक सम्पत्तियां स्वयमेव प्राप्त हो जाती हैं।

उस कवि को अपने इस श्लोक पर अच्छा विश्वास और अभिमान था। उसको एक बार रुपयों की आवश्यकता हुई। तब वह एक धनिक सेठ के पास गया। उसने सेठ से कहा कि मुझको एक हजार रुपये की आवश्यकता है आप मुझको मेरा एक श्लोक बन्धक (गिरवी) रख कर मुझे रुपया दे देवें। जब मेरे पास रुपये आ जावेंगे तब मैं अपना श्लोक आपको रुपये देकर वापिस ले जाऊंगा। सेठ ने श्लोक को अच्छी नीति का समझ कर गिरवी रखकर उस कवि को एक हजार रुपया दे दिया। सेठ ने वह श्लोक अपने शयनकक्ष (सोने वाले कमरे) में मोटे सुन्दर अक्षरों में लिखवा दिया।

कुछ दिन पीछे सेठ के घर एक पुत्र का जन्म हुआ, बहुत हर्ष मनाया गया और उसका लालन-पालन बड़े प्रेम से करने लगा। जब उसका पुत्र ५ वर्ष का हो गया तब सेठ अपने घर का समस्त प्रबन्ध करके परदेश को व्यापार करने चला गया। व्यापार करते करते सेठ को ११-१२ वर्ष विदेश मे हो गये। तब वह बहुत सा धन कमा कर अपने घर वापिस लौटा। जब अपने नगर में पहुँचा तब रात्रि हो गई थी। सेठ दबे पैर अपने घर जा पहुंचा।

घर में पहुंच कर उसने देखा कि उसकी पत्नी एक युवक के साथ एक ही चारपाई पर सो रही है। सेठ ने सोचा कि 'दीर्घकाल तक परदेश मे रहने के कारण सेठानी ने किसी युवक से मित्रता करली है, उसी युवक के साथ वह सो रही है। मेरी पत्नी चरित्र-भ्रष्ट हो गई है'। ऐसा सोचकर उसको अपनी पत्नी तथा उसके साथ सोते हुए उस युवक के ऊपर बहुत क्रोध आया और उसने दीवार पर टंगी हुई तलवार से दोनों का सिर काट देने का विचार किया कि उसी समय उसकी दृष्टि उस श्लोक पर जा पड़ी। श्लोक देखते ही वह सचेत हो गया, उसने सोचा 'सहसा विदधीत न क्रिया, मविवेकः परमापदां पदम् ।' यानी—जल्दबाजी में कोई कार्य न करना चाहिए, अविवेक अनेक विपत्तियों का घर है।' वह तलवार खींचने से रुक गया।

उसने ठीक बात जानने के लिए अपनी सेठानी को जगाया। सेठानी तुरन्त उठ बैठी, उसने देखा कि उसका पति आ गया है, प्रसन्नता से फूली न समाई। तत्काल उसने अपने साथ में सोते हुए उस युवक को जगाया कि 'पुत्र ! उठ, देख तेरे पिता जी आगए है, इनके चरण छू। तू जब पांच वर्ष का था तब ये परदेश मे व्यापार करने गये थे, आज ११-१२ वर्ष पीछे लौट कर आये है।

सेठ को यह जानकर, कि सेठानी के साथ सोने वाला नवयुवक उसी का अपना पुत्र है, सेठानी दुश्चरित्र की आशंका से दूर हो गई। वह उस नीति के श्लोक पर बहुत प्रसन्न हुआ कि इस श्लोक ने मेरे वश का नाश होने से बचा लिया। इस हर्ष के उपलक्ष्य में उस सेठ ने उस कवि को बुलाकर एक हजार रुपया और पारितोषक दिया।

सारांश यह है कि अविवेक और जल्दबाजी दुःख और अशान्ति का कारण बन जाते हैं। एक नीतिकार ने कहा है—'सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं सुदीर्घ कालेपि न याति विक्रियाम्।'

यानी—'अच्छी तरह चिन्तवन करके जो कुछ करा जावे और खूब विचार कर जो कार्य किया जावे उस वचन और कार्य में दीर्घकाल तक भी कुछ बिगाड़ उत्पन्न नहीं होता।' इस कारण प्रत्येक कार्य को सोच समझ कर करना चाहिये।

अशान्ति का एक प्रमुख कारण क्रोध कषाय है। मनुष्य क्रोध में अन्धा होकर अपनी विवेक बुद्धि खो बैठता है, उसका चित्त ठिकाने नहीं रहता, उसका मन बेकाबू हो जाता है, अतः मुख से गाली गलौज आदि अपशब्द बकने लगता है, और जिस पर उसे क्रोध आता है उसे मार पीट डालता है, अपना घात कर लेता है, आग लगा देता है, मार काट कर डालता है, इस तरह महा अशान्ति और क्लेश पैदा कर देता है।

एक काले सर्प के फण पर एक मक्खी आ बैठी, उसने फण हिलाया, मक्खी उड़ गई, फिर वहां आ, बैठी साप ने फिर फण हिला कर उड़ा दिया किन्तु मक्खी बार बार उसके फण पर आकर बैठने लगी, सर्पको मक्खी पर बहुत क्रोध आया। उसने मक्खी को मार डालना चाहा। सामने सड़क पर एक बैलगाड़ी जा रही थी। सर्प ने यह विचारा कि मैं गाड़ी के पहिये के नीचे अपना फण रख दूं, जब गाड़ी का पहिया मक्खी पर आवेगा मैं अपना फण झट खींच लूंगा। मक्खी पहिये के नीचे पिचल कर मर जायगी। यह सोच कर सर्प ने अपना फण गाड़ी के पहिये के नीचे रखदिया, तब मक्खी तो उड़ गई किन्तु सांप पिचल कर मर गया।

रीछ को जब क्रोध आता है उसके आस पास कोई न हो तो वह अपने आपको ही चबा डालता है। क्रोध की अशान्ति दूर करने का एक उपाय मौन धारण करना है। क्रोधी मनुष्य के सामने वाला व्यक्ति यदि चुप रह जावे तो क्लेश कलह बढ़ने नहीं पाता, स्वयं शान्त हो जाता है।

एक स्त्री का पति बहुत क्रोधी था, वह प्रतिदिन अपनी पत्नी को डंडे से मार लगाता था, हजारों गालियां देकर उसका मन क्षुब्ध कर देता था। अपने पति के इस व्यवहार से वह अत्यन्त दुखी थी। जब वह बहुत दुखी हुई तो एक दिन एक वृद्ध स्त्री के पास गई और उसको अपना सारा दुःख कह सुनाया। वह वृद्धा स्त्री अच्छी अनुभवी थी, घर कलह के कारणों को खूब जानती थी।

उसने एक बोतल में पानी भर कर थोड़ा सा नमक डाल दिया तथा कुछ मन्त्र पढ़ने का बहाना किया। वह बोतल उसको दे दी और कहा कि जब तेरा पति आकर तुझे गालियां देनी शुरू करे उस समय तू इस बोतल मे से कुछ पानी निकाल अपने मुख में रख लिया कर, जब तक वह गालियां देता रहे तब

तक उस पानी को मुख में ही रखे रहना। जब वह चुप हो जावे तब तू उस पानी को पी जाना। वह स्त्री प्रसन्न होकर उस बोतल के पानी को औषधि समझ कर घर ले गई।

उसका पति जब घर आया और घर आते ही उसने गालियां देना प्रारम्भ किया तभी उस स्त्री ने बोतल में से थोड़ा पानी निकाल कर अपने मुख में भर लिया, मुख मे पानी भरा होने के कारण वह अपने पति की गालियों का कुछ भी उत्तर न दे पाई, इस कारण उसका पति थोड़ी देर गाली गलौज देकर अपने आप चुप हो गया। डंडा तो उसने हाथ में उठाया ही नहीं। मार न लगने से और थोड़ी गालियां मिलने से वह स्त्री बुढ़िया की औषधि पर बड़ी प्रसन्न हुई। वह दिन उसका शान्ति से व्यतीत हुआ।

दूसरे दिन जब उसके पति ने घर आते ही गाली देना शुरू की उसी समय उसकी स्त्री ने पहले दिन की तरह उस बोतल का पानी मुँह में भर लिया, पत्नी की ओर से कुछ भी उत्तेजना न पाने के कारण वह जल्दी चुप हो गया, मार पीट तो कुछ हुई ही नहीं। ऐसा प्रतिदिन होने लगा इससे उस मनुष्य का क्रोध क्रमशः कम होता गया, उधर बोतल की दवा भी समाप्त हो गई। जब वह फिर बुढ़िया से दवा लेने गई तब बुढ़िया ने दवा का रहस्य बतलाया कि दवा अपने पति के क्रोध के समय मौन धारण करना ही है।

स्त्री ने उस दिन से ऐसा ही किया। स्त्री के मौन रखने से उसके पति का क्रोधी स्वभाव भी बदल गया और उस घर में क्लेश अशान्ति मिट गई, शान्ति स्थापित हो गई।

इस तरह कषाय और अज्ञान ही अशान्ति का कारण है, शान्ति के लिये इन दोनों को कम करते जाना चाहिये।

प्रवचन नं० ७३

स्थान—	तिथि—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।	प्रथम भाद्रपद शुक्ला १ वृहस्पतिवार, १७ अगस्त १६५५

सन्तान शिक्षण

यह संसार अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चला जायगा। ये जगत्-वर्ती समस्त जड़ चेतन पदार्थ भी अनादि काल से चले आ रहे हैं और वे सभी अनन्त काल तक बने रहेंगे, न तो उनमें परमाणु मात्र कम होगा और न उनमें परमाणु मात्र कोई पदार्थ नवीन ही उत्पन्न होगा जितने हैं उतने ही रहेंगे। फिर भी प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वभाव के अनुसार प्रति समय परिणमन करता रहेगा, सदा एक ही दशा में न रहेगा। जो दशा पदार्थ की एक क्षण पहले होती है, वह दूसरे क्षण मे नहीं रहने पाती और जो दशा दूसरे क्षण में होती है वह तीसरे क्षण में नहीं रहती। यानी—पर्याय प्रतिक्षण नवीन नवीन होती जाती है। यह प्रतिक्षण का परिणमन कोई अन्य व्यक्ति करने नहीं आता, काल द्रव्य की सहायता से प्रत्येक पदार्थ स्वयं उस तरह परिणमन करता है।

इस तरह प्रत्येक पदार्थ अविनाशी शाश्वत होता हुआ भी उसकी दशा सदा प्रतिक्षण परिणमन शील है। इस तरह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य प्रति समय सभी पदार्थों में होता रहता है। यही कारण है कि जीव अविनाशी अजर अमर है वहां वह सदा परिवर्तन शील भी है तदनुसार जगत् में कोई भी जीव ऐसा नहीं जो कि किसी विशेष समय उत्पन्न हुआ हो किन्तु कोई भी ऐसा भी जीव नही जो अनादि काल से अब तक एक-सी ही दशा में चला आया हो। मनुष्यों की तथा विभिन्न थलचर, जलचर, नभचर पशु पक्षियों की सत्ता जैसे करोड़ों वर्ष पहले थी उसी तरह आज भी है, परन्तु वे सन्तान परम्परा से ही मौजूद हैं, वे के वे ही नहीं हैं। जैसे बीज वृक्ष की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है इसी तरह से पिता पुत्र की परम्परा भी अनादि काल से चली आ रही है।

पिता के संस्कार, गुण, अवगुण अपनी सन्तान में आया करते है, तदनुसार से भगवान् ऋषभनाथ की धर्म-परम्परा अभी तक चली आ रही है। पुत्र अपने पिता की प्रायः छाया अनुरूप होता है, अतः पिता जिस धर्म का अनुयायी होता है प्रायः पुत्र भी उसी धर्म का आचरण करता है। इस तरह सन्तान अपने पिता की विरासत को सुरक्षित रखकर आगे चलाती रहती है।

जिस तरह अच्छा वृक्ष उत्पन्न करने के लिये अच्छे बीज और अच्छी भूमि की आवश्यकता होती है उसी तरह अच्छा तेजस्वी, गुणी, बुद्धिमान् पुत्र उत्पन्न करने के लिये अच्छे बीज तथा अच्छी भूमि की आवश्यकता है। वीर्य बीज रूप है और माता का गर्भाशय भूमि के अनुरूप है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण आदि महान् पराक्रमी पुत्रो को उत्पन्न करने वाले माता पिता भी असाधारण व्यक्ति होते थे।

श्री मानतुङ्ग आचार्य ने भक्तामर स्तोत्र में कहा है—

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम्॥

यानी—हे भगवन्! पुत्रों को तो सैकड़ों स्त्रियाँ जन्म देती हैं किन्तु आप सरीखे पुत्र को आप की माता के सिवाय अन्य किसी माता ने जन्म नहीं दिया। सो ठीक है सूर्य को धारण तो सभी दिशाएं करती है परन्तु सूर्य का उदय तो पूर्व दिशा से ही हुआ करता है अन्य किसी से नही होता।

इसलिये तेजस्वी गुणी पुत्र उत्पन्न करने के लिये माता पिता को विशेष सावधानी रखनी चाहिये। गर्भाधान के समय पति और पत्नी की ऐसी शुभ भावना होनी चाहिये कि हमारे अच्छा तेजस्वी, गुणवान विद्वान्, धर्मात्मा, कुल दीपक पुत्रहो, जो कि अपने गुणों तथा शुभ कार्यों से ससार से अपना तथा हमारे कुलका यश फैलावे। ऐसी शुभ कामना हृदय में रख कर गर्भाधान संस्कार किया जावे। इस विषय को आदिपुराण से और भी अधिक जान लेना चाहिये।

गर्भाधान हो जाने पर पति पत्नी को सन्तान प्रसव होने तक पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ रहना चाहिये।

इस ब्रह्मचर्य पालन से गर्भस्थ सन्तान पर सदाचार के संस्कार स्थापित होते हैं। दुराचारी सन्तान उत्पन्न होने मे अन्य कारणों के सिवाय एक विशेष कारण यह भी है कि उन सन्तानों के माता पिताओं ने गर्भाधान के बाद ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया। इसके सिवाय उस समय की काम क्रीड़ा गर्भस्थ शिशु के शरीर पर तथा स्त्री के शरीर पर भी बुरा प्रभाव डालती है।

ब्रह्मचर्य धारण करने के सिवाय पति पत्नी को परस्पर बहुत शान्ति, उत्साह, हर्षके साथ गर्भाधान के दिनोंमे रहना चाहिए। पत्नी को सन्तुष्ट रखना, उसकी इच्छाओंकी पूर्ति करना, उसको कोई चिन्ता, शोक, भय, खेद, क्लेश, कलह पैदा न होने की व्यवस्था कर देना पति का कर्तव्य है। अपनी गर्भिणी भार्या को सुन्दर गुणी, यशस्वी पुरुषोंके चित्र दिखाना, उसको पराक्रमी गुणी विद्वान् पुरुषों के चरित्र सुनाना, उसका चित्त हर्षित रखना बहुत आवश्यक है। गर्भिणी पत्नी का कर्तव्य है कि वह यथा संभव निरालस्य रहकर हलके परिश्रम के कार्य करती रहे, भारी परिश्रम के कार्य न करे। भागना दौड़ना, जल्दी सीढ़ियोंपर उतरना चढ़ना बन्द रक्खे तथा प्रतिदिन भगवान् के दर्शन करे, शास्त्रों का स्वाध्याय करती रहे, अकलंक देव, समन्तभद्र, जिनसेन, वीरसेन, भद्रबाहु, चन्द्रगुप्त आदि के जीवन चरित्र पढ़े। तीर्थंकरों, भरत, बाहुबली, सुकुमाल, जम्बूकुमार, प्रद्युम्न, बलभद्र, नारायण, राम, लक्ष्मण, कृष्ण, पवनंजय, हनुमान, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, अभिमन्यु आदि महान् पराक्रमी, गुणी, बुद्धिमान, लोकोत्तर व्यक्तियों की जीवन घटनाओं को बड़ी रुचि और उत्साह से पढ़ती रहे, उनके चित्र बड़े ध्यान से देखती रहे।

ऐसे कार्यों का प्रभाव गर्भस्थ सन्तान पर बहुत अच्छा पड़ता है, माता के विचारों और भावना के संस्कार गर्भस्थ सन्तान के ऊपर अंकित हो जाते हैं। महाभारत मे अभिमन्यु के विषयमें कथा आई है कि अभिमन्यु जब सुभद्रा के गर्भ में था तो एक दिन उसे कुछ पीड़ा हुई तो अर्जुन ने उसका चित्त उस ओर से हटाने के लिये सुभद्रा को चित्र खींचकर चक्रव्यूह (गोल आकार में सेना को खड़ी करना) तोड़ने की विधि बतलाई, सुभद्रा ने उसे बहुत ध्यान से सुना और वह चित्र भी देखा। अर्जुन जब उसको चक्रव्यूह तोड़कर घुस जाने की विधि समझा चुका तो सुभद्रा को नींद आगई, अतः चक्रव्यूहसे बाहर निकलने की विधि जो अर्जुन ने समझाई उसे वह न सुन पाई। इसका प्रभाव यह हुआ कि गर्भस्थ बालक अभिमन्यु के हृदय पर सुभद्रा की समझ के अनुसार चक्रव्यूह तोड़ने के संस्कार जम गये, चक्रव्यूह से बाहर निकलने की वार्ता उसे न मालूम हो पाई। तदनुसार कौरवों के जिस चक्रव्यूह को महा बलवान भीम भी न तोड़ पाया उस चक्रव्यूह को अभिमन्यु ने बिना सीखे अपने नवयौवन में तोड़कर गर्भाधान के समय के संस्कार का परिचय दिया।

सारांश यह है गर्भाधान के बाद सन्तान उत्पन्न होने तक पत्नी के जैसे अच्छे बुरे विचार होंगे वैसे ही संस्कार सन्तान पर आवेंगे। इसके सिवाय गर्भिणी स्त्री को अपना रहन सहन, खान पान, बोलना चालना आदि भी ठीक रखना चाहिए। भोजन शुद्ध हलका सात्विक उन दिनों में होना चाहिये, आंखों में सुर्मा आदि न लगाना चाहिये, जिससे शिशु के नेत्र ठीक रहे, उबटन न करना चाहिये, घर साफ सुथरे रहने चाहियें और हृदय में कोई बुरी भावना न आने देना चाहिये। इस तरह गर्भाधान के दिनों में स्त्री को अपने गर्भस्थ शिशु की आत्मा पर अच्छे संस्कार उत्पन्न करने के लिये सावधानी से अपना आचार विचार अच्छा शुभ रखना चाहिये।

बालक उत्पन्न हो जाने पर उसका ठीक ढंग से लालन पोषण करना चाहिये। दूध पिलाते समय

माता का चित्त प्रसन्न होना चाहिए, क्रोध, क्षोभ, भय, घृणा आदि के समय बच्चे को दूध कभी न पिलाना चाहिये। उसको लोरियां देते समय अच्छे उपदेशी, उच्च भावना के सूचक सुन्दर गीत गाने चाहिये और अच्छी उच्च शुभ भावना से प्रेम का हाथ बच्चे पर फेरते रहना चाहिये। जहां तक हो सके बच्चे को ठीक समय पर दूध पिलाना चाहिये दूध उतना ही पिलाया जावे जितनी उसे भूख हो जब उसे पीनेकी अनिच्छा हो तो जबरदस्ती और दूध न पिलाना चाहिये। न उसे सुलानेके लिये कभी अफीम का अंश देना चाहिये। ऐसी व्यवस्था रखनी चाहिये कि बच्चा रोने न पावे। रोने की आदत डलवाना ठीक नहीं। एक वर्ष तक बच्चे के स्वास्थ्य की सबसे अधिक सावधानी रखने की आवश्यकता है। तदनन्तर ज्यों-ज्यों बड़ा होता जावे उसके अनुसार उसके आहार पान की व्यवस्था करते रहना चाहिये।

इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि बच्चे के सामने कभी काम सेवन न किया जावे। बच्चों को अबोध समझकर उनके सामने मैथुन क्रिया करना बहुत भारी गलती है, बच्चे इतने अबोध नहीं होते जितना कि उन्हे समझा जाता है। बच्चों में भी ज्ञान शक्ति है, वे शिशु अवस्था में बोल नहीं सकते, किन्तु थोड़ा बहुत समझते सब कुछ हैं। उनके सामने की हुई काम क्रीड़ा से उनके चरित्र पर दुराचार का प्रभाव तथा संस्कार पड़ता है जो कि उनके बड़े हो जाने पर उनमे प्रकट होता है। अतः यह कार्य उनके सामने कभी न करना चाहिये।

बच्चा ज्यों ही बोलने लगे उसको अच्छी बातें करना सिखाना चाहिये। बच्चो के सामने गाली गलौज देना या बुरी बातें कहना सुनना बहुत बुरा है, बुरी बातें या गालियां सुनकर बच्चे भी वैसा ही बोलना सीख जाते हैं। मूर्ख माता पिता छोटे बच्चे की तोतली बोली मे गाली गलौज सुनकर बड़े प्रसन्न होते है, वे ये नहीं समझते कि तोतली भाषा की वे ही गालियां बच्चों की जीभ पर पक जाती हैं, जो कि आगे चलकर बुरी आदतों में शामिल हो जाती हैं। इसलिए न तो बच्चों के सामने दुर्वचन बोलने चाहिये न गाली गलौज ही देनी चाहिये।

इसके सिवाय बच्चों के सामने हसी मजाक मे झूठ बोलना भी उचित नहीं क्योंकि बच्चे तो कोरे घड़े के अनुसार शुद्ध हृदय वाले होते हैं। जिस तरह कोरे घड़े को हजारों बार धो डालने पर भी उस घड़े से हींग की गंध नहीं जाती, इसी तरह छोटे बच्चों के हृदय पर यदि झूठ बोलनेका संस्कार पड़ जावे तो वह भी स्थायी हो जाता है, बड़े होने पर भी नहीं छूटता।

एक मारवाड़ी सेठ कलकत्ता से अपने देश जा रहा था, उसके साथ एक तीन वर्ष का बच्चा था, उसके शिर पर एक १०-१२ रुपये की जरी की सुन्दर टोपी थी। सेठ ने मनोरंजन के लिए उस बच्चे के शिर पर से वह टोपी उतार ली और खिड़की के बाहर टोपी फेंक देने का बहाना करके टोपी दूसरे हाथ में छिपाली। बच्चे ने समझा कि सचमुच उसकी सुन्दर टोपी उसके पिताने रेलके डब्बे से बाहर फेंकदी है। ऐसा सोच कर वह टोपी के लिये रोने लगा। तब सेठ ने हसते हुए उस बच्चे से पूछा कि क्या तेरी वही टोपी फिर मंगादूं, बच्चे ने कहा कि हां, तब सेठने दूसरे हाथ से वह टोपी लेकर बच्चेके सिरपर रख दी, बच्चे का मुखमण्डल प्रफुल्लित हो गया। सेठ ने दो तीन बार इसी तरह उस बच्चे की टोपी रेल से बाहर फेंकने और बच्चे के रोने पर उसे फिरसे मगा देने का अभिनय उस बच्चे के सामने किया। इसका परिणाम यह हुआ कि बच्चा इस हंसी मजाक की घटना को सत्य समझ गया।

इतने में सेठ भोजन करने की व्यवस्था में लग गया, उस समय उस बच्चे ने टोपी अपने शिरसे तार कर खिड़की में से बाहर फेंक दी, अपने पुत्र की यह क्रिया देखकर उसे बहुत दुःख हुआ कि व्यर्थ में ०-१२ रुपये का नुकसान हो गया। इस पर वह बच्चा रोने लगा और अपने पिता से कहने लगा कि रीटोपी फिर मंगा दो। चलती हुई गाड़ी की खिड़की से बाहर गिरी हुई टोपीको अब वह सेठ कैसे मंगा ता। उसको अपने पुत्र पर क्रोध भी आया किन्तु उसे अब उलटा अपना बच्चा मनाना पड़ा, अनेक पायों से उसे चुप करना पड़ा। डब्बे के अन्य लोगों ने सेठ को अपने बच्चे के साथ हंसी दिल्लगी करने, झूठ बोलनेकी टीका टिप्पणी करके उसे लज्जित किया।

इस कारण बच्चों के सामने हंसी मजाक में भी झूठी बातें करना ठीक नहीं, उसका उनके हृदय र बुरा प्रभाव पड़ता है।

प्रवचन नं० ७४

स्थान— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि— प्रथम भाद्रपद शुक्ला२ शुक्रवार १८ अगस्त १९५५

बाल्यावस्था के संस्कार

जिस वृक्ष की जड़ अच्छी मजबूत होती हैं, वह वृक्ष ऊंचा जाता है और बहुत दिनो तक रहता । घास की या गेहूं चने आदि धान्यों की जड़ बहुत कम होती है इसी कारण उनके पेड़ भी जल्दी सूख जाते है या झट उखड़ आते है। बड़, पीपल, आम आदि वृक्षोंकी जड़ बहुत नीचे तक जाती हैं तो वे वृक्ष सैकड़ों वर्ष तक खड़े रहते हैं और ऊंचे भी बहुत होते है। मकान को जितना ऊंचा ले जाना हो उसकी नींव उतनी ही गहरी रखनी चाहिये। जिन मकानों की नींव बहुत कम होती है वे अधिक दिन तक नहीं खड़े रह सकते, जल्दी गिर कर पृथ्वी में मिल जाते हैं। सुमेरु पर्वत ९९ हजार योजन ऊंचा है तो उसकी नींव भी तो पृथ्वी के भीतर १००० योजन गहरी जमी हुई है।

यही दशा मनुष्य के शरीर की है। मनुष्य के शरीर की नींव वैसे तो माता के गर्भाशय में पिता के वीर्य द्वारा रक्खी जाती है। माता पिता यदि बलवान होते हैं तो उनकी सन्तान भी अच्छी बलवान होती है और यदि माता पिता निर्बल होते है तो उनकी सन्तान भी निर्बल होती है। बलवान बच्चों का शरीर छोटे मोटे रोगों का शिकार नहीं बनता अतः वे दीर्घायु के होते हैं और निर्बल बच्चों का शरीर प्रायः रोगी बना रहता है, अतः अधिक आयु तक स्वस्थ जीवित नहीं रहते।

गर्भ के सिवाय बच्चों के शरीर की नींव बाल्यावस्था में भी बना करती है, अतः शिशु दशा में बच्चे के स्वास्थ्य का ध्यान अधिक रखना चाहिये। बच्चे के स्वास्थ्य की जितनी प्रशंसा करनी चाहिये उतनी बुद्धिकी नहीं। बहुत से मनुष्य अपने बच्चे को अच्छा बुद्धिमान समझकर पांच वर्षकी आयु में ही उसे पढ़ने लिखने में लगा देते हैं, वे उसके पढ़ने लिखने पर अधिक ध्यान देते हैं, स्वास्थ्यकी ओर ध्यान कम देते है, इसका फल यह होता है कि वह लड़का छोटी आयु में पढ़ लिख तो अच्छा जाता है किन्तु उसका शरीर निर्बल रह जाता है जिससे कि शरीर में घुन लग जाता है। कुछ दिन बाद उसका दिमाग भी बहुत निर्बल हो जाता है।

इस कारण छोटे बच्चों को दूध मेवा आदि पौष्टिक सात्विक भोजन देना चाहिये तथा उनको खूब खिलाना चाहिये, बगीचे में दौड़ाना चाहिये, दौड़ने भागने के खेल खिलाने चाहियें, हलके व्यायाम (कसरत) कराने चाहिये और उन्हें अच्छा प्रसन्न रखना चाहिये। सात वर्ष का बच्चा जब हो जावे तब उसको पाठशाला में पढ़ने के लिए बिठाना चाहिये। पढ़ाते समय भी बच्चे की शारीरिक दशा पर अच्छी निगाह रखनी चाहिये जिससे बच्चा निर्बल न होने पावे। जीवन के लिए बलवान शरीर की सबसे अधिक आवश्यकता है। आज का बच्चा कल का पिता बनने वाला है। पिता बनने के लिए स्वास्थ्य की सबसे अधिक आवश्यकता है। अतः शिक्षा की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है परन्तु साथ ही स्वास्थ्य की ओर असावधान (लापर्वाह) न होना चाहिये। इसके लिये पढ़ने वाले बच्चे को अच्छे पौष्टिक भोजन मिलने चाहिये तथा बल बढ़ाने वाले व्यायाम भी उसे कराते रहना चाहिये।

पढ़ाते समय लिखना पढ़ना आदि अक्षर विद्या तथा योग, शेष, गुणा, भाग आदि अंक विद्या, भूगोल, इतिहास, व्याकरण आदि लौकिक विद्यायें तथा हिन्दी, संस्कृत आदि भाषायें तो पढ़ानी ही चाहिये परन्तु इसके साथही उनको आध्यात्मिक, धार्मिक विद्या का भी परिज्ञान बचपन से ही कराते जाना चाहिये। आध्यात्मिक ज्ञान बच्चों को सरल वैज्ञानिक ढंग से कराना चाहिये, जिससे उनके हृदय पर आत्मा का स्वरूप सरलता से अंकित हो जावे। उन्हें समझाना चाहिये कि पदार्थों को नेत्र नहीं देखते, नेत्रों द्वारा आत्मा देखता है। फूलों की सुगन्धि नाक नहीं जानती किन्तु नाक द्वारा आत्मा जानता है, शरीर एक भौतिक घर है, जिसमें आत्मा कुछ दिनों के लिये ठहर जाता है, आत्मा अजर अमर है, जन्म मरण शरीर का हुआ करता है, आत्मा अपनी भूल से शरीर से मोह करके संसार में भ्रमण करता है, यदि शरीर से मोह छोड़ कर आत्म चिन्तन करे तो संसार से मुक्त हो सकता है। आदि।

साथ ही उनको भरत, बाहुबली, राम, लक्ष्मण, सुकुमाल, अकलंक, समन्तभद्र आदि की कथायें सुनाना चाहिये, अपने साथ प्रतिदिन मंदिर में दर्शन करने के लिए लेजाना चाहिये। भगवान् के सुन्दर सुरीले स्तोत्र बच्चों को याद कराने चाहिये। णमोकार मन्त्र का महत्व उनके चित्त पर अंकित कर देना चाहिये, पूजन पढ़ने करनेकी ओर उनमें रुचि पैदा करनी चाहिये। इसके साथ मद्यपान, मांस भक्षण, अंडा खाना, सिगरेट पीना आदि अभक्ष्य अपेय पदार्थों के खान-पान से उन्हें युक्ति पूर्वक प्रेम से घृणा करा देनी चाहिये।

इसी तरह वीर्य-रक्षा का महत्व उन्हें बहुत सरलता से समझाकर उनके कोमल निर्मल हृदय में ब्रह्मचर्य का अंकुर उगा देना चाहिये। प्रसिद्ध पुरुषों के जीवन चरित्र बच्चोंको सुनाते रहना चाहिये जिस-से उनके हृदय में धर्माचरण, समाज सेवा, परोपकार, देश सेवा आदि की भावना स्वयं जाग्रत होजावे।

इतना कर देने पर बच्चों को सदाचार पर चलाना सरल हो जाता है, वह फिर किसी कुसंगति में नहीं पड़ने पाता। दुराचार से स्वयं बचा रहता है। उसके भावी प्रगतिशील जीवन की अडिग नींव जम जातीहै।

श्री अकलंक और निष्कलंक दोनों भाई जब छोटी अवस्था में बच्चे थे उस समय उनके माता पिता ने एक मुनि से अष्टाह्निका के आठ दिनों के लिये ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण किया था, अकलंक निष्कलंक भी उस समय उनके साथ थे, मनोविनोद के रूप मे माता पिता ने अकलंक निष्कलंक को भी ब्रह्मचर्यव्रत लेने

के लिये कहा, भोले भाले शिशु अकलंक निष्कलंक ने भी ब्रह्मचर्यव्रत लेलिया। माता पिता ने कौतूहल से ये कार्य किया किन्तु अकलंक निष्कलंक के हृदय पर ब्रह्मचर्य का पक्का रंग चढ़गया और उन्होंने यथार्थ में जन्म भरके लिये ब्रह्मचर्य ले लिया। जब वे पढ़ लिख कर युवा होगये, तब उनके माता पिता उनके विवाह करने की योजना करने लगे। इस पर अकलंक निष्कलंक ने स्पष्ट कह दिया कि आपने ही तो हमको ब्रह्मचर्य ग्रहण कराया था और आप ही उसे तुड़ाने का यत्न करते हैं। हमने तो यथार्थ में जन्म भर के लिये ब्रह्मचर्य व्रत लिया है। यह कह कर उन दोनों ने अपना विवाह नहीं किया।

तदनन्तर जैन संस्कृति के संरक्षण तथा जैनधर्म की प्रभावना के लिये जो अनुपम महान्-त्याग किया वह तो इतिहास के पृष्ठोंपर सुवर्णाक्षरों में लिखा हुआ है।

श्री वीरसेनाचार्य भोजन करने गये थे तब उन्होंने एक पांच वर्षके बालक को विचक्षण बुद्धिशाली देखा। उस बालक को पढ़ाने के लिये वे उस बालकके माता पितासे अपने साथ ले आए। वीरसेनाचार्य ने उस बच्चे को पढ़ाना प्रारम्भ किया। जब वह बुद्धिमान बालक ८ वर्ष का हो गया तब उसका नाम जिनसेन रखकर मुनि दिक्षा दे दी, इसी कारण जिनसेन आचार्य को आगर्भ दिगम्बर भी कहा गया है। मुनि बनाकर जिनसेन को महान् विद्वान् बनाया। जिनसेनाचार्य ने अपने गुरु द्वारा निर्मित जयधवला टीकाका अवशिष्ट भाग ४० हजार श्लोक प्रमाण लिखकर पूर्ण किया, तथा आदिपुराण-जैसे महान् ग्रन्थ का मौलिक निर्माण किया।

राम लक्ष्मण के समय में एक राजा के दो पुत्र थे, कुलभूषण, देशभूषण उनका नाम था। बचपनसे ही उनको पढ़ने के लिये मुनियों के पास उस राजा ने भेज दिया था। वे अपनी युवावस्था तक वन मे रह कर मुनियों के पास पढ़ते रहे। जब अच्छे शिक्षित हो गये तब अपने घर आये। माता पिता ने बड़े प्रेमसे उन्हें अपने गले लगाया। उनके विवाह के लिये माता पिता ने विचार किया। आस पास की अनेक राजकुमारियां उस नगर में लाई गईं, जिनमें से पसन्द करके देशभूषण, कुलभूषणको अपने लिये चुनना था।

शाम के समय वे दोनों भाई वायुसेवन के लिये (सैर करने) जा रहे थे कि उन्होंने एक सुन्दरी राजकुमारी को एक खिड़की में बैठे देखा। उन्होंने समझा कि हमारे विवाह के लिये आई हुई राजकुमारियों में से यह भी एक है। उसकी सुन्दरता पर दोनों भाई मोहित हो गये और दोनों ने अपने २ मन में उसके साथ विवाह करने का विचार किया। तब उन्होंने अपने साथ के नौकर से पूछा कि यह राजकुमारी कौन है ? उस नौकर ने उत्तर दिया कि यह तुम्हारी बहन है। जब तुम दोनों पढ़ने गए थे तब इसका जन्म हुआ था।

यह सुनकर दोनों भाई मनही मन बहुत लज्जित हुए और उन्होंने अपने आपको तथा कामवासना को बहुत धिक्कारा तथा संसार से विरक्त होकर मुनि बन गये, घोर तपश्चरण करके मुक्त हो गये।

इसी तरह अन्य अनेक महान् पुरुषों का इतिहास इस बात की साक्षी देता है कि बाल्यावस्था के शुभ संस्कारों ने उनके जीवन में अतिशय महत्व पैदा कर दिया, वे युवावस्था में उन बचपन के संस्कारो के कारण जगत् में ऐसे महान् कार्य कर गए जिनके द्वारा संसार का महान् उपकार हुआ, और उनका यश आजतक मौजूद है। आज भी जो बुद्धिमान् पुरुष अपने बच्चोंको अच्छे सस्कारों मे ढाल देते हैं वे बच्चे

भी जब समर्थ युवक हो जाते हैं तव अपने शुभकार्यों द्वारा संसार का कल्याण कर जाते हैं, अपने आपको अमर यशस्वी बना जाते हैं। चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी ने इस कलिकाल में भी दिगम्बर मुनि मार्ग को निर्वाध बनाया, अनेकों व्रती तपस्वी बनाये, जैन संस्कृति का संरक्षण किया, वह सब उनकी बाल्यावस्था के शुभ संस्कारों का ही शुभ परिणाम है।

जिस तरह पेड़ जब प्रारम्भ में छोटे पौदे के रूप में होता है उस समय उसकी डाली को जिधर झुकाना चाहो उधर झुका सकते हो, किन्तु जब वह पौदा बड़े वृक्ष के रूप में हो जाता है तब हजारों प्रयत्न करने पर भी नहीं झुकाया जा सकता, इसी तरह बचपन में बच्चों को जैसी आदतों में डालना चाहें वैसी आदतों में डाला जा सकता है, बड़े हो जाने पर उनकी वे आदतें पक जाती हैं, उन्हें फिर सुधारना या बदलना कठिन हो जाता है।

इस कारण बच्चेको अच्छी आदतोंका अभ्यास कराना चाहिये। उसका मन शुद्ध रहे, गंदे विचार, बुरी भावना, अशुभ चिन्तन मनमें न लानेकी शिक्षा बच्चों को मिलनी चाहिये। वचन द्वारा गन्दी बातें, गालियां, अपशब्द, परनिन्दा, अन्य का उपहास, असत्य भाषण न करने तथा हित मित प्रिय बोलने की आदत बच्चों को डलवानी चाहिये। शरीर द्वारा बुरे कार्य (हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि) न करने तथा स्व-पर उपकार के अच्छे कार्य करने की शिक्षा देनी चाहिये।

इसके साथ ही उनकी बुद्धि जिस विषय में अधिक दौड़ती हो उनको उसी विषय की मुख्य रूप से शिक्षा देने का प्रबन्ध करना चाहिये, उस विषय में पूर्ण दक्ष बनाना माता पिता का कर्तव्य है। जो माता अपने पुत्र पुत्रियों को शिक्षा नहीं देते वे माता-पिता कहलाने के अधिकारी नहीं। नीतिकार ने कहा है—

माता शत्रुः पिता वैरी, येन बालो न पाठितः।
न शोभंते सभामध्ये, हंसमध्ये बको यथा॥

यानी—वह माता तथा पिता अपनी सन्तान का बैरी है जिसने अपने बच्चे को पढ़ाया नहीं, उसका अशिक्षित पुत्र सभा में ऐसा भद्दा दिखाई देता है जैसे हंसों में बगुला।

रूपयौवन सम्पन्ना विशाल कुल सम्भवाः।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः॥

यानी—अच्छा सुन्दर, सुडौल, अच्छा कुलीन व्यक्ति भी यदि शिक्षित नहीं है, पढ़ा लिखा नहीं है, सुगन्धि से शून्य टेसू के फूल की तरह उसकी शोभा नहीं होती।

बौद्धिक शिक्षा के सिवाय बच्चों को अच्छी वाचनिक तथा शारीरिक शिक्षा भी अवश्य देनी चाहिये। गाना, व्याख्यान देना वाचनिक शिक्षा के अन्तर्गत है। जो व्यक्ति बचपन में व्याख्यान देने का अभ्यास नहीं करते वे बड़े भारी विद्वान् हो जाने पर भी युवावस्था में किसी सभा में १०-५ मिनट भी नहीं बोल सकते, अतः बच्चो को व्याख्यान देने का तथा विविध विषयों पर लेख लिखने का अभ्यास भी अवश्य कराना चाहिये।

अनेक तरह के व्यायाम, योगासन आदि सिखाना शारीरिक शिक्षा है। स्वास्थ्य तथा बल बढ़ाने के लिये व्यायाम, प्राणायाम, योगासन भी एक सफल साधन है। अतः प्रत्येक बच्चे को यथासम्भव इन बातों की भी शिक्षा देनी चाहिये। पानी में तैरना भी एक जीवन उपयोगी कला है। अनेक अवसरों पर मनुष्य तैर कर आत्मरक्षा कर लेता है, अतः तैरना भी बच्चों को सिखला देना चाहिये।

सारांश यह है कि बचपन में जो भी, शिक्षा दी जायगी भविष्य जीवन में वही फल लावेगी।

प्रवचन नं० ७५

स्थान—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि—
प्रथम भाद्रपद शुक्ला ३, शनिवार १६ अगस्त १६५५

कृतज्ञता की आवश्यकता

प्रत्येक प्राणी वह चाहे कीट हो या हाथी, गर्भज हो या सम्मूर्च्छन,एकन्द्रिय हो या पंचेन्द्रिय, जब तक संसार में है अपनी जीवन-यात्रा के लिये उसे अन्य असंख्य प्राणियों का विभिन्न रूपसे सहयोग लेना पड़ता है, बिना ऐसा किये वह जीवित नहीं रह सकता। चींटी को अपनी उत्पत्ति के लिये विभिन्न पुद्गल स्कन्धों की सहायता लेनी पड़ती है फिर वह जब तक जीवित रहती है तब तक किसी का अन्नकण लेती रहती है, किसी का रक्त चूसा करती है, किसी के स्थान में अपना बिल बनाती है, कोई दयालु पुरुष उसे स्वयं मिष्टान्न खिलाते हैं। गर्भज पशुओं को मादा के गर्भ से बाहर आते ही सबसे प्रथम अपनी मादा का संरक्षण चाहिये। कबूतरी के अंडे को कबूतरी ही अपने शरीर की गर्मी से सेये तभी उस अंडे में विद्यमान जीव का शरीर परिपूर्ण हो पाता है, मनुष्य का हाथ उस अंडे से लग जावे तो उस अंडे के जीव की जीवन लीला ही अधूरी रह जाती है। अंडे से बाहर आने पर भी कबूतर का बच्चा जब तक स्वयं उड़ने का बल प्राप्त नहीं कर लेता तब तक उसको अपने घोंसले में ही भोजन मिलना चाहिये जो कि कबूतरी को स्वयं जुटाना पड़ता है। उड़ने की सामर्थ्य आ जाने पर उसको भूख शान्त करने के लिये जिन अन्न के दानों की आवश्यकता होती है उन अन्न के दानों को अनेक धर्मात्मा मनुष्य उनके लिये बिखेर दिया करते हैं।

तो फिर मनुष्य तो एक सामाजिक प्राणी है उसे तो अपनी जीवन-लीला चालू रखने के लिये प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अन्य प्राणियों का सहयोग अनिवार्य रूप से लेना ही पड़ता है। शिशुवय तक यदि उसको माता पिता की सहायता न मिले तो उसका जीवन किसी भी क्षण छिन्न भिन्न हो सकता है। वे बच्चे प्रायः शीघ्र मर जाते हैं जिनकी माताएं जन्म समय ही स्वर्ग सिधार जाती हैं। माता के अभाव में भी वे ही बच्चे बचते हैं जिनका अन्य कोई धर्ममाता पालन-पोषण करना स्वीकार कर लेती है। मनुष्य के जन्म के अनन्तर उसका एक एक क्षण इतना नाजुक तथा अमूल्य होता है कि उसमें माता के सहयोग मे जरा भी गड़बड़ हो जाने से उस मनुष्य के बच्चे की तत्काल मृत्यु हो सकती है।

बच्चा जब दूध पीना छोड़ देता है, अन्न खाना प्रारम्भ करता है, कुछ बड़ा हो जाता है तब माता और पिता दोनों को मिलकर उसके पालन पोषण की व्यवस्था करनी पड़ती है। दरिद्र पिता अनेक तरह

की मिहनत मजदूरी करके चार पैसे प्राप्त करता है तो उनमें सब से पहले अपने पुत्र का पेट भरता है, उस से कुछ बचता है तो स्वयं खा लेता है अन्यथा कभी कभी भूखा भी रह जाता है। मिहनत मजदूरी नहीं मिलती तो अपने सन्मान को बेचकर भिक्षा मांग कर भोजन की व्यवस्था करता है, उस भिक्षा से प्राप्त भोजन में भी सबसे पहले अपने पुत्र के मुख में भोजन पहुँचाता है पीछे आप खाता है। आप चाहे फटे चिथड़े शरीर पर पहने रहे परन्तु बच्चे के लिये कपड़े की व्यवस्था अवश्य करता है। जब कभी उसका पुत्र बीमार हो जाता है उस समय उसके माता पिता अपना खाना पीना भी भूल जाते हैं, रात की निद्रा भी उनकी हराम हो जाती है, उस बच्चे को उस रोग से जो पीड़ा होती होगी सो तो होती होगी ही, किन्तु उसके माता पिता को बिना रोग हुए उससे भी अधिक पीड़ा होती है।

बच्चा जब ६-७ वर्ष का हो जाता है तब उसका भावी जीवन सुखमय बनाने के लिये निरक्षर माता पिता भी उस लड़के को पढ़ाने की व्यवस्था कर ही देते हैं। आप चाहे समय पर भोजन न कर पावें किन्तु उस लड़के को तो भोजन करा-कर ठीक समय पर पाठशाला में पढ़ने भेज ही देते हैं। आप चाहे फटे टूटे मैले कुचैले कपड़े पहने रहें, परन्तु अपने बच्चे को तो अच्छे साफ कपड़े पहनाते ही हैं जिस से कि स्कूल में वह अपने साथी विद्यार्थियों से लज्जित न हो सके। अपने बीसों आवश्यक काम अटका कर भी उस बच्चे की पुस्तकों, स्याही, कापी, पेंसिल, सलेट, पट्टी, बस्ते, फीस आदि का जैसे तैसे प्रबन्ध कर ही देते हैं। स्कूल के जो विद्यार्थी बढ़िया फेंसी ड्रेस में दिखाई देते है अधिकतर उन विद्यार्थियों के माता पिताओं को वैसे कपड़े नसीब नहीं होते।

इसके आगे जीवन लीला जैसे जैसे आगे चलती जाती है मनुष्य को उतना ही अधिक अन्य मनुष्यों के सम्पर्क में आना पड़ता है और उनका सहयोग-सहायता प्राप्त करनी पड़ती है। विद्यार्थी को अपने साथी सहपाठी अन्य विद्यार्थियों का अपने अनेक अध्यापकों का कृपापात्र बनना पड़ता है तब कहीं चार अक्षर सीख पाता है।

पढ़ लिख कर आजीविका के लिये विभिन्न व्यक्तियों की विभिन्न तरह की सहायता लेनी पड़ती है, वह उचित सहायता यथा समय प्राप्त न हो पावे तो आजीविका भी नहीं मिलती और ऐसे अनेक व्यक्ति आत्महत्या तक कर लेते हैं। जीवन को सुविधा, सुख शान्तिमय बनाने के लिये वयस्क मनुष्य को सुयोग्य तरुणी भार्या की आवश्यकता होती है, उस समय एक सयानी बालिका अपने माता भाई बहिन से चिरकालीन स्नेह बन्धन तोड़कर अपरिचित घर में उस घर को संभालने के लिये आ पहुँचती है।

इस जीवन के उत्तरोत्तर भागों में मनुष्य को अन्य अधिक स्त्री पुरुषों के सहयोग और सहायता की अपेक्षा होती है। इस तरह मनुष्य को अपने जीवन में पग पग पर अन्य अनेक स्त्री पुरुषों से ही नहीं बल्कि गाय, बैल, घोड़ा, कुत्ता आदि पशुओं का भी उपकृत होना पड़ता है, अतः मनुष्य यदि सच्चे अर्थ मे मनुष्य है तो उसे अपने सभी उपकारियों का यथायोग्य कृतज्ञ (अहसानमन्द) रहना चाहिये, और हृदय से उनका आभार मानना चाहिये। प्रकृति के इस नियम का पालन पशु तक करते हैं, कुत्ते को एक रोटी का टुकड़ा डाल दिया जाता है वह भी उस रोटी के टुकड़े का इतना आभार मानता है कि उस घर का चौकीदार बनकर पहरा देता रहता है। सन १९४७ के दिनों में लाहौर में एक हिन्दू परिवार की मुसलमानों ने हत्या कर दी। उस परिवार के स्त्री पुरुष एक कुत्ते को रोटी डाल दिया करते थे, वह कुत्ता रात दिन उनके मकान के सामने पड़ा रहता था। उस परिवार के समस्त व्यक्तियों के मर जाने पर वह

कृतज्ञ कुत्ता अन्यत्र कहीं नहीं गया, उसी द्वार पर बैठा रहा और भूखे रह कर वहीं पर प्राण दे दिये। ऐसे घोड़े, गाय, कुत्ते आदि कृतज्ञ पशुओं की कृतज्ञता सूचक अनेक सत्य कहानियां मिलती हैं।

तो जो मनुष्य अपने उपकारियों का उपकार या आभार (अहसान) न माने, कृतघ्न (अहसान फरामोश) बन जावे यह मनुष्य उन कृतघ्न पशुओं से भी गया बीता है कि नहीं? ऐसे मनुष्य से मनुष्यता लज्जित होती है।

संसार में सब से बड़े पापी दो व्यक्ति होते है—(१) कृतघ्न, (२) विश्वासघाती। कृतज्ञ व्यक्ति जिस तरह श्रेष्ठ मनुष्य होता है उसी तरह कृतघ्न महान् नीच होता है।

एक राजा एक वन में अपने साथियों के साथ गर्मी के दिनों में घोड़े पर चढ़कर सैर करने गया। अपना घोड़ा दौड़ा कर वह वन की प्राकृतिक छटा को देखने के लिये अपने साथियों से आगे निकल कर अकेला रह गया। सघन वन मे मार्ग भूल जाने से वह न तो अपने साथियों से मिल पाया और न उसके साथी उससे मिल पाये, दोनों एक दूसरे को ढूंढते ढूंढते थक गये। अन्त में उसके साथी हार थक कर वापिस लौट आये।

राजा भी थक कर चूर हो गया, उधर प्यासके मारे उसका गला सूख गया। तब वह मूर्छित होकर घोड़े से नीचे गिर पड़ा। उस वन में एक ग्वाला अपनी गायें चरा रहा था। वह उधर आ निकला उसने राजा को मूर्छित पड़े देखा। तत्काल उसने अपने जल-पात्र से पानी निकाल कर राजा के मुख में डाला और कुछ उसके मुख पर छींटे मारे। अपने वस्त्र से उसके ऊपर ठंडी हवा की। ऐसा करने से राजा की मूर्छा दूर होगई और राजा उठकर बैठ गया। राजा को अभी और प्यास थी भूख भी लगी थी उस ग्वाले ने अपने पास का भोजन राजा को खिलाया तथा यथेष्ट जल पिलाया, राजा संतुष्ट होगया, थोड़ा विश्राम करके घोड़े पर सवार होगया, तब उस ग्वाले ने राजा को उसके नगर में जाने का सीधा मार्ग बतला दिया। राजा ने उस ग्वाले को दूसरे दिन राजसभा में आने को कहा और स्वयं नगर की ओर चल दिया।

दूसरे दिन वह ग्वाला राजसभा में पहुँचा। राजा ने उसका बहुत सम्मान किया कि इस मनुष्य ने कल मेरे प्राण बचाये, यह यदि मुझे जल और भोजन न देता तो मैं अवश्य मर जाता। इस कारण यह मेरा बहुत उपकारी मित्र है, मैं इसका ऋण जन्मभर भी नहीं उतार सकता। राजा ने इतना आभार प्रकट करके उस ग्वाले को अपने महल के पास ही एक सुन्दर मकान में ठहरा दिया और अपने समान समस्त सुविधाएं जुटादीं। तब से वह ग्वाला राजसी ठाठ में राजा का मित्र बनकर वहां रहने लगा।

राजा का एक छोटा पुत्र था, वह ग्वाला उसको बहुत प्रेम करता था, अतः वह राजपुत्र भी ग्वाले के घर आकर खेला करता था। एक दिन ग्वाले ने राजा के प्रेम की परीक्षा लेने के लिये राजपुत्र को अपने घर सुख-सुविधा की व्यवस्था के साथ छिपाकर अदृश्य कर दिया। राजा ने पुत्र की बहुत खोज कराई किन्तु उसके पुत्र का कहीं भी पता न चला। राजा तथा प्रजा बहुत खेदखिन्न हुए।

तब दो दिन बाद उस ग्वाले ने राजपुत्र के सब आभूषण उतार लिये और उनको उस सुनार के पास बेचने ले गया जोकि राजा के आभूषण बनाया करता था। राजपुत्र के आभूषण सुनार ने तत्काल

पहचान लिये और उसी समय इस बात की सूचना पुलिस अधिकारियों को देदी। पुलिस अधिकारियों ने उसे तुरन्त गिरफ्तार करके राजा के सामने उपस्थित किया, नगर में कोलाहल मच गया कि राजपुत्र को उस ग्वाले ने, जिसको राजा ने अपना मित्र बनाकर उपकृत किया है, मार डाला है और उसके आभूषण सुनार के पास बेचते हुए पकड़ा गया है। 'राजा उस कृतघ्न ग्वाले को क्या दण्ड देता है' इस बात को सुनने देखने के लिये राजसभा में भीड़ एकत्रित होगई।

राजा ने राजसिंहासन पर बैठकर ग्वाले की हथकड़ी खुलवादी, और नेत्रों मे आंसू भर कर ग्वाले से कहा कि मित्र ! पुत्र यद्यपि बहुत प्यारा होता है परन्तु पुत्र से भी बढ़कर अपने प्राण होते है, तूने मेरे प्राण बचाये हैं इस कारण तू मेरा महान् उपकारी मित्र है, यदि तू मेरे एक पुत्र को क्या, मेरे सारे परिवार को भी मार डाले तो भी तेरे उपकार से मैं तेरे सामने झुका रहूँगा। कहते कहते राजा रो पड़ा।

ग्वाले ने प्रफुल्लित होकर कहा कि राजन्! दुःखी न होइये, मैं इतना कृतघ्न नहीं हूँ जो आपके पुत्र को मार देता, आपका पुत्र जीवित है। मैंने केवल आपके प्रेम की परीक्षा लेने के लिये यह सब कुछ किया था। इतना कह कर उसने राजपुत्रको अपने मकान से लाकर राजा की गोद में बिठा दिया, राजपुत्र भी प्रसन्न मुद्रा में था।

राजा ने प्रसन्न होकर ग्वाले को अपनी छाती से लगा लिया।

प्रत्येक मनुष्य को अपने माता पिता अध्यापक आदि का ऐसा ही कृतज्ञ होना चाहिये। माता पिता तथा विद्यागुरु का उपकार मनुष्य अपने जन्म भर की सेवा से भी नहीं चुका सकता, अतः माता-पिता अध्यापक का कृतज्ञ प्रत्येक मनुष्य को होना चाहिये। इसी तरह अपने मित्र ने तथा अन्य किसी व्यक्ति ने कभी अपने साथ कोई उपकार किया हो उस उपकार को कभी न भूलना चाहिये और कभी कोई अवसर आवे तो अपने उपकारी की आवश्यकतानुसार सहायता भी अवश्य करनी चाहिये।

इस तरह कृतज्ञता के कारण मनुष्यता बनी रहती है तथा दूसरों के साथ सहयोग स्थिर रहता है, संगठन दृढ़ होता हैं, सामाजिक सेवा का भाव बढ़ता है, मित्रता का क्षेत्र विस्तृत होता है और मन स्वच्छ रहता है।

सांसारिक-कृतज्ञता के समान पारमार्थिक-कृतज्ञता भी प्रत्येक स्त्री पुरुष में अवश्य आनी चाहिये। हमको श्री जिनेन्द्र भगवान् का बहुत उपकार अपने हृदय में सदा स्मरण रखना चाहिये कि उन्होंने बिना किसी निजी प्रयोजन के तथा बिना किसी प्रेरणा के समस्त जगत् का हितकारी उपदेश दिया। वे यदि धर्म-मार्ग न दिखलाते तो हमको आत्म-उद्धार करने की प्रक्रिया ही मालूम न हो पाती। समस्त संसार के प्राणी मोह तथा अज्ञान के अन्धकार में भटकते रहते।

अर्हन्त भगवान् के सिवाय हमारे पूर्व आचार्यों ने भी हमारे ऊपर असीम उपकार किया है अपने ध्यान, सामायिक, स्वाध्याय के अमूल्य समय को शास्त्र रचना में लगाया। उनके उस परिश्रम का ही यह फल है कि भगवान् महावीर को मुक्त हुए लगभग ढाई हजार वर्ष हो गये फिर भी उनकी वाणी का, उनके प्रतिपादित सिद्धान्त तथा आध्यात्मिक उपदेश का, इस कलिकाल में भी ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। यदि हमारे पूज्य आचार्य ग्रन्थ न बनाते तो हम आत्म-कल्याण न कर पाते। इस कारण हमको भगवान्

महावीर का तथा उनके पद-चिन्हों पर चलकर उनके धर्म का प्रचार करने वाले, शास्त्र रचने वाले श्री धरसेन आचार्य, गुणधर आचार्य, पुष्पदन्त भूतबली, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक, वीरसेन, जिनसेन, विद्यानन्दि, प्रभाचन्द्र, अमृतचन्द्र सूरि, नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती, गुणभद्र आदि महान् आचार्यों का महान् कृतज्ञ होना चाहिये जिनके कारण हमको मोह अन्धकार में भी सत्य पथ दिखाई दे रहा है। उनके रचित ग्रन्थ षट्खंड आगम, कषाय प्राभृत, समयसार, पंचास्तिकाय, तत्वार्थसूत्र, देवागम स्तोत्र, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, धवल, जयधवल, महाधवल, आदिपुराण, श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, प्रमेयकमल मार्तण्ड, आत्मख्याति टीका, गोम्मटसार, त्रिलोकसार, आत्मानुशासन आदि ग्रन्थरत्न पढ़ने को मिल रहे हैं।

सारांश यह है कि अपने साथ कोई व्यक्ति थोड़ा भी उपकार करे तो उसे सदा याद रखना चाहिये, भूलकर भी कृतघ्न न बनना चाहिये।

प्रवचन नं० ७६

स्थान— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि— प्रथम भाद्रपद शुक्ला ४ रविवार, २० अगस्त १६५५

विद्यार्थी

संसार का प्रत्येक प्राणी, जब से कि वह जन्म ग्रहण करता है अपने मरण तक किसी न किसी तरह के कार्य में लगा रहता है। कार्य करते करते जब वह थक जाता है, शरीर खिन्न हो जाता है, तब वह अपने शरीर को तरोताज़ा करने के लिये कुछ समय विश्राम भी करता है, सोकर अपनी थकावट दूर करता है और जब उसकी नींद पूरी हो जाती है तब फिर किसी काम में लग जाता है। यह बात दूसरी है कि कोई प्राणी अधिक परिश्रम करता है और कोई कम। कोई अधिक आलसी होते हैं आराम अधिक करते हैं, अधिक समय तक सोते रहते हैं और परिश्रम कम करते हैं।

परिश्रम करने का कारण है अपना उदर। उदर (पेट) कुछ-कुछ समय पीछे भोजन की मांग करता है, मनुष्य, पशु पक्षी, कीड़े, मकोड़े और किसी बात की तो उपेक्षा कर सकते हैं परन्तु पेट की भूख की उपेक्षा कोई भी नहीं कर सकता, उसे तो शान्त करना ही पड़ता है, भूख को शान्त किये बिना जीवन संकट में पड़ जाता है। भूख लगने पर न नींद आती है और न आराम मिलता है। जो जीव अपनी भूख शान्त नहीं कर पाते उनकी मृत्यु भी हो जाती है। एक नीतिकार ने कहा है—

चिन्तातुराणां न सुखं न निद्रा, क्षुधातुराणां न वपुर्न तेजः।
अर्थातुराणां न सुहृन्न बन्धुः कामातुराणां न भयं न लज्जा।

यानी—चिन्ता से व्याकुल मनुष्य को न कोई सुख होता है और न नींद आती है। भूख से व्याकुल जीव का न शरीर कुछ काम करने योग्य रहता है- न शरीर में तेज स्फूर्ति रहती है। धन संचय में लगे हुए मनुष्य धन के सामने न अपना कोई मित्र समझते हैं न कोई भाई। और कामातुर जीवों को न किसी तरह के भय का ख्याल रहता है, न कुछ लाज शर्म रहती है।

अतः और किसी काम के लिये कोई परिश्रम करे या न करे परन्तु उसको अपने पेट के लिये तो अवश्य परिश्रम करना पड़ता है। पशुओं का जीवन तो खाने पीने, सोने तथा काम सेवन करने में ही समाप्त हो जाता है इसके सिवाय उनके पास और कार्य नहीं होता। मनुष्यों में पशुओं से ज्ञान की मात्रा अधिक होती है अतः वे खाने पीने, सोने और काम सेवन के सिवाय अन्य कार्य भी करते हैं तथा इन तीनों कार्यों को भी विवेक के साथ अच्छे ढग से करते हैं। नीतिकार का कहना है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च, सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानंहि तेषामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः।

यानी—भोजन करना, नींद लेना, डरना और मैथुन करना। ये चार बातें मनुष्यों में पशुओं के समान हैं। मनुष्यों में यदि पशुओं से कुछ विशेषता है तो वह ज्ञान की ही विशेषता है। जिस मनुष्य में विशेष ज्ञान नहीं, वह मनुष्य पशुओं के ही समान होता है।

अतः मनुष्य के परिश्रम में और पशुओं के परिश्रम मे भी महान् अन्तर है। पशु ज्ञान की कमी से परिश्रम अधिक करते हैं किन्तु उसका लाभ थोड़ा उठाते हैं क्योंकि उनमें समझ की कमी है और मनुष्य थोड़े परिश्रम से अधिक लाभ उठाते हैं। मनुष्यों में भी जो मनुष्य अधिक ज्ञानी है उनको थोड़े परिश्रम से अधिक लाभ मिला करता है और जिनमें ज्ञान की कमी है वे मनुष्य महान् कठिन शारीरिक परिश्रम करने पर भी लाभ बहुत थोड़ा उठा पाते हैं।

शिक्षित मनुष्य कुर्सियों पर बैठकर पंखे की हवा में ६ घंटे के परिश्रम से सैकड़ों हजारों रुपये मासिक वेतन पाकर अच्छे रंग ढग से जीवन व्यतीत करते हैं जब कि अशिक्षित मूर्ख लोग धूप, सर्दी, वर्षा में बड़ा भारी शारीरिक परिश्रम करके, शरीर को चूर-चूर करके थोड़े से पैसे कमा पाते हैं। इसी कारण उनका जीवन दरिद्रता में ही व्यतीत होता है, अनेक तरह के सांसारिक सुखों से भी वंचित रह जाते हैं। धर्म-कर्म आध्यात्मिक विचार तो उनके हृदय में कभी जाग्रत होते ही नहीं। इस कारण मनुष्य को सुख शान्ति से जीवन व्यतीत करने के लिये विद्याभ्यास अवश्य करना चाहिये। ज्ञान बढ़ाने का साधन विद्या का अभ्यास ही है।

ज्ञान कहीं बाहर से नहीं लाना पड़ता, ज्ञान प्रत्येक प्राणी की आत्मा में सदा से मौजूद है और वह है भी इतना, जितना कि त्रिलोक, त्रिकाल-ज्ञाता केवली भगवान् को होता है, परन्तु ज्ञान आवरक कर्म के पर्दे में छिपा हुआ है, उस पर्दे को हटाने के लिये मनुष्य को सबसे प्रथम विद्या का अभ्यास करना पड़ता है।

यद्यपि शिल्प विद्या, गान विद्या, युद्ध विद्या, कृषि विद्या, व्यापार विद्या आदि अनेक प्रकार की विद्याएं हैं और जीवन को प्रसन्न सुखमय बनाने के लिये उनका भी उपयोग होता है। इन विद्याओं में निपुण व्यक्ति भी अच्छा धन-संचय करते हैं परन्तु अक्षर विद्या इन सबसे अधिक महत्वशालिनी है, उसका कारण यह है कि अन्य विद्याओं का घनिष्ट सम्बन्ध शरीर के साथ होता है अतः जब तक शरीर अच्छा स्फूर्तिवान् या बलवान् बना रहता है तब तक तो उन विद्याओं से लाभ उठाया जा सकता है और जबकि शरीर बलहीन हो जावे या वृद्ध अवस्था आ जावे तब वे विद्याएं मनुष्य को यथेष्ट लाभ नहीं देतीं।

इसी बात पर नीतिकार कवि ने प्रकाश डाला है—

विद्या शास्त्रस्य शस्त्रस्य द्वे विद्ये प्रतिपत्तये ।
आद्या तस्याय वृद्धत्वे द्वितीयाद्रियते सदा ।

यानी—आजीविका के लिये दो विद्याएं मुख्य हैं— १ शास्त्र विद्या (पढ़ना लिखना), २—शस्त्र विद्या (मल्ल विद्या, शस्त्र चलाने की निपुणता, युद्ध विद्या)। इनमें से शस्त्र विद्या तो बुढ़ापे के समय मनुष्य की हसी कराती है और शास्त्र विद्या मनुष्य का सदा आदर सत्कार कराती है।

अतः जीवन को सुखी समृद्धशाली और आदरणीय बनाने के लिये मनुष्य को अक्षरात्मक विद्या अवश्य ग्रहण कर लेनी चाहिये।

पढ़ने लिखने का सबसे अच्छा समय बचपन है, क्यों कि बचपन में हृदय शुद्ध होता है। उसमें संसार के अनेक कुविचार, विविध दुर्भावनाएं और चिन्ताओं का ढेर एकत्र नहीं होने पाता। दिमाग (मस्तिष्क) ताजा होता है, उसमें थकावट नहीं होती। यही कारण है कि बाल्यावस्था में मनुष्य की धारणा शक्ति प्रबल होती है, वह अन्य युवा या प्रौढ़ व्यक्तियों की अपेक्षा याद कर सकता है। स्मरण शक्ति बाल्यावस्था में अच्छी बलवती होती है।

बहुत से स्त्री पुरुषों को जो अपने पहले जन्म की घटनाएं स्मरण कर लेते हैं उन्हे पूर्व भव की स्मृति बचपन में ही हुआ करती है, युवावस्था या प्रौढ़ावस्था में आज तक किसी भी व्यक्ति को पूर्व भव की बातें याद नहीं आई, इन सब बातों द्वारा यह बात सिद्ध हो जाती है कि मनुष्य की धारणा शक्ति जैसी बचपन में प्रबल होती है वैसी जीवन के अन्य किसी भाग मे नहीं होती। इसके सिवाय बचपन में माता पिता की छाया होने के कारण आजीविका की चिन्ता नहीं होती। गृहिणी, बाल बच्चों के न होने से उनके पालन पोषण की चिन्ता नहीं होती। इस कारण बचपन में बच्चों को पढ़ाने की व्यवस्था अवश्य कर देनी चाहिये।

प्राचीन समय में बनवासी मुनियों के पास भी गृहस्थो के पुत्र पढ़ा करते थे। संसार के दूषित वातावरण से दूर रहकर वे जहां विद्याध्ययन करते थे वहीं उनका आचार विचार भी शुद्ध रहता था, ब्रह्मचर्य पूर्ण निर्दोष रहता था। देशभूषण, कुलभूषण की कथा इस बात की साक्षी है।

दो हजार वर्ष पहले भी भारत में बोर्डिंग हाउस (छात्रावास) में रखकर विद्यार्थियों को पढ़ाने की व्यवस्था प्रचलित थी। श्री अकलंक देव ने भी ऐसे ही एक बौद्ध विद्यालय मे बौद्ध दर्शन का बौद्ध छात्र के वेश मे अध्ययन किया था। पृथ्वी खोदने से निकले हुए नालन्दा के बौद्ध विद्यालय में भी विद्यार्थियों के रहने सोने आदि के कमरे बने हुए हैं।

विद्यार्थी जीवन में छात्रों को अपना ध्यान अन्य बातों की ओर से हटाकर केवल शिक्षा प्राप्त करने की ओर केन्द्रित कर देना चाहिए। विद्याध्ययन भी एक कठिन तपस्या है, जैसे तपस्वी आत्मध्यान करते समय अपनी मानसिक वृत्ति सब ओर से हटाकर आत्म-चिन्तन में लगा देता है तभी उसको आत्म-सिद्धि प्राप्त होती है, उसी तरह विद्यार्थी को भी अपना मन अन्य सब बातों की ओर से हटाकर पढ़ने

लिखने की ओर लगा देना चाहिये। विद्यार्थी का लक्षण निर्देश करते हुए नीतिकार ने लिखा है—

काकचेष्टा बकध्यानी श्वाननिद्रातथैव च।
अल्पाहारी गृहत्यागी विद्यार्थी पञ्चलक्षणः।

यानी—कौए की तरह जो सदा सचेत चञ्चल रहे, बगुले की तरह पढ़ने में एकाग्र ध्यान लगावे, कुत्ते की तरह नींद ले (जरा सा खटका होते ही जाग जावे, नींद में अचेत न पड़ा रहे). भोजन थोड़ा करे–जिससे पढ़ने में सुस्ती न आवे और पढ़ने के दिनों में घर से दूर रहे, यानी–छात्रावास (बोर्डिंग) में रहे, ये पांच बातें विद्यार्थी के लक्षण रूप हैं।

इस ढंग से जो विद्यार्थी पढ़ते हैं वे अच्छे ठोस विद्वान् बन जाते हैं, उत्तम श्रेणी में पास होते हैं, अच्छा पारितोषिक प्राप्त करते है। आजकल विद्यार्थियों को छात्रावास (बोर्डिंग) में रहने की सुख-सुविधाएं अधिक मिल रही हैं इसका उपयोग अधिकतर विद्यार्थी उलटा करने लगे हैं, वे पढ़ने लिखने में परिश्रम कम करते हैं, आराम अधिक करते हैं, इसका परिणाम यह होता है कि वे परीक्षाओं में या तो फेल होते हैं, या बहुत थोड़े अंक लेकर पास हुआ करते हैं। विद्यार्थी जीवन एक तपस्वी जीवन है, इस जीवन में आराम की अपेक्षा परिश्रम अधिक करना चाहिये। नीतिकार ने कहा है—

सुखार्थिनः कुतो विद्या, विद्यार्थिनः कुतः सुखम्।
सुखार्थी त्यजेद् विद्यां, विद्यार्थी त्यजेत् सुखम्।

अर्थात्—जो व्यक्ति सुखी जीवन चाहता है उसे विद्या कहां मिल सकती है? और जो विद्या का इच्छुक है उसे सुख कहां? जो सुख का इच्छुक हो उसको विद्याभ्यास छोड़ देना चाहिये और जो विद्या पढ़ना चाहता हो उसे सुखी जीवन त्याग देना चाहिये।

अनेक बोर्डिगों में कुछ विद्यार्थियों की इच्छानुसार मांस, मछली, अंडों का भोजन तैयार होता है, ऐसे बोर्डिंगों में विद्यार्थियों को न रखना चाहिये, शुद्ध सात्विक भोजन दिन में खिलाने की जहां व्यवस्था हो वहां पर ही अपने पुत्र, भाई (विद्यार्थी) को रखना चाहिये जिससे वह अशुद्ध खान पान से बचा रहे। इसके सिवाय जिन बोर्डिगों में विद्यार्थिनी लड़कियां रहती हों उन बोर्डिगों में भी अपने लड़कों को न रखना चाहिये।

अपना लडका जब तक अपनी पढ़ाई समाप्त न करले तब तक उसके शादी विवाह का नाम भी न लेना चाहिये। विद्यार्थी का ब्रह्मचारी रहना बहुत आवश्यक है। ब्रह्मचर्य के कारण बुद्धि शुद्ध स्फुरायमान रहती है, मस्तिष्क (दिमाग) शक्तिशाली बना रहता है। इस कारण स्कूल कालेजों की अपेक्षा गुरुकुलों की शिक्षा बहुत उपयोगी रहती है।

विद्यार्थी को आवश्यक धार्मिक आध्यात्मिक शिक्षा का प्रबन्ध अनिवार्य रूप से होना चाहिये जिससे कि वह अपने जीवन मे आध्यात्मिक उन्नति भी कर सके। अन्याय, मिथ्यात्व, अभक्ष्य से बच

सके, आस्तिक बना रहे। दुराचार, कुसंगति से अपने आपको अछूता रख सके, अपने शुभ विचारों के कारण अपना जीवन सफल बना सके।

विद्यार्थियों को प्रतिदिन देव दर्शन करने का अभ्यास अवश्य रखना चाहिये, तथा उन्हें प्रातःकाल सायंकाल यथा सम्भव कुछ समय तक सामायिक करना चाहिये जिससे आत्मचिन्तन करने का अभ्यास बना रहे। णमोकार मन्त्र का, असिआउसा या ओ३म् का जाप करना चाहिये।

अपनी मातृभाषा सीखने के साथ द्वितीय भाषा के रूप में भारत की प्राचीन भाषा संस्कृत का अध्ययन करना भी आवश्यक है। संस्कृत भाषा में साहित्य, न्याय, ज्योतिष, वैद्यक, नीति, सिद्धान्त, आचार आदि अनेक विषयों के अच्छे २ सुन्दर ग्रन्थ विद्यमान हैं जिनको पढ़ने के लिये सस्कृत भाषा का ज्ञान होना अति आवश्यक है। जर्मनी, रूस, जापान आदि विदेशों के विश्वविद्यालयों में संस्कृत भाषा पढ़ाई जाती है, तब हमारे विद्यार्थी संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ रहें, ये बड़ी कमी और लज्जा की बात है।

दुर्भाग्य से जो व्यक्ति बाल्यावस्था में किसी तरह न पढ़ सके हों तो उनको अपनी युवावस्था, प्रौढ़ या वृद्धावस्था में पढना चाहिये, विद्याभ्यास प्रत्येक अवस्था में किया जा सकता है। अभी कुछ दिन पहले एक बहुत वृद्ध मनुष्य प्रारम्भिक परीक्षा में बैठा था, एक ६६ वर्ष की बुढ़िया ने हिन्दी रत्न की परीक्षा पास की। उत्तर प्रदेश (संभवतः देहरादून) के स्कूल का एक प्रौढ़ चपरासी पढ़ता रहा और परीक्षा पास करके उसी स्कूल में मास्टर बन गया।

इस तरह विद्यार्थी जीवन एक अच्छा पवित्र जीवन है, इस जीवन में आत्मा का उत्थान करने वाला ज्ञान गुण का विकास किया जाता है, अतः केवल ज्ञान होने से पहले मनुष्य को सदा नवीन-नवीन विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये 'विद्यार्थी' बना रहना चाहिये।

प्रवचन नं० ७७

स्थान—	तिथि—
श्री दिगम्बर जैन लाल मन्दिर, दिल्ली।	प्रथम भाद्रपद शुक्ला ५, सोमवार २१ अगस्त १९५५

देवी देवता

वैसे तो संसार में कोई भी जीव अपना सब से बड़ा बड़प्पन सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि संसार में एक से एक बढ़कर शक्तिशाली वैभवशाली व्यक्ति विद्यमान हैं, इस कारण गर्व इस संसार में कभी स्थिर नहीं रहा। कभी कुछ दिन अपने महान् बल के आतंक से किसी ने जनता को अपने अत्याचारों से भयभीत करके अपना महत्त्व भी प्रगट किया तो वह महत्व थोड़े दिन ही रह पाया, तदनन्तर कोई दूसरा व्यक्ति मैदान में ऐसा आ ही गया जिसने उस अत्याचारी का गर्व खर्व कर दिया।

रावण से पहले एक इन्द्र नामक महान् पराक्रमी राजा हुआ है, वह अपने समय में अन्य राजाओं की अपेक्षा अधिक बली था, अतः उसने अपने नाम के अनुसार देवों के अधिपति इन्द्र जैसा अपना सारा ठाट बाट बनाया। अपनी राजसभा का नाम 'इन्द्रसभा' रक्खा, अपनी पट्टरानी का नाम 'शची-

इन्द्राणी' रक्खा, अपने हाथी को 'ऐरावत' नाम दिया, अपने मन्त्री, प्रधान राजअधिकारी आदि ३३ व्यक्तियों को 'त्रायस्त्रिंश' देव कहने लगा। 'लोकपाल' भी इन्द्र के समान ही स्थापित किया। अपने अङ्गरक्षको को 'आत्मरक्ष' देव कहलवाने लगा। अपनी सभा मे नृत्य करने वाली स्त्रियों को 'अप्सरा' नाम दिया। इन्द्र के समान ही अपने खजानची का नाम 'कुबेर' रक्खा। इत्यादि रूप से उसने अपने आपको मनुष्य लोक का 'इन्द्र' ही बना लिया।

किन्तु जब लंकाधिपति रत्नश्रवा का पुत्र रावण तरुण हुआ तब उसने इन्द्र की इन्द्रता नष्ट कर दी, अपने प्रबल पराक्रम से उसने इन्द्र पर विजय पा कर इन्द्र को अपने नगर की झाड़ू देने पर बाध्य किया। कुछ समय में रावण अपनी प्रचण्ड शक्ति से भरत क्षेत्र के अर्द्ध भाग (तीन खण्डों) को जीत कर महान् पराक्रमी बन गया। उसके भाई, पुत्र, मित्र आदि सभी महान् बलवान् योद्धा थे। रावण को अनेक प्रकार की विद्याएं सिद्ध थीं, अत. उसे अपनी प्रचण्ड शक्ति का अभिमान हो गया, यद्यपि कैलाश पर्वत उठाने का प्रयत्न करते हुए रावण को गर्व पर्वत पर बैठे हुए 'बाली' नामक मुनिराज ने अपने पैर का अंगूठा दबा कर एक बार रावण के गर्व को दूर कर दिया था, परन्तु रावण उस घटना को भूल चुका था और रणक्षेत्र में उसका सामना करने की सामर्थ्य उस समय किसी को थी नहीं, इसलिये रावण अपने आपको अजेय योद्धा समझने लगा था। इसी कारण उसने राम लक्ष्मण को अपने सामने तुच्छ समझ कर सीता का अपहरण किया।

सीता को राम के पास वापिस लौटा देने की सम्मति उसकी पट्टरानी मन्दोदरी ने रावण को दी, उसके भाई विभीषण ने भी उसे बहुत समझाया, राम ने भी हनुमान द्वारा सीता लौटा देने का सन्देश रावण के पास भेजा परन्तु अपने बल के मद में चूर कामातुर रावण ने किसी की बात न मानी और राम लक्ष्मण के साथ युद्ध छेड़ दिया, जिसमें वह स्वयं मारा गया, उसके पक्ष के सभी योद्धा मारे गये। उस के कुटुम्ब के कुम्भकर्ण आदि बन्दी बना लिये गये। उसका काला महान् अपयश संसार में सदा के लिये फैल गया, आज भी जनता राम की पूजा करती है और रावण का तिरस्कार करती है।

इसी तरह कंस ने भी अपने बल के अभिमान में चूर होकर बड़े अत्याचार किये थे, स्वयं अपने पिता को लोहे के पिंजड़े में बन्द करके नगर के द्वार पर रख दिया था, अपनी बहिन देवकी और अपने बहनोई तथा अपने गुरु वसुदेव को बन्दीघर में डाल रक्खा था। परन्तु गुप्त रूप से जन्म लेकर, गुप्त रूप से पालन-पोषण पा कर कृष्ण जब युवक हुए तो कंस को चुटकियों में मार गिराया और उसके समस्त अत्याचारों का अन्त कर दिया।

परशुराम ने अनेक बार अपने गम्य क्षेत्र के समस्त क्षत्रियों का विनाश कर दिया था, लुक छिप कर कुछ क्षत्रिय बच गये थे। उन लुक छिप कर बचे हुए क्षत्रियों में ही 'सुभौम' नामक एक क्षत्रिय पुत्र ने अपनी जाति के महाविनाश का बदला परशुराम से लिया और परशुराम का विध्वंस कर दिया। सुभौम कुछ समय पीछे भरत क्षेत्र के छह खण्ड विजय करके चक्रवर्ती सम्राट् हुआ। उसको राज्य के लोभ ने समुद्र में डुबा दिया।

समस्त भरतखण्ड के विजेता आद्य चक्रवर्ती भरत का अपमान उसी के लघु भ्राता बाहुबली द्वारा हुआ। इस तरह इस संसार में कोई भी व्यक्ति अपने आपको सबसे बड़ा बलवान् सिद्ध नहीं कर पाया।

जो मनुष्य संसार में अपने आपको सबसे बड़ा वैभवशाली या सबसे बड़ा बलवान् मान बैठता है, वह कूपमण्डक के समान क्षुद्रदृष्टि होता है।

एक बार समुद्र के किनारे रहने वाला एक राजहंस उड़ करके एक कुंए पर आ बैठा। राजहंस का भव्य आकार प्रकार देखकर उस कुंए में रहने वाले एक मेढक ने उससे पूछा कि भाई! तुम कहां पर रहते हो? राजहंस ने उत्तर दिया कि मैं समुद्र के किनारे रहता हूं। मेंढक ने पूछा कि समुद्र कितना बड़ा है? राजहंस ने कहा कि बहुत बड़ा है।

तब मेंढक ने कुंए में अपने स्थान पर उछल कर उस कुंए में ही एक हाथ भर छलांग मारी, और राजहंस से पूछा कि समुद्र इतना बड़ा है? राजहंस ने कहा कि नहीं, इस से बहुत बड़ा है। तब मेंढक ने एक और छलांग मार कर उस दो हाथ पानी की ओर संकेत करके पूछा कि क्या इतना बड़ा समुद्र है? राजहंस ने उत्तर दिया कि नहीं, इससे भी बड़ा है। तब मेंढक ने एक दो छलांगे और मार कर राजहंस से पूछा कि क्यों भाई! समुद्र इतना बड़ा है? राजहंस ने गम्भीरता से कहा कि नहीं, इससे बड़ा है।

अन्त में मेढक ने समस्त कुंए की परिक्रमा देकर राजहंस से फिर पूछा कि समुद्र इतना बड़ा है? राजहंस ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया कि नहीं भाई! समुद्र इससे भी बहुत बड़ा है। राजहंस की बात सुन कर मेंढक ने झल्ला कर कहा कि तुम्हारा कहना सर्वथा असत्य है, इससे बड़ा जलाशय और हो ही नहीं सकता। राजहंस ने कहा कि तुम इस कुंए से बाहर निकले ही नहीं, तब तुम क्या जान सकते हो कि समुद्र कितना बड़ा है। यह कह कर वहां से उड़ गया।

जो मनुष्य अपने आपको सबसे बड़ा व्यक्ति समझ लेते हैं, उनकी समझ भी कुंए के मेढक की तरह संकुचित होती है। उन्हें जब अपने से अधिक शक्तिशाली व्यक्ति मिलता है उस समय उन्हें अपनी गलत धारणा का पता चलता है।

साधारण मनुष्यों की अपेक्षा देवों में शारीरिक तथा मानसिक शक्ति अधिक होती है। समस्त देवों को अवधिज्ञान होता है, इस कारण सर्वसाधारण मनुष्यों की अपेक्षा इन्द्रिय-अगोचर दूर देशवर्ती (बहुत दूर के) तथा दूर कालवर्ती (कुछ भूत भविष्यत के) पदार्थों को देव अपने अवधिज्ञान से जान लेते हैं। देवों का शरीर मनुष्यों के शरीर से बहुत शक्तिशाली होता है। वैक्रियिक शरीर होने के कारण उसमें अनेक प्रकार की विशेषताएं होती हैं। देव अपना शरीर ऐसा अदृश्य बना सकते हैं जो कि सामने खड़े रहने पर भी दिखाई न दे। देव अपने शरीर को अपनी इच्छानुसार छोटा बड़ा, हलका भारी, बना सकते है, मनुष्य पशु पक्षी आदि चाहे जिसका रूप बना सकते हैं, शरीर द्वारा जो काम मनुष्य नहीं कर सके, उसको देव अपने शरीर द्वारा बहुत शीघ्र कर सकते हैं।

अतएव देव यदि किसी मनुष्य पर प्रसन्न हो जावें तो उसको अनेक प्रकार की सहायता दे सकते हैं, उसके अनेक तरह के संकट दूर कर सकते हैं, मनुष्य की अनेक इच्छाओं को तथा उसकी अनेक आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकते हैं। तथा यदि वे किसी नर-नारी पर अप्रसन्न हों या उससे पूर्व भव का वैर हो तो वे देव उस स्त्री, पुरुष को अनेक प्रकार से तंग भी कर सकते हैं, किन्तु ऐसा होता तभी है जब कि उस पुरुष, स्त्री के अशुभ कर्म का उदय भी हो।

भगवान् पार्श्वनाथ जब आत्मध्यान में निमग्न थे उस समय ६ भव पूर्व का वैर रखने वाला कमठ का जीव, जोकि असुर देव हुआ था, उसने भगवान् पार्श्वनाथ को देखते ही उनके ऊपर अनेक तरह के महान् उपद्रव किये। उस समय भगवान् पार्श्वनाथ में श्रद्धा भक्ति रखने वाले धरणीन्द्र, पद्मावती ने वहां आकर उस उपद्रव को दूर किया। तापसी साधु द्वारा तपस्या के लिये जलाई गई लकड़ियों में बैठे हुए नाग नागिनी को भगवान पार्श्वनाथ ने तापसी को प्रतिबोध देकर जलने से बचाने का यत्न किया था, और जब अग्नि में बुरी तरह जल जाने के कारण उस सर्प युगल की मृत्यु निकट देखी तब उनको णमोकार मंत्र सुनाया उन्होंने शान्ति से णमोकार मन्त्र सुना, जिसके कारण नाग मर कर धरणीन्द्र देव हुआ और सर्पिणी मर कर पद्मावती हुई। उन्हीं धरणीन्द्र पद्मावती ने भगवान् पार्श्वनाथ का उपद्रव दूर किया।

इस तरह पद्मावती देवी शासन देवी कहलाती है उसने और भी अन्य अनेक अवसरों पर जैन-शासन की रक्षा के लिये सहायता की है। इसी कारण पद्मावती देवी की मूर्तिया अनेक जैन मन्दिरों मे पाई जाती हैं। क्षेत्रपाल की भी अतदाकार मूर्ति कई मंदिरों में दीख पड़ती हैं। इन देवी देवताओ को मूर्तियों का इतना ही अभिप्राय है कि वे अपनी विशिष्ट शक्ति से जैन शासन की रक्षा करते हैं, अतः धर्म-वात्सल्य से उनका आदर सत्कार किया जाता है। वे जिनेन्द्र भगवान् के समान जन्म मरण से मुक्त नहीं हैं, न वे वीतराग सर्वज्ञ अर्हन्त ही है, अतः आत्मशुद्धि की कामना से या मुक्ति प्राप्ति के उद्देश्य से अर्हन्त भगवान् के समान पद्मावती की पूजा उपासना नहों की जाती है। पद्मावती देवी असंयत सम्यग्दृष्टी देवी है। इस कारण विशिष्ट सहायक साधर्मी की दृष्टि से उस योग्य आदर की वह पात्र है।

काली भैरव आदि देवी देवताओं की मान्यता उनके उपासकों में कोई दैवी चमत्कार देखकर ही चल पड़ी है। किन्तु सम्यक्त्व हीन होने के कारण सम्यग्दृष्टी द्वारा उनकी मान्यता नहीं है।

किन्तु इतनी बात तो स्पष्ट है कि कोई भी देवी देवता, वह चाहे सम्यग्दृष्टी हो अथवा सम्यग्दृष्टी न हो मांस भक्षण, रक्त पान, मदिरा पान आदि तो नहीं करता। देव-देवियों के गले में अमृत का स्रोत होता है, उनको जिस समय भूख प्यास लगती है उस समय गले के उस अमृत-स्रोत में से कुछ अमृत स्वयं झर जाता है जिससे उनकी भूख प्यास बिना कुछ अन्य पदार्थ खाये पिये शान्त हो जाती है। ऐसी अवस्था में कोई भी देवी-देवता मांस, खून, शराब आदि क्यों खावेंगे, पीवेंगे?

ऐसा ज्ञात होता है कि मदिरा मांस लोलुपी व्यक्तियों ने देवी देवताओं की आड़ लेकर बकरों, मुर्गों, भैंसों, सूअरों आदि जानवरों को उन देवी देवताओं के नाम पर काटकर चढ़ाना प्रारम्भ कर दिया है। यदि ये देवी देवता यथार्थ में देवी देवता हैं तो वे कभी मांस खाने, रक्त पीने की लालसा प्रगट नहीं कर सकते, और जब कि उनके उपासक उनको जगत् की माता या जगत् पिता बतलाते हैं तब तो यह बात और भी असंभव हो जाती है, क्योंकि जगत् माता देवी का पुत्र तो वह बकरा, सूअर, भैंसा, मुर्गा भी हुआ, फिर अपने ही पुत्रों को कौनसी माता खाकर या उसका रक्त पीकर प्रसन्न हो सकती है?

जैसा प्राचीन समय में याज्ञिक लोगों ने स्वर्ग, चक्रवर्ती पुत्र, धन सम्पति, राज्य आदि दिलाने के प्रलोभन द्वारा घोड़े आदि पशुओं के निर्दय हनन द्वारा पशु-यज्ञों की प्रथा चला दी थी, उसी तरह

आज भी देवी देवताओं की प्रसन्नता प्राप्त करने के बहाने पशुबलि प्रथा चल रही है। दक्षिण-प्रान्त में विविध स्थानों पर विविध रूप से यह बलि-प्रथा ऐसे निर्दय रूप से की जाती है कि जिस का विवरण सुनते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। एक स्थान पर भाला जमीन में गाड़ कर उसकी नोंक पर सूअरों को फेंक दिया जाता है, एक जगह सूअर को बांध कर उसकी गुदा में से भाला छेद कर उसके मुख में से निकाला जाता है, एक जगह मनुष्य अपने मुख से बकरी के बच्चे का पेट फाड़ता है। इत्यादि क्रूरता पूर्ण बलि-प्रथाएं आज भी धर्म के नाम पर चल रही हैं।

मनुष्य ने अपने अभिमान को कम करने के लिए देवों को महत्त्व दिया, वह तो कुछ अंशों में अनुचित नहीं है परन्तु इस दिशा में अपना विवेक त्याग कर मिथ्याधारणा तथा क्रूर बलि प्रथा को अपनाया यह बहुत अनुचित है।

प्रवचन नं० ७८

स्थान—	तिथि—
श्री दिगम्बर जैन मंदिर, कूचा सेठ, दिल्ली।	प्रथम भाद्रपद शुक्ला ६, मंगलवार २८ अगस्त १९५५

कुविचारों का प्रचार

भगवान् को नहीं मानना और भगवान् नहीं है कह देना, भगवान की भक्ति करना आदि सभी मूर्खता है। गुरू को नहीं मानना, शास्त्र को नहीं मानना शास्त्रकारों को पाखंडी मानना। सभी को एक समान मानना। खान पान का विचार न करना। किसी भी नियम की आवश्यकता नहीं मानना। वर्ण भेद को नहीं मानना। पाप को धर्म मानना। और धर्म को पाप मानना। आज कल के लोग बहुत से कहते हैं कि जितने शास्त्र इत्यादि हैं उन सब की किसी पाखण्डी ने रचना की है। पूर्व के पुरुष आज के समान उन्नति शाली नहीं थे। और इतने ज्ञानी भी नहीं थे। इस प्रकार मन माने अपने को मन कल्पित विचारों द्वारा धर्म की स्थापना करना। ये सभी आज के लोग इस तरह कुविचारों का प्रचार करते हैं। आज कल के लोग माता पिता को नहीं मानते, कहते हैं कि माता पिता की सेवा करना भी पाप है। माता पिता ने हमारा कौनसा उपकार किया है। और माता पिता ने अपने आनन्द के लिए विवाह इत्यादि किया था। इस प्रकार अवहेलना करना और उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना। आज कल के कुविचारों के प्रचार वाले कहते हैं कि स्त्री को अगर अपना पति पसन्द न हो तो दूसरा पति निर्वाचन का अधिकार होना चाहिए। और स्त्री पुरुषों का सभी क्षेत्र में समान कार्य होना चाहिए। परलोक और पुनर्जन्म किसने देखा

है। पाप पुण्य और नरक स्वर्गादि केवल कल्पना है। ऋषि मुनि गण स्वार्थी थे। स्वार्थ साधन के निमित्त ही ग्रन्थों की रचना की। पुरुष जाति ने स्त्रियों को पद दलित बनाये रखने के लिए ही पतिव्रत और सावित्री की महिमा गायी। देवता वाद इत्यादि ये सभी कल्पना है। उच्च वर्णों ने नीच वर्णों के साथ सदा अत्याचार किया है विवाह के पूर्व लड़के लड़कियों का रहन सहन ये कुविचार नहीं है यह धर्म मार्ग है ऐसी कल्पना करना। सबको अपने मन के अनुसार सब कुछ करने का अधिकार है। मन में आये सो खाओ मन में हो सो करो। इस प्रकार यही धर्म है दूसरा कोई धर्म नहीं है। आदि २ ऐसी बातें आज कल इस ढ़ग से फैलाई जा रही हैं कि भोले भाले नर नारी देव, गुरु शास्त्रों में अविश्वासी होकर धर्म, कर्म और सदाचार का त्याग कर रहे हैं। इन सब बातों का धर्मात्मा पुरुषों को त्याग कर देना चाहिए और कुविचार को हटाने की चेष्टा करनी चाहिए।

वहम और मिथ्या विश्वास

तत्व चिंतामणि में कहा है कि इसके साथ २ यह भी सत्य है कि समाज में अभी तक नाना प्रकार के मिथ्या विकास और वहम फैले हुए हैं। भूत-प्रेत योनि है, परन्तु वहमी नर-नारी तो बात-बात में भूत-प्रेत की आशंका करते है। हिस्टीरिया वीमारी हुई तो प्रेत बाधा, मृगी या उन्माद हो गया तो प्रेत का सन्देह और न मालूम कहाँ २ वहम भरे हैं। इसीलिए ठग और धूर्त लोग-झाड़-फूंक, टोना जादू, जन्त्र और मन्त्र के नाम पर नाना प्रकार से लोगों को ठगते हैं। पीरपूजा, कब्र पूजा, ताजियों के नीचे से बच्चों को निकालना, गाजीमियां की मनौती आदि पाखण्ड इसी वहम के आधार पर चल रहे हैं।

इन मिथ्या विश्वासों को हटाने के लिये भी समाज के समझदार लोगों को प्रयत्न करना चाहिए।

अशिक्षित जनता में अज्ञानता का प्रवाह यहां तक बढ़ गया है कि प्राचीन टूटे ध्वस्त मन्दिरों का कोई भी टुकड़ा किसी को मिल गया उसने उस टुकड़े को किसी भी स्थान पर रखकर देवी देवता मान लिया और उसको तेल सिन्दूर चढ़ा कर पूजना आरम्भ कर दिया, उस पत्थर के टुकड़े पर चाहे किसी देवी देवता की मूर्ति उकेरी हुई हो अथवा न हो, किन्तु उसे देवी देवता मान लिया। ऐसे देवी देवता हजारों स्थानों पर पुज रहे हैं। इतना अवश्य है कि उन पाषाण खण्डों के कुछ न कुछ नाम उन पूजने वालों ने अवश्य गढ़ लिये हैं। किन्तु उस नाम का कोई देव था भी ? उसका कुछ इतिहास या शास्त्रीय मान्यता अथवा वास्तविकता भी कुछ है या नहीं ? इस विषय पर अन्ध श्रद्धालु जनता ने कुछ भी विचार नहीं किया।

इस अज्ञानता के प्रवाह में अनेक स्थानों पर प्राचीन जैन तीर्थंकरों की वीतराग मूर्तियों को भैरों,

जखैयां आदि नाम दे दिया गया है और उनके सामने विभिन्न पशुओं को निर्दयता के साथ मारकर बलि देने की प्रथा चालू हो गई। उस भोली जनता में अभी तक इतना विवेक जाग्रत नहीं हो पाया कि जिन तीर्थंकरों ने संसार को 'अहिंसा परमोधर्मः' विश्व हितङ्कर सन्देश दिया था, प्राणी मात्र पर दया करना तथा अहिंसा पालन करने का व्यापक प्रचार किया था, धर्म के नाम पर भूल से या स्वार्थवश किये जाने वाले पशुवध या पशुबलि को त्याज्य घोषित किया था, उन अहिंसा प्रचारक तीर्थंकरों के सन्मुख हिंसा कार्य करके उलटा कार्य किया जा रहा है, महान् पाप कार्य एक पवित्र वीतराग देव प्रतिमा के समक्ष किया जा रहा है ?

इस अन्ध श्रद्धा की पराकाष्ठा यहां तक देखी जाती है कि अनेक जगह सड़कों पर गड़े हुए मीलों की संख्या-सूचक पत्थरों के सामने हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं, दीपक से आरती उतारते तथा फल फूल चढ़ाते हैं और उन मील के पत्थरों के सामने अपने मन की अनेक कामनाएं करते हैं। यद्यपि शिक्षा का प्रचार होने से नवीन पीढ़ी ऐसी अज्ञानता से बची रहती है, परन्तु अशिक्षित स्त्री पुरुष अभी तक उस अज्ञान-अन्धकार से नहीं निकल पाये है।

अभी प्रयाग में जो कुम्भ का मेला हुआ था, उसके एक अन्ध श्रद्धा का आंखों देखा दृश्य एक विद्वान ने पत्रों में प्रकाशित कराया था, उसने लिखा था कि "मैंने एक स्थान पर एक तिलक छाप लगाये हुए एक व्यक्ति पुरोहित गुरू का रूप बनाये देखा, उसके साथ एक अच्छी सजी सजायी गाय थी। उसने लोगों की भीड़ में पहले संस्कृत श्लोक बोलते हुए उस गाय की पूजा की, आरती उतारी, उसके तिलक लगाया, फिर संस्कृत श्लोक गुनगुनाते हुए उसकी पूजा की। तदनन्तर उस गो पूजा के क्रियाकाण्ड को देखने वाले भोले यात्री स्त्री पुरुषों से कहा कि यह गौ माता मृत्यु के बाद नरक की वैतरणी से पार कर देगी। अभी जो व्यक्ति पाच रुपये भेंट करके इसकी पूंछ पकड़ लेगा मृत्यु के बाद यह गौ उस मनुष्य को वैतरणी नदी के किनारे पर खड़ी हुई मिलेगी उस समय भी इसकी पूंछ पकड़ लेना, यह गौ माता वैतरणी नदी में कूद कर तुमको दूसरे किनारे पहुँचा देगी।

उपस्थित लोगों में से अनेक अन्धश्रद्धालु स्त्री पुरुष सामने आ गये और पांच-पांच रुपये उस गाय के मालिक उस पुरोहित रूपधारी व्यक्ति को दे कर उस गाय की पूंछ पकड़ने लगे, सब से पहले जिस मनुष्य ने गाय की पूंछ पकड़ ली, उसने अधिक भेंट दी थी, बाद में ५-५ रुपये भेंट देने वालों में से एक मनुष्य ने उस मनुष्य के कन्धे पर हाथ रख लिया, तदनन्तर उसके पीछे पीछे क्रम से भेंट करने वाले स्त्री पुरुष एक दूसरे के कन्धे पर अपना हाथ रखते गये, इस तरह उस गाय की पूंछ से परम्परा सम्बन्ध जोड़ कर बैठने वाले स्त्री पुरुषों की एक लम्बी लाइन लग गई।

उसी समय एक गरीब अन्धश्रद्धालु के हृदय में भी वैतरणी पार करने की भावना जाग्रत हुई और उसने भी प्रयाग राज पर इस अवसर से लाभ उठाना चाहा किन्तु दुर्भाग्य से उसके पास पांच रुपये की व्यवस्था न थी, उस बेचारे के पास सारा जोड़ तोड़ ढाई रुपये का ही था, अतः उस ने वैतरणी पार कराने वाले उस गौ मालिक पुरोहित से नम्रता पूर्वक ढाई रुपये भेंट लेकर उस वैतरणी पार होने के इच्छुकों की पंक्ति मे लग जाने की प्रार्थना की, परन्तु उस पुरोहित ने इतना भाव गिरा देना उचित न

समझा, क्योंकि अन्य लोग ५ रुपये दे रहे थे, तब आधे मूल्य पर वह नये ग्राहक को वैतरणी पार करने का प्रमाण पत्र क्यों देता, अतः धर्माधिकारी ने उस भोले ग्रामीण गरीब भक्त को झिड़क दिया कि ढाई रुपये में वैतरणी पार नहीं हो सकती।" वैतरणी पार होने का यह दृश्य देखकर लोगों की अन्ध श्रद्धा का इस युग में जीता जागता उदाहरण मिलता है।

धर्म-साधना की ऐसी अन्धश्रद्धा में अपने घर वालों के दुराग्रह के कारण अच्छे शिक्षित पढ़े लिखे बुद्धिमान् लोगों को भी कभी कभी बुरी तरह फंस जाना पड़ता है। उस अन्धश्रद्धा के मूर्खतापूर्ण धर्माचरण में फंस कर ऐसे शिक्षित समर्थ समझदार लोगों को आत्म ग्लानि होती है, उनका मन उस जाल से निकलना चाहता है परन्तु रूढ़ि के दास उनके घर वाले दुराग्रह से उन्हे नहीं निकलने देते।

३०-३१ वर्ष पहले कलकत्ता से एक 'मतवाला' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित होता था, उसके समाचार, सम्पादकीय लेख, कहानी, अन्य लेख यहां तक कि विज्ञापन भी हास्यरस मे ही प्रकाशित हुआ करते थे। वह राष्ट्रीय तथा हिन्दू धर्म का समर्थक तथा पोषक था किन्तु पाखण्ड का खण्डन करने में न चूकता था। उसमे एक समाचार लगभग सन् १९२४ या १९२५ में के किसी अंक में प्रकाशित हुआ था। कि युक्त प्रदेश (उत्तर प्रदेश) का एक छोटा देशी राजा, जो कि हिन्दू विश्व विद्यालय का ग्रेजुएट (बी. ए.) था, अपनी वृद्ध माता तथा नव विवाहिता नवयुवती पत्नी के साथ बनारस में तीर्थ यात्रा करने आया। उसके कुल क्रम का निश्चित पण्डा उस राजपरिवार को गंगा स्नान कराने तथा विविध मन्दिरों का दर्शन कराने के लिये उसके साथ लग गया था। उस राजा ने जब गगा स्नान करके विश्वनाथ के दर्शन कर लिये, तब पण्डे ने अपनी भेंट उस राजा से मांगी।

राजा उसको १००) रुपया देने लगा, पंडे ने कहा कि नहीं, राजा साहब! प्रथा के अनुसार भेंट में आप मुझे अपनी रानी दे दें। पंडे की ऐसी अनुचित बात सुनकर उस युवक राजा ने पंडे की मरम्मत करने के लिये अपना हण्टर उठाया। उसी समय उसकी माता ने अपने पुत्र का हाथ पकड़ कर कहा कि 'तू तीर्थ में आकर यह क्या पाप करता है? पंडा ठीक तो कह रहा है, तू पहले अपनी बहू को इसे भेंट कर दे, फिर इस से रकम ठहरा कर अपनी बहू को वापिस ले लेना। तेरे पिता के साथ जब मैं यहां तीर्थयात्रा करने आई थी तब तेरे पिता ने भी मुझे इस पंडे के पिता को दान कर दिया था पीछे रुपये देकर मुझे वापिस ले लिया था, तुझे भी इस धर्म प्रथा का पालन करना पड़ेगा।'

युवक राजा ने कहा कि मैं ऐसी अन्धश्रद्धा को नहीं मानता। तब उसकी माता बोली कि यदि तुझे यह अन्धश्रद्धा दीखती है तो यहां तीर्थयात्रा करने क्यों आया था और मुझे क्यों लाया था? यदि इस धर्मप्रथा का पालन न करेगा तो मेरे भी अन्न पानी का त्याग है।

वृद्ध माता की हठ के सामने उसको झुकना पड़ा, उसने अनिच्छा से पंडे से कहा कि अच्छा मैने तुझे अपनी रानी दान की। तदनन्तर उसने पांच सौ रुपये पंडे को दिखलाते हुए रानी को वापिस मांगा। पंडा था निर्लज्ज, वह बोला कि मैं तो दान में मिली हुई चीज नहीं लौटाता। राजा को क्रोध तो बहुत आया परन्तु माता के डर से उस क्रोध को पी गया। और उसने अपनी दान की हुई रानी लौटाने के लिये क्रम से पंडे को रकम बढ़ानी शुरू की और १० हजार रुपये तक कह दिये, पंडा न माना। अन्त मे राजा ने कहा कि रानी के समस्त आभूषण लेकर रानी वापिस कर दे। पंडा इस पर भी राजी न हुआ।

तब वह राजा और अधिक रकम का प्रबन्ध करने के बहाने मोटर में बैठकर सीधा कलक्टर के पास पहुँचा और अपनी माता की मूर्खता-पूर्ण हठ के कारण आई हुई उलझन को सुलझाने के लिये कलक्टर की सहायता मांगी। अंग्रेज कलक्टर हंसा और उसने फोन उठाकर पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट से उस पंडे को हवालात में बन्द कर देने की आज्ञा दे दी।

पंडा हवालात में पहुंच कर रानी के आभूषण लेने पर राजी हो गया परन्तु पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट ने कहा कि अब सौदे का रुख पलट गया है, अब जरा तुम यहीं की वायु सेवन करो। तब पंडा रकम क्रम से १० हजार, ५ हजार, २॥ हजार आदि घटाता गया और रात भर हवालात में रहने पर ५००) रुपये लेने पर राजी हो गया। पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट ने कलक्टर की अनुमति लेकर उस राजा से पंडे को ५००) रुपये दिलाकर हवालात से बाहर किया।

इस तरह अनेक प्रकार की धर्म के नाम पर स्वार्थी लोगों ने अन्ध परम्परायें चालू कर रक्खी हैं।

प्रवचन नं० ७६

स्थान—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि—
प्रथम भाद्रपद शुक्ला ७ बुधवार, २६ अगस्त १६५५

भोगों का विषम रूप

भोग बुरे भव रोग बढ़ावें, वैरी हैं जग जी के,
नीरस होंय विपाक समय अति, सेवत लागें नीके।
बज्र अगनि विष से विषधर से, हैं अधिके दुखदाई,
धर्म रतन के चोर चपल अति, दुर्गति पन्थ सहाई॥

कविवर पं० भूधरदास जी ने अनुभूत भोगों की कलई इस छन्द में खोल कर रख दी है। वे गम्भीर अनुभव की बात कहते हैं कि 'ये संसार वर्ती पंच इन्द्रियों के विषय भोग संसारी जीवों का महान् अहित करने वाले महाशत्रु है। भोगते समय ये अच्छे लगते हैं परन्तु भोग लेने के बाद जीव की शक्ति क्षीण हो जाने पर बहुत नीरस प्रतीत होते हैं। बज्र, अग्नि, विष या विषधर सर्प से भी अधिक दुःख ये विषय भोग संसारी जीव को दिया करते है क्योंकि वज्र, अग्नि विष आदि तो जीव की भौतिक सम्पत्ति अथवा इस भौतिक शरीर का ही विनाश कर सकते हैं परन्तु ये विषय भोग जीव की आध्यात्मिक सम्पत्ति—धर्म निधि को चुरा लेते है और जीव को नरक पशु गति के मार्ग पर पहुँचा देते हैं।

इसके आगे पं० भूधरदास जी लिखते हैं—

मोह उदय यह जीव अज्ञानी, भोग भले करि जाने,
ज्यों कोई जन खाय धतरा, सो सब कंचन माने।

ज्यों ज्यों भोग संयोग मनोहर, मन वांछित जिय पावे,
तृष्णा नागिन त्यों त्यों डंकै, लोभ लहर विष लावे ॥

यानी—आत्मा का इतना अनिष्ट करने वाले इन पंच इन्द्रियों को यह संसारी जीव मोह के कारण सुखदायी समझता है, जैसे कि यदि किसी मनुष्य ने धतूरा खा लिया हो तो उसको अपने नेत्रों से सभी चीजें 'सोना' दिखाई देती हैं। ये मनोहर प्रतीत होने वाले विषय भोग भोगने के लिये ज्यों ज्यों इस जीव को प्राप्त होते जाते हैं त्यों त्यों ही लोभ वश इसकी लालसा और अधिक बढ़ती चली जाती है, इसे तृप्ति नहीं होती।

बनारस में एक अच्छे शिक्षित ब्राह्मण युवक ने एक बार एक बनी ठनी यौवन मद में चूर सुन्दरी वेश्या को देखा, वह उसे देखते ही उसके ऊपर आसक्त हो गया और उसे कम से कम एक बार अपनी विषय-वासना तृप्त करने की तीव्र इच्छा उसके चित्त मे जाग्रत हुई। वह कुछ साहस करके उसके निकट गया, तो उसके पहरेदार से पता चला कि वेश्या से एक बार अपनी वासना तृप्त करने के लिये कम से कम १००) सौ रुपये वेश्या को भेंट करने के लिये चाहिये। सौ रुपये का नाम सुनकर वह गरीब ब्राह्मण युवक चुपचाप निराश होकर अपने घर वापिस लौट आया।

अपने घर आ कर उदास होकर अपनी चारपाई पर लेट गया, उसकी तरुणी सुन्दरी सती पत्नी ने उससे पूछा कि इस उदासी का कारण क्या है, भोजन तो कर लो। ब्राह्मण युवक ने भोजन तो कर लिया किन्तु उदासी का कारण न बताया और फिर चारपाई पर लेट गया।

बहुत आग्रह करने पर जब उसकी पत्नी ने पूछा तो उस युवक ने अपनी पत्नी से वेश्या में मन आसक्त हो जाने का सब वृत्तान्त कह सुनाया। उसकी बुद्धिमती पत्नी ने अपने पति की निराशा और उदासी दूर करने के लिये उसे बहुत समझाया, परन्तु उसके पति की समझ में कुछ भी न आया, उसका चित्त उदास ही बना रहा।

तब उसकी पत्नी साहस रखकर उस वेश्या के घर पहुंची और अपना परिचय देकर उसने अपने पति की उदासी का सब हाल वेश्या को सुनाया और अपने पति को सुमार्ग पर लाने में उससे सहायता मांगी। ब्राह्मण युवती की बात सुनकर उस वेश्या का हृदय पिघल गया उसे उस पतिव्रता ब्राह्मणी पर दया आई और उसने ब्राह्मणी से कहा कि जा अपने पति को मेरे पास भेज दे। साथ ही अपने पहरेदार को भी कह दिया कि एक ब्राह्मण युवक आवेगा, उसको सीधा मेरे पास आने देना।

वह ब्राह्मण युवती अपने घर गई और अपने पति से बोली कि मैं उस वेश्या के पास तुम्हारी इच्छा तृप्त करने का प्रबन्ध कर आई हूँ, तुम उसके पास चले जाओ और अपनी उदासी दूर करो, अब तुम्हें पहरेदार न रोकेगा। अपनी पत्नी की इस सहानुभूति का उस युवक के हृदय पर बहुत प्रभाव पड़ा किन्तु एक बार वेश्या के साथ कामवासना शान्त करने के लिये चल पड़ा।

वेश्या ने उस ब्राह्मण युवक का स्वागत किया और बड़े आदर सत्कार से उसको अपने पास बिठाया, उससे मधुर भाषा में बातचीत करती रही। उसके मन की उदासी दूर करने के लिये उसके साथ शतरंज खेलने बैठ गई। शतरंज खेलते खेलते बहुत देर हो गई, तब उस ब्राह्मण को प्यास लगी उसने

वेश्या से पीने के लिये जल मांगा वेश्या ने बड़े उत्साह के साथ उठकर उस युवक के सामने दो स्वच्छ गिलासों में जल ला कर उसके सामने रख दिया, और बड़े मीठे शब्दों में बोली कि आप कौन से गिलास का जल पीना चाहते हैं ?

ब्राह्मण ने पूछा कि क्या दोनों गिलासों के जल में कुछ अन्तर है ?

वेश्या ने उत्तर दिया 'जी हां, इस गिलास में खारा पानी है, इस पानी को पीने से आपकी प्यास और अधिक तीव्र हो जायगी और दूसरे गिलास में मीठा पानी है, इसको पीने से आपकी प्यास बुझ जावेगी। ब्राह्मण युवक मीठे जल का गिलास उठाने लगा। तब वेश्या ने बहुत नम्र भाषा में ब्राह्मण से कहा कि—

'यदि तुम को मीठे पानी से ही अपनी प्यास बुझानी है तो यहां पर क्यों आये हो, मीठा जल तो तुम्हारे घर पर तुम्हारी पत्नी मुझ से भी अधिक सुन्दरी, भोली, पतिव्रता तरुणी है। यहां तो तुमको खारा पानी मिलेगा, एक बार भी मेरे साथ आपने अपनी काम-प्यास बुझाने का यत्न किया कि फिर आपको यह कामप्यास और अधिक बेचैन करेगी जिसको बुझाने के लिये आपके पास रुपयों का प्रबन्ध नहीं हैं। दूसरी बार तो आप यहां बिना रकम लाये नहीं आ सकते, तब आपकी बेचैनी आपको और अधिक दुःख देगी। इतना कह कर उस वेश्या ने अपने शरीर के ऊपरी भाग के वस्त्र हटा कर युवक से कहा कि युवक ! तुम अच्छी तरह देख लो कि मेरे शरीर में तुम्हारी पत्नी से भी कुछ अधिक सुन्दरता है ? यदि देखना चाहो तो अपने नीचे के वस्त्र उतार कर तुमको अपना निचला शरीर भी खोलकर दिखा दूं ?

ब्राह्मण युवक ने वेश्या का आधा नंगा शरीर देखा और देखकर बहुत लज्जित हुआ तथा बिना कुछ उत्तर दिये चुपचाप सीधा अपने घर चला गया।

वेश्याओं की ऊपरी बनावटी सुन्दरता के ही समान अन्य विषय भोगों का हाल है, वे दूर से बहुत मनोहर प्रतीत होते हैं किन्तु उनमें भीतर वैसी सुन्दरता नहीं होती। मुलम्मा दूर से उतना सुन्दर दिखाई पड़ता है कि उसके सामने सोना भी हेय दिखाई देता है, परन्तु कुछ ही समय में काला पड़ जाता है। नकली रत्न (कांच का बना हुआ) हीरे से भी ज्यादा चमक देता है, परन्तु उसकी वह चमक कुछ दिन ही रहती है। गुड़िया देखने में कितनी सुन्दर दिखाई देती है परन्तु उसके भीतर चीथड़े भरे हुए होते हैं।

भीतर की बदसूरती छिपाने के लिये ही ऊपर चमक दमक, की पालिश की जाती है। मनुष्य स्त्री के जिस शरीर या शरीर के जिस अङ्ग उपाङ्ग को देखकर रीझ जाता है अथवा स्त्री मनुष्य के शरीर को देखते ही उस पर आसक्त हो जाती है उस स्त्री तथा पुरुष के शरीर में रीझने योग्य चीज कौनसी है। जिस टट्टी, पेशाब, कफ, थूक, मांस, चर्बी, हड्डी, पीप आदि पदार्थों से स्त्री पुरुष घृणा करते हैं वे सब अपवित्र घृणित पदार्थ ही तो इस शरीर में भरे हुए हैं। यदि चमकीले चमड़े की चादर से शरीर को ढका जावे तो कोई शरीर को देखना भी न चाहे, उस पर चारों ओर से मक्खियां भिनभिनाने लगें।

ज्ञानार्णव ग्रन्थ के रचयिता श्रीशुभचन्द्र आचार्य का भाई श्री भर्तृहरि राजा अपने समय का

अच्छा प्रसिद्ध न्यायी राजा हुआ है, वह अपना अच्छा राजपाट और सुन्दर तरुण रानी को त्याग कर साधु बना था उसकी संक्षिप्त कथा यों है—

राजा भर्तृहरि को अपनी छोटी रानी पिङ्गला पर बहुत प्रेम था, पिङ्गला बहुत सुन्दरी तरुणी, मधुरभाषिणी नारी थी। एक दिन एक ब्राह्मण को कहीं से एक अमरफल मिला, जिसको खालेने से शरीर जीवन भर सुन्दर सुडौल बना रहता, बुढ़ापे के चिन्ह शरीर में प्रकट नहीं होते। ब्राह्मण ने वह फल पाकर मनमें विचार किया कि मैं इस फल को खाकर क्या करूंगा, मेरा शरीर क्या इतना उपयोगी है? यदि राजा भर्तृहरि इस फल को खा लेवें तो उससे सारी प्रजा को लाभ होगा वह बड़ा धर्मात्मा न्यायप्रिय राजा है, अतः यह फल मै उसी को भेंट करूं। यह सोच कर उसने वह फल राजा भर्तृहरि को भेंट कर दिया।

राजा भर्तृहरि को रानी पिङ्गला से अतिशय प्रेम था, अतः वह अमरफल स्वयं न खाया, प्रेमवश अपनी रानी पिङ्गला को जाकर दे दिया।

रानी पिङ्गला ने एक अपने अश्वपाल (घुड़सार के अधिकारी) को सज धज कर घोड़े पर सवार हुआ देखा था, उसे देखते ही वह उसके ऊपर आसक्त हो गई थी और दासी द्वारा उस अश्वपाल को गुप्त रूप से बुलाकर कामातुर हो लुके छिपे उसके साथ व्यभिचार किया करती थी। अतः पिङ्गला रानी ने वह अमरफल स्वयं न खाया, बल्कि अपने प्रेमी उस अश्वपाल को उसने भेंट कर दिया।

उस अश्वपाल की मित्रता नगर की वेश्या से थी, वेश्या को वह बहुत प्रेम करता था और प्रतिदिन अपनी काम वासना शान्त करने के लिये उस वेश्या के यहां जाया करता था। अतः उसने वह अमरफल स्वयं खाना उचित न समझकर अपनी परम प्रेयसी उस वेश्या की सुन्दरता स्थिर रखने के लिये अश्वपाल ने वह फल उस वेश्या को जाकर दे दिया।

वेश्या ने वह फल अपने प्रेमी अश्वपाल के हाथ से ले तो लिया, परन्तु उसने सोचा कि मैं रात दिन व्यभिचार करके पाप कमाती हूं, अन्य पुरुषों को पथ-भ्रष्ट करती हूँ, अमरफल खाकर और अधिक पाप लीला करूंगी, इससे मेरा भी अहित होगा और संसार का अहित होगा इस कारण मुझे यह फल खाना उचित नहीं, यह फल तो धार्मिक, प्रजापालक राजा भर्तृहरि के योग्य है। ऐसा विचार करके वेश्या राज-सभा में पहुंची और उसने वह अमरफल राजा को भेंट कर दिया।

भर्तृहरि ने अमरफल वेश्या के हाथ से लेकर, चकित हो वेश्या से पूछा कि तेरे पास यह फल कैसे आया? वेश्या ने कहा कि आपके अश्वपाल ने मुझे दिया है।

भर्तृहरि ने तब अश्वपाल को बुलाया और उससे पूछा कि यह अमरफल तेरे पास कहां से आया? सत्य बतादे, तुझे क्षमा कर दूंगा। अश्वपाल ने टूटे फूटे स्वर में कहा कि रानी पिङ्गला ने मुझे दिया था।

भर्तृहरि को अपनी प्राणप्रिया पिङ्गला रानी की पाप लीला जान कर, पिङ्गला तथा अपने ऊपर बहुत घृणा हुई। उसे संसार के विषय भोगों से वैराग्य हो गया, तब उसने यह श्लोक कहा कि—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता,
साप्यन्यमिच्छति जनं सजनोऽन्य सक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ।

अर्थात्—मैं जिस रानी पिङ्गला की बड़े प्रेम से चिन्ता करता हूं, उस रानी पिङ्गला को मुझसे प्रेम नहीं है, मुझसे विरक्त है। वह दूसरे को (अश्वपाल को) हृदय से चाहती है। किन्तु वह अश्वपाल वेश्या में आसक्त है। वह वेश्या मुझको अच्छा समझती है। इस तरह उस रानी पिङ्गला को, उस स्वामि-द्रोही अश्वपाल को, उस वेश्या को, काम वासना को और मुझको धिक्कार है।

इतना कहकर राजा भर्तृहरि संसार से विरक्त होकर राज-पाट को छोड़कर साधु बन गया। उसने वैराग्य शतक मे अपने अनुभव के रूप में बहुत सुन्दर लिखा है—

'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः।'

यानी—हमने विषय भोगों को नहीं भोगा, विषय भोगों ने ही हमको भोग लिया। सो सर्वथा ठीक है। मनुष्य विषय भोगों में अपनी शारीरिक शक्ति तथा आध्यात्मिक शक्ति व्यय करके निःसत्व हो जाता है। इसी कारण प्राचीन समय में भरत, वज्रदन्त, सगर आदि चक्रवर्ती चन्द्रगुप्त आदि सम्राट, सुकुमाल, जम्बूकुमार आदि अनेक वीर तथा धनिक सेठ राज्य धन वैभव को लात मार कर नग्न मुनि बन गये और कठोर तपस्या करके उन्होंने आत्म-शुद्धि की।

प्रवचन नं० ८०

स्थान—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि—
प्रथम भाद्रपद शुक्ला ८ वृहस्पतिवार २४ अगस्त १९५५

सङ्गति

अनादि समय से जिस तरह संसार चला आ रहा है, संसार-वर्ती सभी पदार्थ अनादि काल से चले आ रहे हैं जिस तरह गंगा नदी का प्रवाह सतत चालू रहता है कभी टूटता नहीं है, जलराशि का जो अंश वह चला है वह बहता बहता समुद्र में जा पहुँचता है, उसके स्थान पर अन्य जलराशि आ जाती है, वह भी बहते २ आगे चलती जाती है और पीछे २ का उस आगे आगे बहने वाले जल का स्थान लेता जाता है, इसी तरह ससार की परम्परा चल रही है, अनादि काल के वे ही मनुष्य, पशु, पक्षी, देव, नारकी अब तक वैसे ही नहीं बने हुए हैं, कुछ कुछ समय बाद अपनी अपनी आयु समाप्त करके वे अन्य गति में चले जाते हैं और उनके स्थान पर अन्य व्यक्ति आजाते है, मनुष्य की परम्परा इसी तरह प्रपितामह, पितामह, पिता पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र के रूप में चलती चली जा रही है, समस्त जीव भी वैसी ही परम्परा से संसार में जन्म मरण करते ८४ लाख योनियों का चक्कर लगाते हुए चले आ रहे हैं।

जिस तरह अनादि काल से संसार की परम्परा चली आ रही है इसी तरह मुक्ति की तपस्या भी अनादि काल से चल रही है। बहुत से भव्य प्राणी मुनिव्रत धारण करके कठोर तपश्चरण करके कर्मजाल काटकर मुक्त होते रहे हैं। इस तरह संसार और मोक्ष की परम्परा चली आ रही है।

संसार का मूल कारण मिथ्या श्रद्धान, अज्ञान, असंयम ससारी जीवों मे अनादि काल से चला आ रहा है जिससे कि ससारी जीव कर्मजाल में फंसे हुए जन्म मरण करते चले आ रहे है, इसी तरह सत्यश्रद्धा, सत्यज्ञान, सत्आचरण भी अनादिकाल से चले आ रहे हैं जिनके कारण संसारी जीव आत्म-शुद्धि करके मुक्त होते रहे हैं।

यद्यपि मुक्ति परम्परा भोगभूमि के क्षेत्रों में प्रचलित नहीं और हमारे भारत क्षेत्र तथा ऐरावत में परिवर्तनशील ६ कालों में से केवल 'दुःषमसुषमा' काल मे ही चलती है परन्तु देवकुरु उत्तरकुरु के सिवाय शेष विदेह क्षेत्र में मुक्ति परम्परा सतत चालू रहती है, उस विदेह क्षेत्र मे तीर्थंकर सदा होते रहते है और तीर्थंकरों के प्रभाव से मुनि परम्परा तथा मुक्ति परम्परा सतत अविच्छिन्न रूप से बनी रहती है।

सारांश यह है कि आत्मा का कल्याण करनें वाली धर्म की सत्ता सदा से चली आरही है उस धर्म परम्परा का बीज सदा अंकुरित होता रहता है और अपने मीठे फल संसारी जीवों को प्रदान करता रहता है तथा अधर्म का बीज भी संसार से कभी समूल नष्ट नहीं हुआ वह भी अंकुरित होता रहता है, फलता है, फूलता है और अपने कड़वे फल से संसारी जीवों को खिलाता रहता है। इस तरह धर्म, अधर्म, सम्यक्त्व मिथ्यात्व, ससार, मुक्ति किसी विशेष समय से चालू नहीं हुए, अनादि परम्परा से बराबर चले आ रहे हैं, इसी कारण जीवों का जन्म मरण और मुक्ति गमन भी अनादि काल से चल रहा है।

इस अनादि कालीन संसार भ्रमण परम्परा तथा मुक्ति परम्परा के कुछ तो स्वाभाविक कारण हैं, जैसे कि जीव के भव्यत्व पारिणामिक भाव के कारण भव्य प्राणियों में सम्यग्दर्शनादि आत्मगुण प्रकट होकर मुक्त होने की स्वाभाविक योग्यता होती है, जैसे कि स्त्रियों में सन्तान उत्पन्न करने की स्वाभाविक शारीरिक योग्यता होती है, उस योग्यता के रहते हुए यदि उन स्त्रियों को अपने पति का संयोग मिल जाता है तो वे सन्तान उत्पन्न करती हैं। यदि दुर्भाग्य से किसी कुलीन विवाहित महिला को पति सयोग होने से पहले वैधव्य आ जावे तो बाल विधवा होने के कारण सन्तान उत्पन्न करने की योग्यता होने पर भी वे सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकतीं। इसी तरह जिन भव्य जीवों को क्षयोपशम आदि पांचों लब्धियां प्राप्त हो जाती हैं उनको सम्यक्त्व, ज्ञान, चरित्र के द्वारा मुक्ति प्राप्त हो जाती है और जिन भव्यों को पाचों लब्धियों का योग नहीं मिल पाता उनमें योग्यता रहते हुए भी सम्यग्दर्शनादिक मुक्ति के कारण भत गुण प्रकट नहीं होते।

तथा जो महिलाएं स्वाभाविक शारीरिक अयोग्यता के कारण बन्ध्या होती हैं, वे जन्मभर पति संयोग पाकर भी गर्भ धारण नहीं करतीं, उसी तरह अभव्य जीवों में स्वाभाविक अयोग्यता के कारण करणलब्धि के सिवाय चारों लब्धियों का योग मिलने पर भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र गुणों का प्रादुर्भाव नहीं होता।

इस मुक्ति की सिद्धि तथा असिद्धि में स्वाभाविक योग्यता के सिवाय अन्य कारण भी हैं, उन

कारणों में एक उल्लेखनीय कारण 'सङ्गति' है। धार्मिक व्यक्तियों की सङ्गति से मनुष्यों में ही क्या पशुओं में भी धार्मिक भावना जाग्रत हो उठती है। तीर्थंकरो के सहवास में रहने वाले भव्य स्त्री पुरुष संयम ग्रहण करके अपने योग्य सिद्धि पा लेते हैं। मुनियों के सम्पर्क में रहने वाले व्यक्ति यदि मुनि नहीं बन पाते हैं तो मुनियो जैसे अनेक शुभ आचरणों के अभ्यासी तो हो ही जाते हैं। सिंह आदि क्रूर पशु भी अहिंसा का पूर्ण आचरण करने वाले मुनिराजों के समागम से अपनी दुष्ट भावना छोड़ कर अहिंसक बन जाते हैं।

दिवङ्गत चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी महाराज द्रोणगिरि में रात्रि को सो रहे थे तो एक शेर आकर आचार्य महाराज के पास बैठ गया। महाराज जब ब्राह्ममुहूर्त मे (सूर्योदय से दो घंटे पहले) सामायिक करने के लिये उठे तब भी वह बैठा रहा, वे सामायिक करते रहे, शेर वहीं उनके निकट शान्ति से बैठा हुआ उनकी ओर देखता रहा, जब सूर्य का उदय हुआ तब वह चुपचाप वन मे चला गया।

अन्तिम श्रुत केवली भद्रबाहु आचार्य श्री गोवर्धन स्वामी के पास बचपन से ही पढ़ते रहे तो वे भी श्रुत केवली बन गये। पांच वर्ष की आयु से ही श्री जिनसेन वीरसेनाचार्य के पास अध्ययन करते रहे तो आठ वर्ष की आयु में ही मुनि बन गये, विद्या अध्ययन करके अनेक विषयों के पारङ्गत विद्वान् हो गये। ऐसी अनेक ऐतिहासिक घटनाएं शास्त्रों में पढ़ने को मिलती है।

इसके सिवाय अन्य धार्मिक व्यक्तियों की संगति में रहने वाले स्त्री पुरुष भी धमात्मा बन जाते है। शिकार खेलने वाला कुपथगामी राजा श्रेणिक (बिम्बसार) अपनी धर्मात्मा पत्नी चेलना की सङ्गति से ही भगवान् महावीर का महान् भक्त धर्मात्मा बन गया।

इसी तरह कुसंगति मिलने पर स्त्री पुरुषों मे अनेक तरह के दुर्गुण प्रगट हो जाते हैं। जन्म से कोई भी व्यक्ति हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदि पाप कार्य करने का अभ्यासी नहीं होता है, परन्तु बचपन से जिस व्यक्ति को जैसा कुसङ्ग मिल जाता है, वैसा ही दुराचार उसमें प्रकट होने लगता है। अच्छे कुलीन सम्पन्न घरों के लड़के चोरों के सहवास से चोरी करना सीख जाते हैं। शिकार खेलने वाले, हिंसक मनुष्यों की सङ्गति मे रहने वाले व्यक्ति जीव हिंसा तथा मांस भक्षण के अभ्यासी बन जाते हैं। व्यभिचारी स्त्री पुरुषों के सम्पर्क में रहने वाले सदाचारी स्त्री पुरुष भी पर-पुरुष गामिनी तथा परदार-लम्पट बन जाते हैं। विश्वासघाती, झूठ बोलने वाले व्यक्तियो के प्रभाव से उनके निकट रहने वाले अन्य व्यक्ति असत्य बोलने के अभ्यासी बन जाते हैं। शराबियों, भङ्गेड़ियों, सुलफेबाजों की संगति से ही दूसरे मनुष्य शराब पीना, भांगपीना, सुलफापीना सीख जाते हैं। जुआरियों के समागम से लोगों में जुआ खेलने की आदत पड़ जाती है।

इतिहास-प्रसिद्ध सेठ चारुदत्त बचपन में गुरुकुल में रहकर पढ़ते रहे, सांसारिक दूषित वातावरण से दूर रहे आये। इसी कारण युवा होने पर भी कामवासना से अनभिज्ञ अखण्ड ब्रह्मचारी बने रहे। जब उनका विवाह हो गया, तब अपनी पत्नी के साथ सोते हुए भी उससे कामक्रीड़ा न करते थे, पहले की तरह ब्रह्मचर्यव्रत से ही सोते थे, उनके इस अखण्ड ब्रह्मचर्य की वार्ता जब उनकी पत्नी द्वारा उनकी सास को, मालूम हुई, तब व्याकुल होकर उसने चारुदत्त की माता से विवाहित चारुदत्त के ब्रह्मचर्य का जिक्र किया।

विवाह हो जाने पर भी अपने नवयुवक पुत्र चारुदत्त का काम वासना से अनभिज्ञ रहना चारुदत्त की माता को भी अच्छा न लगा। उसका देवर वेश्यागामी था, नगर की प्रसिद्ध वेश्या वसन्त-सेना के पास अपनी कामवासना शान्त करने के लिये प्रतिदिन जाया करता था। चारुदत्त की माता ने उससे समस्त बात कही और उससे प्रेरणा की कि किसी तरह वह चारुदत्त के हृदय में कामवासना उत्पन्न करने की चेष्टा करे। अपनी भाभी की बात मानकर उसके देवर ने एक योजना बनाई, और चारुदत्त को अपने साथ लेकर नगर में घूमने गया। योजना के अनुसार वे दोनों जब वसन्तसेना वेश्या के घरके निकट पहुचे तब वहांपर दो हाथियों का आपस में बनावटी युद्ध हो गया। इस कृत्रिम और आयोजित दुर्घटना से बचने के लिए चारुदत्त को उसका चाचा वसन्तसेना के घर में ले गया।

वसन्त सेना तो उसके चाचा से बातें करने लगी और वसन्तसेना का इशारा पाकर उसकी नवयुवती पुत्री वसन्ततिलका चारुदत्त को बातों में लगाकर अपने सुसज्जित कमरे मे लिवा ले गई वहां पर उसे अपने पलंग पर आदर से बिठाकर उसके साथ चौपड़ खेलने लगी, खेलते खेलते अपनी मनमोहक चेष्टाओं से चारुदत्त का चित्त अपनी ओर आकर्षित करने लगी। कुछ ही देर में उसने अखण्ड ब्रह्मचारी चारुदत्त के हृदय में कामवासना ऐसी जाग्रत करदी कि वह उसके जाल मे पूरी तरह फंस गया। उसने रात दिन उसी वेश्या-पुत्री के पास रहना आरम्भ कर दिया। वेश्या के कहे अनुसार चारुदत्त ने अपनी समस्त सम्पत्ति उस वेश्या को दे डाली। चारुदत्त को अपनी माता तथा पत्नी की दरिद्रता पर लेशमात्र दु.ख न हुआ।

चारुदत्त के घर जब कुछ न रहा, और उसके यहां से रकम आनी बन्द हो गई तब वसन्तसेना ने अपनी पुत्री से कहा कि अब चारुदत्त के पास कुछ नहीं रहा है इसलिये तू इसको छोड़ दे। परन्तु उसकी पुत्री ने प्रतिज्ञा करली थी कि मैं जन्म भर चारुदत्त के सिवाय अन्य किसी के साथ काम क्रीड़ा नहीं करूंगी, अतः उसने चारुदत्त से सम्बन्ध तोड़ना अस्वीकार कर दिया। तब वसन्तसेना ने एक दिन चारुदत्त को तेज शराब पिला दी। रात को उसकी पुत्री सो गई, और चारुदत्त नशेमें बेहोश था, तब वसन्तसेना ने चारुदत्त को अपनी टट्टीमें पटक दिया।

सारांश यह है कि चारुदत्त गुरुकुल में सदाचारी लोगों की संगति में अखण्ड ब्रह्मचारी बना रहा और वेश्या के सम्पर्क से महा व्यभिचारी बन गया। इस तरह सत्संगति मनुष्य को सदाचारी सभ्य बना देती है और कुसगति मनुष्य को दुराचारी बना डालती है।

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति, ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः।
आस्वाद्यतोयाः प्रभवन्ति नद्यः, समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः॥

यानी—ब्रह्मचर्य आदि गुण, गुणी पुरुषों के समागम से गुण बने रहते हैं और दुर्गुणी पुरुषों की संगति से वह भी दोष व्यभिचार आदि के रूप में दोष बन जाते हैं। जैसे पानी जब तक नदियों में रहता है तब तक तो वह पीने योग्य मीठा बना रहता है, और जब वह पानी समुद्र की सगति में जा पहुंचता है तब वह खारा बन जाता है, पीने योग्य नहीं रहता।

काचः काञ्चनसंसर्गाद्, धत्ते मारकतीं द्युतिम्।
अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितम्॥

यानी—कांच के टुकड़े को सोने की अंगूठी में जड़ दिया जावे तो सोने की सङ्गति में वह कांच हीरा-जैसा चमकता है। साधारण पत्थर यदि अच्छे मूर्तिकार शिल्पी के हाथ में पहुँच जावे तो उसकी संगति से देव रूपमें प्रतिष्ठा पा लेता है।

इस तरह संगति का प्रत्येक पदार्थ पर महान् प्रभाव पड़ता है।

कदली सीप भुजंगमुख, स्वाति एक गुन तीन।
जैसी संगति बैठिये, तैसोई गुन दीन॥

अर्थात्—स्वाति नक्षत्र के उदय में बादल से गिरी हुई पानी की बूंद केले में गिरकर कपूर बन जाती है, सीप में गिरकर मोती बन जाती है, और सर्प के मुख में पड़कर विष बन जाती है। इसी तरह जैसी संगति में मनुष्य बैठता है उसी के अनुसार गुण, अवगुण मनुष्य में प्रकट होते हैं।

अतः मनुष्य को अपना जीवन सुखमय यशस्वी बनाने के लिये अच्छे धार्मिक गुणी पुरुषों की संगति मे रहना चाहिये जिससे प्रशंसनीय गुणों का विकास हो, धर्म भावना जाग्रत हो, सभ्यता आवे, दुर्गुण दूर रहे। कदाचार पास न आवे, सदाचार में वृद्धि हो।

प्रवचन नं० ८१

स्थान—
श्री दिगम्बर जैन लाल मन्दिर, दिल्ली।

तिथि—
प्रथम भाद्रपद शुक्ला ६, शुक्रवार २५ अगस्त १९५५

धर्म—प्रचार

जनता लोह हथियारों से तथा पत्थर के प्रहारों से नारियल को तोड़ा करती है, बादाम को तोड़ने के लिये भी लोहे और पत्थर के टुकड़ो से बादामों पर चोट करनी पड़ती है। ऐसे भीषण प्रहार किशमिश दाखपर कोई भी नहीं करता। इसका कारण यह है कि नारियल ने लोक-उपकारी अपनी गिरी बड़ी भारी रक्षा के साथ मोटे मजबूत छिलकों के भीतर छिपा रक्खी है, उस लोक-उपकारिणी गिरी को बाहर निकलवाने के लिये लोग नारियल को लोहे और पत्थरों से मारते कूटते हैं। बादाम पर भी पत्थर लोहे की मार इसी कारण पड़ती है कि उसने भी अपनी मीठी, पोषक गिरी को मोटे छिलके के आवरण से छिपाकर रक्खाहुआ है। परन्तु किशमिश ने अपने मधुर रस को किसी भी मोटे या पतले छिलके से छिपाने का प्रयत्न नहीं किया इसलिये उसको ऐसी चोटें खाने का अवसर नहीं आता।

जगत का सबसे अधिक लाभ करने वाला, प्राणी मात्र का उद्धार करने वाला, साधारण आत्मा को

महात्मा और परमात्मा बना देने की क्षमता रखने वाला, सदाचार की आरम्भ से लेकर सर्वोच्च सीमा तक ग्रहण, धारण, पालन, रक्षण करने की प्रक्रिया स्पष्ट रूप से बनाने वाला जैनधर्म है। जिसको कि हमारे पूज्य तीर्थंकरों ने अपने सांसारिक सुखमय राज्य, भोग, परिवार का परित्याग करके शारीरिक मोह से विरक्त होकर वन, पर्वत, गुफा आदि एकान्त प्रान्त में कठोर तपस्या और महान् परीषह सहन करने के पश्चात् आत्मा की पूर्ण शुद्धि के अनन्तर स्व-अनुभव से प्राप्त किया था और उस विश्व-हितकारी धर्म को जनता के समक्ष बड़ी उदारता के साथ जन साधारण की वाणी में रख कर उस जैनधर्म का महान प्रचार किया था।

यद्यपि महात्मा बुद्ध ने शिष्य संख्या वृद्धि के लोभ में अपने अनुयायियों को मांस खाने की छूट दे दी थी जिससे अहिंसा प्रचारक बौद्ध साधुओ तथा गृहस्थों मे मासभक्षण का प्रचार उनके समय में भी बना रहा और उनके पीछे बौद्ध जनता मांस भक्षण करती रही, आज तो वह मांस भक्षण बौद्धों मे और भी अधिक पाया जाता है। यह मांस भक्षण की प्रवृत्ति श्रमण सस्कृति के लिये एक बहुत अनुचित बात हुई।

परन्तु जैनधर्म के अन्तिम प्रचारक तीर्थंकर भगवान् महावीर ने अहिंसा धर्म के प्रचार चारित्र सम्बन्धी ऐसी कोई भी बुराई जैन धर्म में न आने दी, उन्होंने अपने अधिक शिष्य बनाने के उद्देश्य को प्रधानता दी, उन्होंने आत्मशुद्धि और उसके साधनभूत सच्चारित्र की शुद्धता पर मुख्य ध्यान दिया, और हिंसा का अथवा अभक्ष्य भक्षण द्वारा हिंसा के लेशमात्र आचरण को भी अपनी परम्परा में न आने दिया, इसी का यह सुपरिणाम है कि श्रमण सस्कृतियों में जैन श्रमण सस्कृति प्राचीन समय में भी शुद्ध बनी रही और आज भी पूर्ण शुद्ध बनी हुई है।

परन्तु विश्व-उद्धारक उस जैनधर्म का प्रचार जिस तरह भगवान् आदिनाथ से लेकर भगवान् महावीर तक हमारे परम पूज्य २४ तीर्थंकरों ने तथा उनके उत्तरवर्ती उनकी शिष्य परम्परा ने किया और उसे विश्व व्यापक बनाया-वह व्यापक प्रचार आज नहीं पाया जाता। विभिन्न धर्मानुयायी अपने गुड को भी मिश्री के रूप में संसार के सामने अपने अपने धर्म का प्रचार कर रहे हैं, तब जैन समाज अपने मिश्री के समान अन्दर बाहर से पूर्ण मिष्ट जैनधर्म को भी संसार के समक्ष यथेष्ट रूप रखने में संकोच कर रहा है। जैन समाज का यह महान् अपराध है और इस अपराध का परिणाम कठोर बादाम नारियल की तरह अवश्य भुगतना पड़ेगा, दण्ड केवल शारीरिक मार पीट का ही नहीं होता है। धिक्कार, घृणा का दण्ड भी सज्जन पुरुष के लिये बड़ा भारी एवं असह्य होता है।

यद्यपि यह ठीक है कि जैनधर्म प्रारम्भ से ही उन सांसारिक भोगों के ऊपर कड़ा नियन्त्रण लगाता है जिनका कि जनसाधारण बहुत अभ्यासी होता है। मद्य, मांस, यथेच्छ मैथुन की ओर प्रायः सभी स्त्री पुरुष आकर्षित होते हैं, उनका बिना रोक टोक उपयोग करना चाहते हैं, अतः जैनधर्म का आचरण जनता अपने लिये कठिन समझती है, इसी कठोरता के विचार से अधिकतर जनता जैनधर्म को श्रेष्ठ जानते हुए भी उसके आचरण से दूर रह जाती है। परन्तु इसके सिवाय जैन समाज भी जैन धर्म के प्रचार के लिये अपने कर्तव्य पालन में बहुत पीछे है। यह उक्ति बिलकुल ठीक है कि—

'जनता झुकती है, कोई झुकाने वाला होना चाहिये।'

जैन समाज में आज न तो यथेष्ट जनता को जैनधर्म की ओर झुकाने वाले हैं और इसी कारण जैन धर्म की ओर साधारण जनता का झुकाव नहीं है। जैनधर्म का जनता में अधिक व्यापक प्रचार न हो सकने के विषय में महान् जैन विद्वान् ऋषि श्री समन्तभद्र आचार्य ने अनुभव की बात लिखी है—

कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा, श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनान योवा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः॥

अर्थात्—हे भगवन्! आपका जगतहितङ्कर धर्म जो विश्वव्यापक नहीं बन पाया है उसके तीन कारण हो सकते हैं—१—या तो यह कलिकाल की महिमा कि इस काल में लोकहितकारी सत्य धर्म का प्रसार कठिन हो गया है। २—उपदेश सुनने वाली जनता का हृदय इतना कलुषित बन गया है कि वह आत्म-कल्याण की ओर रुचि नहीं दिखाता। अथवा तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि आप प्ररूपित जैन धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करने योग्य प्रभावशालिनी वाक्शक्ति जैनवक्ताओं में नहीं रही।

पूर्वोक्त दो कारणों का सुधार करना तो हमारे हाथ की बात नहीं, क्योंकि कलिकाल को हम किसी तरह चौथाकाल नहीं बना सकते, परन्तु इतना अवश्य है कि इस कलिकाल में सत्य खोजी, भद्र परिणामी सज्जनों की कमी नहीं है, पर्याप्त जनता सत्य धर्म पर चलने के लिये लालायित है, उसको जैसा मार्ग मिल जाता है उस पर चलने लगती है। यदि कोई प्रचारक उस जनता के समक्ष जैनधर्म सत्य सिद्धान्तों का ठीक अच्छे ढंग से प्रचार करे तो इस काल में भी वह भद्र जनता जैनधर्म को हृदय से स्वीकार कर सकती है, आचरण भी कर सकती है।

यह बात अवश्य है कि लोग प्रायः मनोरंजन, विषयभोगों की ओर दौड़ते हैं, अपने आहार-विहार खान पान पर अधिकतर स्त्री पुरुष किसी तरह का प्रतिबन्ध लगाना पसन्द नहीं करते। और जैन-धर्म शुरू से ही अभक्ष्य अशुद्ध पदार्थों के खानपान पर तथा अयोग्य आचारण पर प्रतिबन्ध लगाता है, परन्तु उन स्त्री पुरुषों की भी संसार में कमी नहीं है जो आत्म कल्याण के लिये ऐसे प्रतिबन्धों का स्वागत करते है और सहर्ष उन अच्छे नियन्त्रणों का आचरण करना चाहते हैं।

अतः धर्म प्रचार के लिये हमको तीस कारण पर ध्यान देते हुए अपनी त्रुटियों का सुधार करना चाहिये। हमको अच्छे प्रभावशाली विद्वान् वक्ता तैयार करने चाहिये जिनको विविध भाषाओं का ज्ञान हो, जैन दर्शन के सिवाय अन्य दर्शनों का भी जिनको अच्छा परिज्ञान हो, जिन्हें प्रचार करने की अच्छी शिक्षा दी जावे और प्रचार के साधनों से सम्पन्न हों, प्रचार कार्य के लिये उन्हें निराकुल रक्खा जावे। किन्तु जैन समाज में आज ऐसा एक भी धर्म प्रचारक नहीं है। जो प्रचारक घूमते हैं वे केवल जैन समाज में ही कुछ प्रचार करते हैं, उनका लक्ष्य केवल आर्थिक होता है, जिस संस्था की ओर से वे दौरा करते हैं उस संस्था के लिये द्रव्य एकत्र करना ही उनका मुख्य लक्ष्य रहता है, संभवतः यदि वे इस कार्य में सफल नहीं होते तो उन्हें वह संस्था हटा देती है। इन में से अधिकांश प्रभावशालिनी वक्तृत्व कला से शून्य होते है, शास्त्रीय ज्ञान भी उनका परिपक्व नहीं होता।

प्राचीन समय में प्रचार कार्य जैन साधुओं के हाथ में था, वे अधिक संख्या में होते थे, सर्वत्र उनका निर्बाध विहार होता था। प्रायः सभी मुनि अनेक विषयों के अच्छे विद्वान् होते थे। भक्त सच्चरित्र श्रावक (गृहस्थ जैन) भी सर्वत्र पाये जाते थे, अतः मुनियों को प्रायः सभी ग्रामों, नगरों मे यथासमय शुद्ध निर्दोष भोजन मिल जाता था। मुनि यथा समय भोजन चर्या के लिये नगर या ग्राम में आते थे और विधि अनुसार थोड़ा सा भोजन करके पुनः अपने ध्यान अध्ययन के लिये एकान्त, शान्त, वन प्रान्त मे चले जाते थे। वहां पर शान्ति के साथ कठोर तपस्या करते थे। उस तपस्या के कारण उनको विविध ऋद्धियां सिद्धियां प्राप्त हो जाती थीं। पूर्ण श्रुत ज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, बीज ऋद्धि, वचनबल, वादित्व ऋद्धि, अष्टाङ्ग निमित्त ज्ञान, चारणऋद्धि, पदऋद्धि, विक्रिया, तैजस आदि अनेक प्रभावशालिनी मानसिक, वाचनिक, शारीरिक ऋद्धियां उनको प्राप्त हो जाती थीं, जिनके कारण उनका व्यक्तित्व महान् प्रभावशाली बन जाता था।

इसी कारण वे जहां पर भी जाते थे वहां भव्य जनता का मेला लग जाता था, वे मुनि उस जनता का अनुरोध पा कर जो भी प्रभावशाली उपदेश देते थे, उस उपदेश का एक एक शब्द श्रोताओं के हृदय पर अंकित हो जाता था। सुनने वाले सभी स्त्री पुरुष गंभीर वाणी में प्रगट होने वाले उनके धर्म-उपदेश के अनुसार मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्य का त्याग करके जैनधर्म के भक्त बन जाते थे। उनमें से बहुत से व्यक्ति तत्काल संसार, भोगों और शरीर से विरक्त होकर मुनि दीक्षा ले लेते थे, अनेक व्यक्ति ऐलक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी पद की दीक्षा ले लेते थे। जिन स्त्री पुरुषों मे कारणवश विशेष त्याग की क्षमता न होती थी, वे भी कम से कम जैनधर्म का हृदय से श्रद्धान्त व्यवहार सम्यग्दृष्टी तो बन ही जाते थे।

श्री लोहाचार्य ने किसी भयानक शारीरिक व्याधि हो जाने के कारण अपना शरीर-अवसान निकट होते जान कर अपने गुरु के पास जाकर समाधिमरण ले लिया था, परन्तु अनुपवास, अवमौदर्य, उपवास आदि के कारण उनका शारीरिक रोग मिट गया और वे स्वस्थ हो गये। स्वस्थ हो जाने पर शरीर का कृश करना बहुत कठिन प्रतीत होने लगा। तब वे अपने गुरु के पास पहुंचे। गुरु ने उनकी शारीरिक स्वस्थ दशा देखकर उनको समाधिमरण छोड़ देने का आदेश दिया किन्तु प्रतिज्ञा-भङ्ग करने के कारण उनको यह प्रायश्चित्त दिया कि तुम अपने प्रभाव शाली उपदेश से प्रभावित करके सवा लाख नवीन जैन बनाओ।

लोहाचार्य ने अपने गुरु का आदेश मानकर पुनः मुनिचर्या प्रारम्भ कर दी और विहार करते हुए वे अग्रोहा आये। अग्रोहा में उनका आध्यात्मिक उपदेश सुनने के लिये बहुत भारी जनता एकत्र हुई उनमें अधिकांश अग्रवाल जाति के स्त्री पुरुष थे। श्री लोहाचार्य के उपदेश से प्रभावित होकर सवा लाख अग्रवाल स्त्री पुरुषों ने जैनधर्म स्वीकार किया। इस प्रकार लोहाचार्य के स्वल्प प्रचार से सवा लाख व्यक्ति जैनधर्म अनुयायी हो गये।

भगवान् महावीर के निर्वाण हो जाने पर तथा विक्रमादित्य के स्वर्गारोहण हो जाने पर एक वार राजस्थान में जयपुर के आस पास एक महामारी व्याधि फैली। उसमें हजारों स्त्री पुरुष प्रतिदिन मरने लगे, जनता में व्याकुलता फैल गई। उस समय वहां पर श्री जिनसेन आचार्य का (जिनसेन

नामधारक अनेक मुनिवर हुए हैं, ये मुनिवर कौनसे थे, यह खोज होनी चाहिये) विहार हुआ। मुनिराज के इस प्रान्त में प्रवेश होते ही महामारी का प्रकोप शान्त हो गया।

तदनन्तर उस प्रान्त के खण्डेला नगर में एक बड़ा भारी सम्मेलन हुआ उसमें मुनिराज जिनसेन ने प्रभावशाली धर्म-उपदेश दिया जिस से प्रभावित वहां के एकत्रित क्षत्रियों ने जैनधर्म स्वीकार किया। उन सब जैनधर्म में दीक्षित क्षत्रियों के समुदाय का नाम उस नगर के नामानुसार 'खंडेलवाल' रख दिया गया।

इस तरह प्राचीन समय में जैनधर्म के प्रभावशाली प्रचारक, रत्नत्रय की मूर्ति अच्छे कुशल विद्वान् मुनिराज होते थे, उनकी अटल श्रद्धा, ज्ञान आचरण का जनता के हृदय पर तत्काल अमिट प्रभाव पड़ा करता था, आज वैसी बात नहीं रही। आज समस्त भारत में केवल ३५-३६ दिगम्बर साधु हैं, उनका भी सर्वत्र स्वतन्त्र विहार संभव नहीं है। अन्य कारणों के सिवाय इस विहार में रुकावट का एक विशेष कारण यह भी है, कि सभी स्थानों पर जैन गृहस्थों के घर नहीं पाये जाते। सैकड़ों गांव ऐसे हैं जहां पर जैनों का एक भी घर नहीं है। जहां पर जैनों के घर हैं वहां पर भी शुद्ध खान-पान का अभ्यास न रहने के कारण महाव्रती साधुओं की भोजन विधि तो दूर की बात रही व्रती श्रावकों—ऐलक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी आदि के भोजन की व्यवस्था भी नहीं हो पाती। ऐसी विकट समस्याओं के कारण मुनियों का सर्वत्र विहार कठिन हो गया है। जहां पर मुनि विहार होता है उन स्थानों पर धर्मप्रचार भी अनायास होता ही है। किन्तु आज की आवश्यकतानुसार बहुत बड़े व्यापक प्रचार की आवश्यकता है, उस व्यापक प्रचार को ये केवल ३५-३७ मुनि पैदल विहार द्वारा नहीं कर सकते। अतः धार्मिक प्रचार कार्य में सबको यथासंभव सहयोग देना चाहिये।

प्रवचन नं० ८२

स्थान— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि— प्रथम भाद्रपद शुक्ला १० शनिवार, २६ अगस्त १९५५

स्वल्प-संख्या के अनेक कारण

'नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थं, न क्लीबा न च मानिनः।'

आलसी पुरुष, दब्बू और अभिमानी व्यक्ति अपना कार्य सिद्ध नहीं कर पाते।

एक समय एक शीघ्र दौड़ने वाले खरगोश और धीमी चाल से चलने वाले कछुए में चाल की प्रतियोगिता हुई कि देखें अमुक स्थान पर पहले कौन पहुँच जाता है? खरगोश और कछुआ ये दोनों एक साथ एक स्थान से उस लक्ष्य की ओर चल पड़े। खरगोश लम्बी छलांगें मारता हुआ जब कछुए से बहुत दूर निकल गया तब उसे मार्ग में एक जगह अच्छे कोमल पत्ते पड़े मिले, उसने विचार किया कछुआ तो अभी बहुत दूर है, जरा इन स्वादिष्ट पत्तियों को खालू, पत्तियां उसने खूब पेट भरकर खा लीं, पास में स्वच्छ पानी भरा हुआ था सो खूब डट कर पानी भी पी लिया। फिर २०-२५ छलांगें मार कर और दूर पहुँच गया। जहां से कि कछुआ दिखाई भी न देता था।

तब खरगोश को एक सघन छायादार वृक्ष मिला, खरगोश ने विचारा कि इस छाया में जरा आराम कर लूं, कछुआ तो यहां तक शाम को पहुँच पावेगा, मैं आराम करके झटपट भाग कर अपने लक्ष्य पर जा पहुँचूंगा। इस अभिमान के कारण खरगोश उस छाया में लेट गया। खरगोश का पेट तो भरा ही था, ठंडी हवा चल रही थी, इस कारण लेटते ही खरगोश को गहरी नींद आ गई।

कछुआ अपने लक्ष्य की ओर अपनी स्वाभाविक चाल से चलता ही रहा। चलते-चलते रास्ते में उसे खरगोश पेड़ के नीचे सोता हुआ मिला। कछुआ निरन्तर चलता चला गया, कहीं भी उसने जरा भी विश्राम नहीं किया। निरन्तर चलते-चलते कछुआ जब निश्चित लक्ष्य के निकट जा पहुँचा तब खरगोश की नींद खुली, उसने देखा कि कछुआ आगे निकल गया है। तब खरगोश चिन्तित हुआ, वह अपनी सारी शक्ति लगाकर बहुत तेज दौड़ा, परन्तु लक्ष्य पर पहले कछुआ ही जा पहुँचा। शीघ्रगामी खरगोश अपने आलस्य और अभिमान के कारण हार गया और धीमी चाल से चलने वाला कछुआ निरन्तर उद्योगशील रहने के कारण जीत गया।

सामाजिक तथा धार्मिक दौड़ की प्रतियोगिता में भी हार का कारण यही अभिमान और आलस्य होता है।

'जैनधर्म संसार के समस्त धर्मों से सिद्धान्त तथा आचरण की दृष्टि से प्रमुख अग्रगणनीय है।' यह मान्यता तो ठीक है परन्तु यह मान्यता जैन समाज में अभिमान के तौर पर जड़ पकड़ गई तब उसकी प्रगति धीमी पड़ गई, उसका प्रगतिशील वेग कुण्ठित हो गया। और जो धर्म केवल २-२॥ हजार वर्ष के भीतर प्रकाश में आये या जिनका बीजारोपण गत दो ढाई हजार वर्ष के अन्तराल में हुआ वे अपनी निरन्तर प्रगति के प्रभाव से जैन समाज से सामाजिक बल में बहुत आगे बढ़ गये।

बौद्धधर्म की नींव डालने वाले महात्मा बुद्ध जब संसार से उदासीन होकर वन में गये तब वे सब से प्रथम जैन साधु के रूप में तपश्चरण करते रहे। इस विषय में दशवीं शताब्दी के जैन आचार्य श्री देवसेन ने दर्शनसार ग्रन्थ में यों लिखा है—

सिरि पासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो।
पिहियासवस्स महासुदो बुड्ढ कित्तिमुणी॥ ६॥
तिमिपूरणासणेहिं अहिगयपवज्जाओ परिभट्ठो।
रत्तंबरं धरित्ता पवट्टियं तेण एयंतं॥ ७॥

यानी—भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के साधु पिहितासव का शिष्य सरयू नदी के किनारे पलाश नगर वर्ती एक बुद्धकीर्ति नामक महाश्रुत शिष्य हुआ। मरी हुई मछली का भोजन करके वह ग्रहण की हुई मुनिदीक्षा से भ्रष्ट हो गया, उसने लाल वस्त्र पहन कर नया क्षणिक एकान्तमत (बौद्धमत) स्थापित किया।

जैन हिस्टॉरीकल मेग्जीन (फर्वरी १९२५) में २५ वें पृष्ठ पर प्रोफेसर भण्डारकर ने लिखा है—
'Mahatma Budha was a Jain monk for some time.'

यानी—महात्मा बुद्ध कुछ समय तक जैन साधु रहे थे।

अपनी पूर्व तपस्या के विषय में महात्मा बुद्ध ने जो बतलाया वह मज्झिमनिकाय नामक बौद्धग्रन्थ में लिखा हुआ है। उसमें महात्मा बुद्ध ने सारिपुत्त से कहा है—

'अचेलको होमि···हत्थायलेखनो होमि······नाभिहितं न उद्दिस्सकतं न निमन्तणं सादि याभिः, केसमस्सुलोचकोविहोमिकेसमस्सुलोचनानुयोगं अनुयुक्तो। याव उद बिंदुम्हि पिये दयापच्च पट्ठिता होवि माहं खुद्दके पाणे विसमगते संधात आयदिस्संति।'

सो तत्तो सो सीनो एकोत्रिंशतके बने।
नग्गो नच अग्गि असीनो एसनापसुतोमुनीति॥

(महासीहनाद सुत्त पर)

यानी—मैं नंगा रहा, मैंने हाथों में भोजन किया, मैंने अपने लिये भोजन न किया, न अपने उद्देश्य से बना हुआ भोजन खाया।······मैंने बालों का लोंच किया। मैं आगे भी केशलोंच करता रहा। मैं एक बूंद पानी पर भी दया करता था। मैं सावधान रहताथा कि सूक्ष्म जीवों का भी घात न हो।

इस तरह मैं भयानक वन में अकेला गर्मी और ठंडी ऋतु में नंगा रहता था, आग से तापता नहीं था। मुनिदशा में लीन रहता था।

इस तरह बौद्धधर्म का उदय जैनधर्म से बहुत पीछे हुआ किन्तु आज वह चीन, ब्रह्मा (बर्मा) रूस, जापान, लंका आदि अनेक देशों का व्यापक धर्म बना हुआ है। मांसभक्षण की छूट देना तथा भारत के इन पड़ोसी देशों में बौद्धसाधुओं का प्रचार करने के लिये भ्रमण करना, इस कार्य के लिये सम्राट् अशोक का पूर्ण सहयोग आदि अन्य भी अनेक कारण बौद्धधर्म के प्रचार के हैं। शंकराचार्य ने बौद्धधर्म को भारत से निर्मूल कर दिया परन्तु वही बौद्धधर्म चीन, लंका, जापान आदि देशों में वहां का राजधर्म सा बन गया है। यह सब बौद्ध प्रचारकों के महान् प्रयास का भी परिणाम है।

हजरत मुहम्मद ने अरब के बर्बर लोगों में जिस इस्लाम का प्रचार किया उसको अभी पूरे चौदहसौ वर्ष भी नहीं हुए परन्तु इस्लाम इस समय जनसंख्या की दृष्टि से इस समय संसार का दूसरे नंबर का धर्म है। यद्यपि इस्लाम प्रचार के लिये तलवार का भी सहारा लिया गया। आज भारत में जो लगभग ६ करोड़ मुसलमान नजर आते हैं वे सब यहाँ अरब से नहीं आये थे। भारत में जो मुसलमानों का ६००-७०० वर्ष तक शासन रहा, उस समय भारत के लाखों करोड़ों नर-नारियों को तलवार के जोर से मुसलमान बनाया, मुसलमान बनने के लिए प्रलोभन दिये गये। औरंगजेब ने हिन्दुओं के तथा जैनों के सैकड़ों हजारों मन्दिरों को गिराकर वहां पर मस्जिदें बनवा दीं। औरंगाबाद में एक बड़ा कलापूर्ण जैन मन्दिर मसजिद बनाया गया था जोकि पीछे भारत-माता मन्दिर बना, उसके खम्भों पर अभी तक जैन मूर्तियां बनी हुई हैं, यद्यपि पलस्तर से वे छिपा दी गई हैं परन्तु जहां पलस्तर छूट जाता है, वहां पर वे मूर्तियां नजर आने लगती हैं। सौराष्ट्र में अनेक ऐसी मसजिदें हैं जो जैनमंदिरों को तोड़कर बनाई गई प्रतीत होती हैं।

अजमेर में एक अढ़ाई दिन का झौंपड़ा (अरहाई दीन का झौंपड़ा) भी एक जैन मंदिर को तोड़ कर मसजिद के रूप में बना हुआ है। यहां दिल्ली मे जो फतहपुरी की मसजिद है वह भी औरंगजेब ने अंतिम रूप से एक हिन्दू मंदिर को तोड़ कर बनाई थी और इसका नाम फतहपुरी (पूर्ण विजय) मसजिद इसी कारण रक्खा गया। मथुरा में एक बहुत बड़ा केशवदेव का मंदिर था उसको तोड़ कर उसकी जगह पर औरंगजेब ने मसजिद बनवाई। बनारस में विश्वनाथ का मंदिर तोड़ कर उसे जो मसजिद के रूप में बनाया गया है, उसका पिछला हिस्सा अभी तक मंदिर के रूप में दीख रहा है, इस मसजिद के सामने अभी तक नान्दी (महादेव का बैल) पत्थर का बना हुआ मौजूद है।

पावागढ़ क्षेत्र जो जैन राजा इल का एक बहुत दृढ़ पहाड़ी दुर्ग के रूप में था (राजा इलने एलिचपुर नगर बसाया था जो कि अभी तक है) ६-७ परकोटों से परिवेष्टित यह दुर्ग था, इसी पर अनेक विशाल जैन मंदिर थे, जिनमें से अनेक अब भी विद्यमान हैं। बादशाही सेना इस पहाड़ी दुर्ग को लेने के लिये महीनों तक घेरे पड़ी रही किन्तु इस पर अधिकार न कर सकी। किले में से एक व्यक्ति एक गुप्तमार्ग से बाहर निकला था मुसलमानों के हाथ वह पड़ गया। उसको मुसलमानों ने असह्य यन्त्रणायें देकर उससे उस गुप्त मार्ग की जानकारी मालूम कर ली। तब उस गुप्त मार्ग से मुसलमानी सेना ने इस जैन दुर्ग पर चढ़ कर अधिकार किया, वहां मंदिरों की तोड़ फोड़ की।

अनेक जैन शास्त्र भण्डार होली की तरह मुसलमानों ने जलाये। गुजरात की मुसलमान बोहरा जाति पहले जैन थी, इसी तरह मेव जाति हिन्दू थी, रोहतक के आस पास वाले राजपूत पहले हिन्दू थे जो अब मुसलमान हैं। काश्मीर में समस्त जनता हिन्दू थी जो अब अधिकांश मुसलमान हैं। मथुरा के एक भाई ने बताया कि मथुरा के कई मुसलमान दर्जी कहते है कि हमारे पूर्वज अग्रवाल थे, बादशाही जमाने में मुसलमान बनाये गये थे।

इस तरह इस्लाम धर्म अधिकतर जोर जबरस्ती से फैलाया गया हैं। भारत में नन्दिवर्धन, चन्द्रगुप्त, खारबेल, कुमारपाल आदि अनेक प्रभावशाली जैन राजाओं ने बहुत दिनों तक शासन किया है, परन्तु जैनधर्म को फैलाने के लिये उन्होंने ऐसा कोई अत्याचार नहीं किया। जैनधर्म का प्रचार और प्रसार अहिंसक भावना और प्रक्रिया पर ही हुआ। जैनधर्म ने मुसलमानों के अत्याचार सहे, दक्षिण प्रान्त में कुछ हिन्दू नृपतियों के भी असह्य अत्याचार धार्मिक विद्वेष के कारण सहने पड़े किन्तु किसी भी जैन शासक ने जैनेतरों पर कोई अत्याचार नहीं किया।

मुसलमानों ने भारत में राजशक्ति पाकर इतर धर्मानुयायियों पर जो असह्य अत्याचार किये उनके हो फलस्वरूप मुसलमानी बादशाहत का अन्त होगया और इस्लाम के प्रति भारतीयों के हृदय में अमिट दुर्भावना उत्पन्न हुई। अतः इस्लाम मत का ऐसा प्रचार धार्मिक दृष्टि से बहुत अनुचित रहा है।

परन्तु मुसलमानो में जो पारस्परिक भ्रातृ भावना है, वह अवश्य अनुकरणीय है। जैनधर्म में सम्यग्दर्शन का जो वात्सल्य अग बतलाया गया है जिसके अनुसार प्रत्येक जैन बन्धु को अपने साधर्मी व्यक्ति से गाय का बछड़े के साथ जैसा असाधारण प्रेम करने की प्रेरणा की गई है। उस वात्सल्य को मुसलमानों ने अपने यहा क्रियात्मक रूप दिया है। तदनुरूप यदि अरब के किसी मुसलमान पर कोई संकट आता है तो पूर्वी पाकिस्तान तक के मुसलमानों पर उसका प्रभाव होता है। एक मुसलमान को जरा सा

छेड़ने पर उसके पक्ष में तुरन्त दूसरे मुसलमानों की भीड़ खड़ी हो जाती है। मुसलमानों का यह पारस्परिक वात्सल्य उनको बहुत बलवान बनाये हुए है।

सम्यग्दर्शन का एक अंग स्थितिकरण है जिसके अनुसार धर्म से चलायमान अपने साधर्मी भाई को प्रत्येक संभव ढंग से अपने धर्म में स्थिर रखने का प्रयत्न करना धर्मात्मा का मुख्य कर्तव्य है। इसका आचरण भी मुसलमानों ने बड़े अच्छे ढंग से किया है। कोई भी स्त्री या पुरुष एक बार मुसलमान बन जावे फिर उसको अपने पहले धर्म में लाना असंभव-सा है। दूसरे मुसलमान प्राणपण से ऐसी चेष्टा करते हैं कि एक भी मुसलमान इस्लाम धर्म का त्याग न करने पावे।

जैन समाज ने कुछ समय से अपने इन दोनों सामाजिक कर्तव्यों को भुला दिया है इसी कारण आपसी विद्वेष के कारण हमारे अनेक भाई धर्म से च्युत हो चुके हैं। सरधना, बड़ौत, मेरठ के अनेक दिगम्बर अग्रवाल परिवार इसी द्वेष भावना का शिकार बन कर श्वेताम्बर बन गये हैं। दक्षिण में लिङ्गायत जाति, मध्य प्रदेश की कलाल जाति, विहार बंगाल उड़ीसा की एराक जाति पहले जैन थी, अब वे जैन नहीं है। जैन समाज यदि अपने स्थितिकरण का आचरण करता रहता तो ये समूची जातियां अजैन कैसे बन जातीं।

यदि कोई नया मुसलमान बने तो पुराने मुसलमान उसका हृदय से स्वागत करके उसे अपने में मिला लेते हैं। स्व० हकीम ज्ञानचन्द्र जी लाहौर वालों का पुत्र सागरचन्द बैरिस्टर जैन समाज के देखते देखते मुसलमान बन गया। मुसलमानों ने उसे अपना लिया जैन समाज ने उस परिवार को बचाने के लिये कुछ न किया।

इस तरह जैन समाज ने अपने धर्म प्रचार के सभी प्रशंसनीय तथा आचरणीय साधनों को भुला दिया है इस कारण जैन समाज की जन संख्या का भारी ह्रास होगया है और दिन पर दिन होता जा रहा है, इस ओर धार्मिक सज्जनों का ध्यान तुरन्त होना चाहिये।

प्रवचन नं० ८३

स्थान— श्री दिगम्बर जैन मंदिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि— प्रथम भाद्रपद शुक्ला १०, शनिवार २७ अगस्त १९५५

धर्मों की हाट

मनुष्य को अपने जीवन के लिये जिन पदार्थों की आवश्यकता हुआ करती है, उन पदार्थों की उत्पत्ति बढ़ाने के लिये उत्पादक वर्ग अनेक तरह के आयोजन करते हैं। पाकिस्तान बन जाने पर भारत में अन्न की कमी अनुभव हुई, उसके लिये भारत सरकार ने एक तो विदेशों से बहुत भारी मात्रा में अन्न खरीद कर भारत में मंगाया तथा भारत में ही अन्न का उत्पादन बढ़ाने के अनेक प्रयत्न किये। व्यर्थ पड़ी हुई भूमियों को ट्रैक्टरों से ठीक करके खेती बाड़ी के योग्य बनाया, भूमि की सिंचाई के लिये नदियों पर बड़े बड़े बांध बनवाने आरम्भ किये, नहरें, नाले बनवाये, कूएं, जलकूप बनवाये, किसानों को अधिक अन्न

उत्पादन बढ़ाने के लिये पारितोषिक आदि घोषित करके अपने अपने खेत में अधिक अनाज उत्पन्न करने के लिये उत्साहित किया। इन सब प्रयत्नों का फल यह हुआ कि भारत भुखमरी से बच गया।

मनुष्य अनेक प्रकार की निर्बलताओं का पुतला है, जहां इसमें कुछ गुण हैं वहां इसमें अनेक दुर्गुण भी प्रगट हो जाते हैं, अतः जहां यह अपने गुणों के द्वारा अपना तथा अन्य व्यक्तियों का कल्याण करना चाहता है, वहीं अपने दुर्गुणों द्वारा अपने तथा दूसरों का अहित करने को भी तैयार हो जाता है। तदनुसार भारत सरकार ने जिस अन्न उत्पादन को जनता की सब से बड़ी आवश्यकता की पूर्ति के लिये अनेक आयोजन किये हैं उसमें भी स्वार्थी लोगों ने अनेक प्रकार के घटिया पदार्थों की मिलावट कर अपनी नीति को गिराया और खरीदने वाली जनता के द्रव्य तथा स्वास्थ्य की हानि पहुंचाई। बढ़िया अन्न में घटिया अन्न मिलाया, मिट्टी, ककड़ी, पत्थर के टुकड़े मिलाये, आटे में लकड़ी का बुरादा आदि मिलाकर बेचा। पिसे हुए मसालों में रंगीन मिट्टी, लकड़ी का बुरादा आदि मिलाकर बाजार में आज भी बिक रहा है। अनीति, अन्याय, धोखेबाजी का व्यापक प्रचार परम्परा से चला आ रहा है, वही आज भी दीख रहा है। घी के मूल्य विविध वनस्पतियों के तेल मिलाकर घी के उत्पादक गांवों के किसान तथा घी के व्यापारी देते हैं, दूध के उत्पादक तथा व्यापारी दूध में पानी सपरेटा आदि मिलाकर दे रहे हैं।

ऐसी दुर्भावना तथा दुर्व्यवहार प्रायः सभी क्षेत्रों में चल पड़ा है या यों कह लीजिये कि सदा से चला आ रहा है। मनुष्य इस दुर्भावना और दुर्व्यवहार से बहुत दुखी है, पथभ्रष्ट होकर अन्धकार में भटक रहा है, प्रतीत होता है कि यह परम्परा अटूट बनी रहेगी।

भगवान् ऋषभनाथ ने आत्म कल्याण के लिये धर्म का स्वयं आचरण किया और उससे आत्म-शुद्धि की सिद्धि प्राप्त की किन्तु उनको आत्मसिद्धि प्राप्त होने से पहले ही उनके साथी शक्तिहीन तपस्वियों ने पथभ्रष्ट होकर संसार को धर्ममार्ग से भ्रष्ट करने के लिये अनेक ऊटपटांग आत्मसिद्धि के प्रयोग बना कर प्रचार कर डाले। भगवान ऋषभनाथ ने सत्य धर्म का प्रचार तो पीछे किया परन्तु उनके पथभ्रष्ट साथियों ने अपने कल्पित धर्माभास का आचरण और प्रचार उनसे पहले कर लिया, उन मिथ्याधर्म प्रचारकों में उनका सगा पोता मरीचिकुमार भी था। सारांश यह हुआ कि सम्यक्त्व के प्रचार से पहले ही मिथ्यात्व का प्रचार चल पड़ा। एक ही घर से विभिन्न दो दिशाओं में दो धारायें बह चलीं।

जो धर्म भगवान् आदिनाथ ने संसारी आत्मा को संसार से मुक्त करने के लिये प्रचारित किया था, उसी के अनुरूप अन्य अनेकों बनावटी धर्म भी जीवों को मुक्ति दिलाने के लिये निकल पड़े। नवीन माल बाजार में बिकने के लिये दो बातें होनी आवश्यक हैं—१—माल में ऊपरी चमक दमक होनी चाहिये। २—उसका भाव सस्ता होना चाहिये। इन दो बातों के होनेपर नवीन माल चल पड़ता है। उसी के अनुसार अन्य धर्मों ने एक तो अपना बाहरी आडम्बर खूब रक्खा, दूसरे मुक्ति प्राप्त करने के लिये अपरिग्रह व्रत में ढील करके तपस्या का कठिन मार्ग सरल बना दिया। आत्मश्रद्धा, आत्मज्ञान की मात्रा नगण्य सी बतलाई। किसी ने सिर्फ ज्ञान को ही मुक्ति का साधन बतला कर संसार से पार होने के लिये चारित्र धारण करने का निषेध कर दिया। किसी धर्म ने मुक्ति के लिये ज्ञान की आवश्यकता भी न बतला कर अज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होना प्रचारित किया। जनता जिस जिसके सम्पर्क में आती गई उस उसकी भक्त बनती गई, इस तरह संसार से जीवों को पार करने की घोषणा करते हुए अनेक मत प्रचलित होगए।

यह नियम है किसी एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने का मार्ग एक ही हो सकता है, अनेक नहीं हो सकते, संसार एक ही स्थान है और लक्ष्यभूत मुक्ति भी एक ही है, अनेक नहीं हैं, अतः मुक्ति का साधन एक ही हो सकता है। भगवान् ऋषभनाथ ने जिस आत्मश्रद्धा (सम्यग्दर्शन), आत्मज्ञान, (सम्यग्ज्ञान) और सत्य आचरण (सम्यक्चारित्र) ये तीन बातें मुक्ति के लिये आवश्यक बतलाई ही नहीं थीं, अपितु उनके द्वारा स्वयं वे मुक्त भी हुए थे, अतः जिस तरह वैद्य का अनुभूत प्रयोग (नुस्खा) सही हुआ करता है, उसी तरह भगवान ऋषभनाथ का रत्नत्रय रूप ही मुक्ति मार्ग यथार्थ साधन था और आज भी है। क्योंकि आत्मश्रद्धा हुए बिना मनुष्य के ज्ञान में यथार्थता, आत्मउन्मुखता नहीं आ सकती, आत्मश्रद्धा और आत्मज्ञान के बिना चारित्र की दिशा आत्मउपयोगी नहीं बन सकती। तथा चारित्र के बिना भी आत्मशुद्धि की क्रियापूर्ण नहीं होती। यदि पृथ्वी पर खड़े होकर ही आम के फल तोड़े जा सकते है, तो फिर ऊचे पेड़ पर चढ़ने का प्रयास कौन करेगा? इसी तरह आत्म-शुद्धि बिना तपस्या के ही प्राप्त हो जावे तो फिर मुक्ति सभी प्राप्त न कर लें?

उन विविध धर्म प्रचारकों में कुछ तो ऐसे हुए जिनको ज्ञान की कमी के कारण आत्मा, परमात्मा, संसार, संसार भ्रमण के कारण, मुक्ति, तथा मुक्ति के साधनों का पूर्ण परिज्ञान तो न था किन्तु वे संसार से उदासीन अवश्य थे, अतः मुक्ति की इच्छा रहते हुए भी ज्ञान की कमी से मुक्ति का मार्ग न स्वयं जान पाये, न दूसरों को ठीक बतला पाये, अज्ञात व्यक्ति बतलाता भी कैसे? कुछ व्यक्ति ऐसे भी प्रकाश में आये जो धर्म का मधुर नाम लेकर अपने मद्य पीने, मांस खाने आदि की इच्छा तृप्त करना चाहते थे, उन्होंने देवी देवताओं के नाम पर मद्य, मांस अर्पण करना और अर्पित या अवशिष्ट माल स्वयं खाना मुक्ति के लिये उपयोगी बतला दिया।

ऐसे धर्म भी प्रचारों में आये जिन्होंने खूब शराब पीना, मछली मांस खाना और खूब जी भर कर व्यभिचार करना मुक्ति का साधन बतला दिया, किसी धर्म प्रचारक ने जनता में यह भावना भर दी कि जीव कोई और चीज नहीं है, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के समुदाय से उत्पन्न हुई ही एक चलती फिरती शक्ति है, जो विघटित हो जाने पर यहीं समाप्त हो जाती है। परलोक, स्वर्ग, नरक आदि कुछ नहीं है, अतः खूब खाओ पियो, ऐश आराम करो।

जीवों को मुक्ति दिलाने के लिये एक वाममार्ग भी चला था जो कि मद्य, मांस, मत्स्य (मछली) मैथुन (व्यभिचार) और मुद्रा (आसन) इन पांच मकारों से मुक्ति होने का सरल मार्ग बतलाता था। सांसारिक विषय भोगों को भोगने की तीव्र लालसा रखने वाले हजारों स्त्री पुरुष उस वाममार्ग के अनुयायी भी बन गये।

उस वाममार्ग में एक चोली सम्प्रदाय होता था। चोली सम्प्रदाय वाले नगर में एक बहुत बड़ा मकान बनवाते थे, उस मकान का केवल एक ही द्वार होता था। मकान की ऊंची दीवालें होती थीं और इस ढंग से वह मकान बनवाया जाता था कि बाहर का कोई भी उस मकान के भीतर होने वाली पाप लीलाओं को न देख सके।

उस मकान में विश्वस्त परिचित चोली सम्प्रदाय के वाममार्गी स्त्री पुरुष ही जा सकते थे, अन्य कोई भी स्त्री पुरुष उसमें वाममार्ग की दीक्षा लेकर ही प्रवेश कर पाता था। उस वाममार्गी मंदिर चोली

सम्प्रदाय के स्त्री पुरुष प्रतिदिन प्रातः शाम को एकत्र होते थे। उन स्त्री पुरुषों को वाममार्गी गुरु नास्तिकता का उपदेश दिया करता था कि प्रत्येक स्त्री पुरुष को अपनी इच्छानुसार भोग भोगकर प्रसन्न रहना चाहिये। माता के सिवाय समस्त स्त्रियों के साथ मैथुन करने, मांस खाने, मद्य पीने, मछली खाने से स्त्री पुरुषों की मुक्ति हो जाती है।

उपदेश हो जाने पर वह गुरु आई हुई स्त्रियो को अपनी अपनी चोली (छाती ढकने का वस्त्र) उतार कर एक बड़ी कड़ाही मे डाल देने के लिये आदेश देता था। वे आई हुई स्त्रियां निःसंकोच होकर अपनी अपनी चोली कड़ाही में डाल देती थीं। फिर पुरुषों को आज्ञा देता था कि कड़ाही में से एक एक चोली उठा लो। तदनुसार प्रत्येक पुरुष एक एक चोली उठा लेता था। तदनन्तर जिस स्त्री की चोली जिस पुरुष के हाथ आ जाती थीं वही स्त्री उस पुरुष के पास आ जाती थी। स्त्री पुरुषों के वे युगल (जोड़े) पहले खूब शराब पीते थे फिर दोनों उस समय बिलकुल नग्न होकर निःसंकोच होकर अपने गुरु की आज्ञा से पति पत्नी के समान वहीं पर मैथुन करते थे।

इतना हो जाने के बाद उनकी दैनिक धर्मक्रिया पूर्ण हो जाती थी। इस पाप लीला के समय जिस स्त्री की चोली जिस मनुष्य के हाथ में पड़ जाती थी वे चाहे भाई बहिन, चाची भतीजा, श्वसुर पुत्रवधू आदि संबन्धी ही क्यों न हों, निःसंकोच होकर परस्पर काम सेवन करते थे। उनकी ऐसी स्वच्छंद धर्म क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिये वामपन्थी शास्त्रोंके अनेक श्लोक अब भी उपलब्ध हैं—

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
एते पंच मकाराः स्युर्मोक्षदा हि युगे युगे ॥ (कालीतन्त्र)
पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥ (महानिर्माण तंत्र)
मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिषु। (ज्ञान संकलनी तन्त्र)

यानी—मद्य पीना, मांस तथा मछली खाना, मुद्रा (?) और मैथुन करना ये पांच मकार युग युग में मोक्ष देने वाले हैं। शराब बार बार इतनी पिओ कि पीते पीते बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ो, फिर उठकर पियो ऐसा करने से फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। माता के सिवाय सब से मैथुन करो।

वामपंथ भारत में बहुत दिनों तक रहा जिससे धर्मप्राण भारतवर्ष में धर्म के नाम पर गुप्त पाप लीला भी चलती रही। इसका विशेष विवरण आर्य समाज के संस्थापक स्वा० दयानन्दजी सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश के ११ वें समुल्लास में लिखा है। परन्तु ज्यों ही वाममार्ग की गुप्त पापलीला प्रकाश में आई कि सदाचार परायण जनता ने इस सम्प्रदाय को उखाड़ फेंका।

अभी ३४-३५ वर्ष पहले रूस में एक 'रासपुठिन' नाम का धूर्त हुआ। जो कि अच्छा सुन्दर जवान प्रभावशाली था। उसके मुख मण्डल पर तथा उसके नेत्रों में कुछ ऐसा आकर्षण था कि स्त्रियां उसकी ओर आकर्षित होती थीं। उसने अपने मायाजाल से रूस के शासक जार की रानी (जारीना) पर भी डोरे डाल कर अपने वश में कर लिया था। जर्मनी के तत्कालीन शासक कैसर विलियम (द्वितीय)

का वह बहुत चालाक गुप्तचर (जासूस) था । उसके सहारे जारीना (कैसर की बहिन) द्वारा रूस को निर्बल बना देने का प्रपंच कैसर ने रचा था ।

रासपुटिन एक सिद्ध पुरुष की तरह धर्माचार्य के तौर पर रूस में प्रसिद्धि पा चुका था उसने भी वाममार्ग की तरह यह बात फैलाई कि 'परमेश्वर मुझ से कहता है कि स्त्री पुरुष कुछ अपराध तो करते नहीं, मैं उन्हें क्या क्षमा करूं ।' अतः यदि ईश्वर का प्रसाद चाहते हो तो मेरे (रासपुटिन के) साथ खूब खुल कर पापलीला करो ।' उसके इस प्रचार में अनेक स्त्रियाँ फंस गईं जिनसे रासपुटिन धर्म का प्रसाद देदे ईश्वर की कृपा दिलाने के बहाने व्यभिचार करता रहा ।

इस तरह अनेक विषयलोलुपी स्वार्थी धूर्त व्यक्ति धर्म का प्रलोभन देकर, मुक्ति की लालसा जगा कर भोली जनता को पथभ्रष्ट किया करते हैं । ऐसी बातों में अन्धश्रद्धा से फंस जाने को जैनधर्म में लोक मूढ़ता कहा है । मुमुक्षु पुरुष को ऐसे मायाजाल से दूर रहना चाहिये । उसे धर्म की परीक्षा करके सत्य मार्ग को ग्रहण करना चाहिये । अशुद्ध अभक्ष का खानपान, निषिद्ध विषय भोग आत्मा का सदा पालन करते हैं, यह दृढ़ निश्चय रखना चाहिये ।

प्रवचन नं० ८४

स्थान—
श्री दिगम्बर जैन लाल मंदिर, देहली ।

तिथि—
प्रथम भाद्रपद शुक्ला १०, रविवार २८ अगस्त १९५५

कर्म-लीला

यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति, यच्चेतसापि न कृतं तदिहाभ्युपैति ।
प्रातर्भवामि वसुधाधिपचक्रवर्ती, सोहं व्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी ॥

सूर्यवंशी, अयोध्या के क्षत्रिय राजा दशरथ के पराक्रमी पुत्र राम को दूसरे दिन प्रातः शुभमुहूर्त में राज्याभिषेक होकर राज-अधिकार मिलना था, इस राज-उत्सव की समस्त तैयारियां हो चुकी थीं । समस्त राज परिवार तथा अयोध्या की समस्त जनता रामचन्द्र के राजा बनने के लिये प्रसन्न थी क्योंकि राम सर्वगुण सम्पन्न ज्येष्ठ राजपुत्र थे । दशरथ राजभार से मुक्त होकर मुक्ति साधन में लगना चाहते थे । सारा अयोध्यानगर हर्ष में विभोर होरहा था ।

इसी समय अपनी दासी के भड़काने पर दशरथ की द्वितीय रानी केकयी ने राजा दशरथ को अपना वरदान स्मरण करा कर यह 'वर' मांगा, कि 'अयोध्या के राजसिंहासन पर मेरे औरस पुत्र भरत को बिठाया जावे और राम को आप १४ वर्ष तक वन पर्वतों में रहने का आदेश दें ।' अपनी रानी की बात सुनकर दशरथ के हृदय को बहुत धक्का लगा, वे कुछ क्षण के लिये किंकर्तव्यविमूढ़ होगये, स्तब्ध रह कर अवाक् (चुप) रह गये, उनके मुख से शब्द न निकला । किन्तु शीघ्र ही संभल कर उन्होंने विचारा कि क्षत्रिय का वचन अटल होता है, अतः केकयी को दिया हुआ वरदान आज उसकी इच्छानुसार देना ही पड़ेगा । उन्होंने अनिच्छा से भी केकयी की बात स्वीकार कर ली और राम-जैसे विनीत सुयोग्य सुपुत्र को अपने नेत्रों से अश्रु गिराते हुए १४ वर्ष के लिए वन में चले जाने की आज्ञा दी ।

पिताभक्त राम ने राजगद्दी से भी अधिक महत्व पिता की आज्ञा को दिया और बिना किसी हीला हुज्जत के वन गमन के लिये तैयार हो गये। उसी अवसर पर रामचन्द्र अपनी कर्म लीला को उक्त श्लोक द्वारा कहते हैं कि—

मैंने कल मिलने वाली राजगद्दी के विषय में जो कुछ सोचा था, वह बात तो अब बहुत दूर (१४ वर्ष आगे) चली गई, और जिसका (वनवासका) मुझे कभी स्वप्न में भी विचार न हुआ था वह घटना मेरे सामने आ खड़ी हुई। कल मुझे निश्चय था कि मैं प्रातःकाल अयोध्या का सार्वभौम राजा बनूंगा, वही मैं (राम) अब तपस्वी की भांति विकट वन की ओर जा रहा हूँ।

महान पराक्रमी, तद्भव मोक्षगामी हनुमान की माता, राजा महेन्द्र की पुत्री अंजना ने विवाह के पश्चात् अपने नवयौवन की वेला में कुछ एक दिन मास या वर्षों का ही नहीं अपितु २२ वर्ष का दीर्घकालीन पति वियोग का असह्य दुःख सहन किया। सदाचारी, स्वस्थ, बुद्धिमान्, सुन्दर, तरुण पति रहते हुए भी निरपराधिनी सती सुन्दरी अंजना अनाथिनी सी दीन दुःखिनी बनी रही। २२ वर्ष तक राजभवन के एकान्त कक्ष में रात दिन आंसू बहाती रही, एक दिन भी बेचारी को पति सुख प्राप्त नहीं हुआ। सौभाग्य से जब एक दिन उसके सुयोग्य, पराक्रमी पति जयकुमार को सुमति जागी और रात्रि के अन्धकार में ही चोर की तरह गुप्त रूप से युद्ध क्षेत्र के मार्गस्थ पड़ाव मानसरोवर से अपनी चिरवियोगिनी प्रिया अंजना से मिलने आया, कुछ घंटों अंजना को पति संयोग का सुख भी मिला, तो अपने पति के प्रसग से रहे हुए गर्भ को उसकी कर्कशा सास ने अन्य किसी पुरुष के साथ व्यभिचार का फल समझा और अपने पति की सम्मति से उस सुकोमला निरपराधिनी राजकुमारी पुत्रवधू को तिरस्कार के साथ घर से बाहर निकाल दिया।

ससुराल से ठुकराई गई अंजना अपने पीहर गई किन्तु दुर्दैव ने उसका पीछा वहां भी न छोड़ा उसकी दयनीय दशा पर स्नेहमयी सगी माता तथा पिता को भी दया न आई और उन्होंने भी निर्दय-रूक्षता प्रगट करते हुए उस सुपुत्री को कुल-कलङ्किनी समझ कर आश्रय न दिया, तब बेचारी सर्वथा अनाथिनी होकर निर्जन वन में गई। जनशून्य किन्तु वनैले पशुओं से भरे हुए वन ने अंजना को शरण दी और शरीर की छाया की तरह उसकी बालसखी वसन्तमाला ने साथ दिया। अंजना भी ये पर्वत-जैसे दीर्घ, भारी कठोर दुःख अपने गर्भ की रक्षा के लिये सहती चली गई। वन में भी उसे शान्ति न मिली, सिंह ने उसे अपना ग्रास बनाया होता किन्तु बच गई।

सौभाग्य से उसे वहां अवधिज्ञानी ऋषि मिल गये, उन्होंने उसे सान्त्वना दी कि पुत्री! तेरे दुर्दैव की अन्धकारमयी रात्रि समाप्त होने वाली है, सौभाग्य का प्रभात शीघ्र होगा। महान् पराक्रमी, महान् भाग्यशाली पुत्र का मुख तू शीघ्र देखेगी और तेरा पति भी तुझ को मिलेगा, धैर्य रख, णमोकार मन्त्र को जपती रह। निर्जन पर्वत की गुफा में पत्तों की पृथ्वी शैया पर हनुमान का जन्म हुआ।

रावण के अजेयगढ़ लंका को तोड़ने वाले वीर, भाग्यशाली राजपुत्र हनुमान का जन्म यों निर्जन गुफा में हुआ जहां न उसका कुछ स्वागत सत्कार हुआ, न मांगलिक गीत गाये गये, न कुछ उत्सव हुआ, प्रसविनी माता ने ही अधीरता और मानसिक पीड़ा के आंसू बहा कर शोक भरे हर्ष से अपने होनहार पुत्र का मुख चूमा जिसने कि गर्भ में आते ही अपनी उस माता को हृदयदाहिनी विकट

विपत्तियों में डाल दिया था। इसी को तो नीतिकार कवि ने कहा है—

सा सा सम्पद्यते बुद्धिः सा मतिः सा च भावना।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता॥

यानी—जैसी भवितव्यता (कर्म की होनहार घटना) होती है स्त्री पुरुषों की बुद्धि भी वैसी ही हो जाती है उनकी मति और भावना वैसी ही बन जाती है और सहायक भी उसी भवितव्यता के अनुसार मिलते चले जाते है।

गोवर्द्धन पर्वत को उठाने वाले महान् तेजस्वी, नारायण पद धारक, महान् बली कृष्ण का जन्म बन्दीघर (जेल) मे हुआ जहां पर उनका रंचमात्र भी हर्ष न मनाया जा सका, बल्कि गुप्त रूप से उन्हें वहां से स्थानान्तरित किया गया। उनका लालन-पालन राजपुत्र की तरह न हुआ। नद ग्वाले के घर ग्वाल पुत्र की तरह वे गुप्तरूप से पाले पोषे गये तथा अपने मरण के कुछ क्षणों पहले उन्होंने अपने नेत्रो से द्वारिका का दाह देखा, उन्होने अपने बड़े भाई बलभद्र के साथ उस द्वारिका की अग्नि से बचाने का महान यत्न किया किन्तु असफल रहे। यहां तक असफल रहे कि उस अग्नि से अपने माता-पिता का उद्धार भी न कर सके। महाभारत के महायुद्ध में अपने महान् पराक्रम तथा रण नीति कुशलता से पांडवों को विजय दिलाने वाला, कोटि शिला को उठाने वाला नारायण अपने माता-पिता को उस अग्नि-काण्ड से न बचा सका।

बहुत थके मांदे, महान दुःखी जब दोनो भाई अपने प्राण बचा कर वन में पहुंचे तो दुर्दैव ने वहां भी पीछा न छोड़ा, अपना अन्तिम वार कर ही दिया। कृष्ण को बहुत प्यास लगी उनके लिये कमल के पत्ते में जल भर कर बलभद्र जब तक कृष्ण के पास भी न पहुंचने पाये कि उनके ही सौतेले भाई जरत्कुमार ने डुपट्टा ओढ़कर प्यासे सोते हुए कृष्ण को हिरण समझकर बाण से घायल कर दिया। उस बाण के घाव की चिकित्सा करने वाला भी वहां कोई न था और इस प्रकार बलभद्र की अनुपस्थिति में महान् पराक्रमी पुरुष नारायण कृष्ण के प्राण पखेरू उड़ गये। उस समय की मृत्यु का शोक करने वाला भी कोई व्यक्ति न था।

इसी को कहते हैं—

कृतकर्मक्षयो नास्ति कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥

यानी—उपार्जन किया हुआ शुभ या अशुभ कर्म चिरकाल बीत जाने पर भी व्यर्थ नहीं जाता, उसका शुभ या अशुभ फल संसारी जीव को अवश्य भोगना पड़ता है।

कर्मों की ऐसी विचित्र लीला केवल प्राचीन कथाओं मे ही नहीं मिलती है बल्कि यह तो संसार में सदा सब के साथ हुआ करती है। जिस तरह नाटकघर में कर्णधार (नाटकघर के स्वामी) के संकेत पर अभिनेता और अभिनेत्रियां अनेक प्रकार के अभिनय दिखाने के लिये विविध स्वांग बना कर अनेक लीलाएं दिखाती हैं। जो अभिनेता कुछ समय पहले राजा बनकर नाटक दिखलाता है, वही व्यक्ति थोड़ी देर पीछे कर्णधार की आज्ञा से रंक बन जाता है और रंक का अभिनय सबको दिखलाता है। इसी तरह

ससार की इस विशाल रंगभूमि मे-ये अनन्त संसारी प्राणी कर्म के संकेत पर कठपुतलियों की तरह अनेक तरह के रूप बनाकर नाटक दिखा रहे हैं। जब तक कर्म का चाबुक संसारी जीव पर पड़ता रहेगा तब तक इस जीव को कर्म के इशारे पर नाचना ही पड़ेगा।

यह दैव दुर्दैव, सौभाग्य दुर्भाग्य क्या बला है? इस प्रश्न का समाधान जिन-वाणी में बहुत विस्तार के साथ हमारे पूर्वज महान आचार्यों ने दिया हैं, जो व्यक्ति स्वाध्याय करते रहते हों, उन्हें कर्म-काण्ड गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, धवल, जयधवल, महाधवल आदि ग्रन्थरत्नों का अवलोकन करना चाहिये। अन्य व्यक्ति संक्षेप से यों समझ लें कि—

जैसे अनादि कालीन किसी सुवर्ण खान में सोना पत्थर के साथ मिला हुआ चला आ रहा है तदनुसार ससारी जीव भी अनादि से कर्मबन्धन से बंधा हुआ चला आ रहा है। अपनी योगक्रिया से प्रत्येक संसारी जीव प्रति समय नवीन कर्म-बन्ध करता रहता है और प्रति समय पुराना कर्म अपना शुभ अशुभ फल जीव को देकर जीव से पृथक् होता रहता है। इस बन्ध तथा सविपाक निर्जरा का क्रम सदा चलता रहता है। अतः यद्यपि अनादि काल का कोई भी कर्म किसी जीव के साथ बन्धा हुआ नहीं है, परन्तु अनादिकाल से लेकर अब तक एक भी समय कभी ऐसा नहीं आया जब कि कोई भी ससारी क्षण भर भी कर्म-शून्य पूर्ण शुद्ध रहा हो।

पुद्गल पदार्थों के मूल दो भेद हैं—१. परमाणु २. परमाणुओं का सयुक्त समुदाय। समुदायात्मक परमाणुओं का नाम जैन सिद्धान्त में 'वर्गणा' है। पौद्गलिक वर्गणाएं या स्कन्ध २२ तरह के होते हैं, उनमें से जीव के उपयोग में आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, तैजसवर्गणा और कार्माण वर्गणा, ये पांच वर्गणाएं आती रहती हैं। कार्माण वर्गणाएं जिस समय जीव ग्रहण करके आत्मसात् कर लेता है तब वे वर्गणाए कर्म रूप परिणत हो जाती हैं।

कर्म बनते समय जीव के जैसे विचार, वचन या शरीर की क्रिया होती है उसी के अनुरूप उनमें शुभ अशुभ प्रकृति की छाप लग जाती है तथा उस समय जैसे तीव्र मन्द कषाय भाव होते हैं, उसी तरह का तीव्र मन्द रस और स्थिति उनमें अंकित हो जाती है। जब उन कर्मों का उदय होता है तब वे अपनी प्रकृति और रस के अनुसार जीव को फल देते हैं।

जैसे हम भोजन को मुख में रखकर दांतों से चबाकर निगल जाते है वह भोजन पेट में पहुँच कर हमारी जठराग्नि की शक्ति अनुसार तथा अपनी प्रकृति के अनुसार रस, खून, मांस, हड्डी, चर्बी, वीर्य आदि धातु उपधातु बन जाता है, इसी तरह योगों द्वारा ग्रहण की गई कार्माण वर्गणा कषाय की सहायता से जीव के लिये विविध सुख दुःख रूप परिणत हो जाती है।

मनुष्य के सामने शराब और शर्बत दोनों पदार्थ रक्खे हुए हैं, मनुष्य अपनी इच्छानुसार दोनों मे से किसी को भी पी सकता है। पीने से पहले उसको स्वतन्त्रता है किन्तु पी लेने के बाद उसकी इच्छा कुछ परिवर्तन नहीं कर सकती अतः शराब यदि पी ली है तो मनुष्य को न चाहते हुए भी नशा अवश्य आवेगा, शराब का असर उसे भुगतना होगा। इसी तरह कर्म बाधने से पहले जीव स्वतन्त्र रहता है कि आगामी कर्मबन्ध कैसा भी करे। अच्छे विचार, वचन और कार्यों से शुभकर्म (सौभाग्य) भी बना

सकता है और अशुभ विचार, वचन, कार्यों द्वारा अपने भविष्य के लिये दुर्दैव (अभाग्य) भी बना सकता है। दुर्दैव बना लेने के बाद उसकी स्वतन्त्रता उस कर्म के विषय में नहीं रहने पाती। उसका तो दुःख-दायक अशुभ फल भोगना ही पड़ता है। अतः यह सौभाग्य दुर्भाग्य पहले (पिछले) समय में बोया हुआ अच्छा बुरा बीज ही है।

प्रवचन नं० ८५

स्थान— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि— प्रथम भाद्रपद शुक्ला ११ सोमवार, २९ अगस्त १९५५

स्वार्थ का साम्राज्य

समस्त संसारी जीवों को यह संसार बहुत सुहावना लगता है, इसी कारण यदि धर्म का उपदेश दिया जाय तो उस उपदेश को सुनाने के लिये लोगों को निमन्त्रण देकर बुलाना पड़ता है, बुलाने पर भी साधारण स्त्री पुरुष तो प्रायः एकत्र हो जाते हैं, किन्तु ऐसे लोग, जिनके पास पर्याप्त धन है, प्रायः नहीं आते। आते भी है तो अनमने से होकर बैठते हैं, थोड़ी देर बैठकर ही उठ जाते हैं। यदि कहीं पर नाचने गाने का कार्यक्रम हो तो लोग बिना बुलाये जा पहुंचते हैं, पैसा खर्च करके टिकट खरीदते हैं, घंटों लाइन में खड़े रहते हैं, धक्के खाते हैं। एक ही स्थान पर एक ही आसन से बैठकर टकटकी निगाह लगाकर उसे देखते हैं।

इसका मूल कारण यह है कि जैसे खुजली के रोग वाले पुरुष के शरीर में रक्त दूषित हो जाने से अनेक छोटे छोटे फोड़े हो जाते है उन फोड़ो में जब खाज उठती है, तब वह मनुष्य उन फोड़ों को अपने हाथों से खुजाता है, खुजाते समय उसे बड़ा आनन्द आता है, जिनको कभी खाज का रोग हुआ है, उनका कहना है कि शरीर को खुजाते समय जो आनन्द आता है, वह आनन्द स्वादिष्ट भोजन करते हुए भी नहीं आता, परन्तु खुजा लेने के पीछे जब उन फोड़ों से रक्त पीप निकलती है और उनमें हवा लगकर दाह पैदा होती है तब वह क्षणिक आनन्द तो रहता ही नहीं, उसकी जगह उन फोड़ों में भारी वेदना होती है जिससे कि खाज का रोगी रोने लगता है। इसी तरह इन्द्रियों में भी अपने अपने विषय की खाज उठती है, उस खाज को मिटाने के लिये मनुष्य विषय भोगों को भोगने में अपनी देह की शक्ति, अपनी इन्द्रियों की शक्ति, अपने द्रव्य की शक्ति क्षीण करता है, उस समय इन्द्रियों की प्यास बुझाते हुए उसे बड़ा आनन्द आता है, परन्तु थोड़ी देर पीछे ही वह आनन्द रफूचक्कर हो जाता है, उसके स्थान पर शक्ति क्षीण होने की जो निर्बलता आती है, उसका दुख प्रारम्भ होजाता है।

नाचना देखने और गाना सुनने में नेत्र और कान इन्द्रिय की खाज क्षण भरके लिये मिटती है, इसलिये उस खाज को खुजाने के लिये नाटकघर या सिनेमा में तो धनिक वर्ग या साधारण जन बिना बुलाये पहुँच जाते हैं। परन्तु धर्म उपदेश में इन्द्रियों की खाज नहीं मिटा करती, इन्द्रियों की लालसा पूरी करने की कोई खुराक नहीं मिलती, बल्कि वहां पर तो इन्द्रियों के नियन्त्रण करने, विषयभोगों से विरक्त होने की बातें सुनने को मिलती हैं, रसना इन्द्रियों को जो अभक्ष्य पदार्थ प्रिय मालूम होते हैं उन्हे छोड़

देने की प्रेरणा उपदेश में सुनने को मिलती है, ब्रह्मचर्य पालकर स्पर्शन इन्द्रिय को विषयसेवन रोकने की बातें धर्म उपदेश में सुननी पड़ती हैं, इसलिये धर्म उपदेश में उन्हें रुचि नहीं होती।

जिस तरह लोगों की प्रीति अपने परिवार तथा प्रियजनों के साथ जुड़ी हुई है। माता पिता अपनी सन्तान के साथ अतिशय प्रेम प्रकट करते हैं। पति पत्नी परस्पर में एक दूसरे से बढ़कर प्रेम की दुहाई देते हैं। भाई और मित्र भी सच्चा प्रेम प्रकट करने का स्वांग रचते हैं। इस मोह लीला में फंसकर भी स्त्री पुरुष अपने आत्म-हित को भूल जाते हैं। उनको धर्म का उपदेश तथा शास्त्र की वाणी हितकारी नहीं प्रतीत होती, वे तो अपने हितकारी अपने परिवार के स्त्री पुरुषों को तथा मित्रों को समझते हैं, इसलिये उन्हें धर्म-उपदेश से अधिक हित उनकी बातों में मालूम होता है।

एक अच्छे धनिक सेठ के एक अच्छा गुणी, सुन्दर स्वस्थ युवक पुत्र था, उसके सिवाय उसके और कोई सन्तान न थी। अतः माता पिता का उस पर बहुत अनुराग था। उसकी पत्नी भी उससे बहुत प्रेम करती थी। धनिक होने से उसके मित्र भी काफी से अधिक थे। वे सभी प्रियजन उसको मधुरवाणी में बहुत विश्वस्त स्वर से कहा करते थे कि 'तुम हमको अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय हो, जहां पर तुम्हारा पसीना गिरेगा, वहां हम अपना रक्त बहा देंगे, तुम्हारी रक्षा के लिये अपने प्राणों का बलिदान कर देंगे, आदि २। सेठ का पुत्र भी अपनी उस छोटी सी दुनिया में आनन्द विभोर होकर सोचता था कि इससे अधिक और बढ़िया सुख मुक्ति में क्या होगा ?

एक दिन एक साधु यह कहता हुआ जा रहा था कि 'संसार झूठा है भाई, संसार झूठा है, इसमें कुछ भी सार नहीं है।' साधु के ये वाक्य उस सेठ के सुखी पुत्र ने भी सुने, उसको साधु के वचन निःसार प्रतीत हुए, उसने सोचा कि प्रत्येक जीव इस संसार को अपने दृष्टिकोण से देखता है। साधु के पास कुछ सुख साधन नहीं है, भीख मांगकर अपना जीवन निर्वाह करता है, इसी कारण उसके प्रियजन भी नहीं हैं, अतः साधु को यह सुखमय रंगीला ससार निःसार दीखता है, मुझे तो संसार में ही सब कुछ सार दीख पड़ता है।

फिर भी सेठ के पुत्र के हृदय में साधु के वाक्य अंकित से हो गये, भुलाये उनको वह भुला न सका, अतः बार बार सोचता था कि साधु के कहने का कुछ अभिप्राय है भी कि नहीं ? दूसरे दिन भी अलख जगाता हुआ वह साधु ऊंचे स्वर से वे वाक्य दोहराता हुआ निकला, दूसरे दिन भी सेठ के पुत्र ने उस साधु की आवाज सुनी, यद्यपि उस दिन भी उसे साधु की बातों पर विश्वास न हुआ क्योंकि उसके चारों ओर सुखका अपार सागर लहरें मार रहा था, परन्तु फिर भी उसका हृदय साधु की ओर आकर्षित हुआ, चित्त में साधु की बातों को कुछ गहराई में उतार कर जानने की इच्छा हुई।

अतः वह नित्य नियम से निपट कर, घर के आवश्यक कामों को भुगता कर दुकान पर गया, वहां भी व्यापारिक कार्यों की देख भाल की, मुनीमों आदि नौकरों को आवश्यक बातें बतलाईं और दुकान से अवकाश निकाल कर बड़ी उत्सुकता के साथ उस साधु की कुटिया पर जा पहुंचा। वहां पर उसने देखा कि साधु अपनी भिक्षा में मिले हुए रूखे सूखे भोजन को खाकर बड़ी निश्चिन्तता के साथ पैर फ़ैलाकर आराम से सो रहा है। यह देखकर उसके हृदय का यह भ्रम कुछ दूर हुआ कि यह साधु अपनी दरिद्रता के कारण संसार को झूठा कहता है क्योंकि साधुको निश्चिन्तवृत्ति को देखकर उसे प्रतीत हुआ कि साधु अपनी इस परिस्थिति में अपने आपको सुखी अनुभव कर रहा है।

साधु ने सेठ के पुत्र को देखा और संकेत से अपने पास बैठ जाने को कहा। तदनन्तर लेटे लेटे ही साधु ने उससे पूछा कि बच्चा! तू यहां किस कार्य के लिये आया है? सेठ के पुत्र ने नम्रता के साथ साधु से कहा कि महाराज! आप नगर में भिक्षा मांगते समय अलख जगाते हुए संसार के झूठे और नि:सार होने की बात कहते हैं वह मुझे सत्य प्रतीत नहीं होती, अतः उसके विषय में आपसे सन्तोष-जनक समाधान चाहता हूं।

साधु उठकर बैठ गया और मीठी वाणी में बोला कि बच्चा! अपने प्रश्न का समाधान तो तू स्वयं अपने अनुभव से ही करेगा, मेरा कहना तो कुछ समाधान का मार्ग दिखावेगा। सेठ के पुत्र ने कहा कि वह मार्ग ही दिखा दीजिये।

तब साधु बोला कि यह ठीक है आज तेरे यह सोना चांदी है जिसको तू धन समझ रहा है, किन्तु हो सकता है कि इसे चोर डाकू चुरा या लूट लें, अग्नि इसे भस्म कर दे, या व्यापार में घाटा आ जाने से तेरे पास एक कौड़ी भी न रहे। उस समय तेरा यह सुखका सागर क्षण भर में गर्मियों में छोटे तालाब की तरह सूख जायगा, बता उस समय संसार झूठा होगा या सच्चा? सेठ के पुत्र ने दीर्घनिःश्वास लेते हुए कहा कि ठीक है महाराज! मैं जिसे धन समझता हूं वह नष्ट हो सकता है, परन्तु मेरे सुख का सागर कैसे सूख सकता है, मेरे प्रियजन तो मेरे सब तरह सहायक हैं?

साधु हंसते हुए बोला, भोले बच्चे तू क्या हवाई दुर्ग निर्माण कर रहा है, तेरा धन नष्ट होते ही तेरे प्रियजनों का प्रेम भी क्या ऐसा ही हरा भरा बना रहेगा? अपने प्रियजनों के जिस प्रेम पर तुझे इतना भारी गर्व है, यदि तू परीक्षा करना चाहे तो वह भी तुझे उतना नहीं मिलेगा जितना कि तू समझ रहा है।

सेठ के पुत्र ने विस्मय और कौतूहल से पूछा कि महाराज! किस विधि से उनके प्रेम की परीक्षा लूं? साधु ने मुस्कराते हुए उसे श्वास रोकने की तथा अपने शरीर को मृतक जैसा बना लेने की विधि बताई और कहा कि कल प्रातः तू अपने आपको इस विधि के अनुसार मुर्दे के समान बना लेना, फिर तुझे अपने माता, पिता, पत्नी, मित्र आदि के अथाह प्रेम की परीक्षा हो जायगी, तेरे प्रश्न का समाधान तेरे सामने आ खड़ा होगा। परन्तु यदि ठीक परीक्षा करना चाहता है तो यह बात अपने तक ही रखना, अपनी स्त्री को भी न कहना।

सेठ के पुत्र ने भी मुस्कराते हुए विश्वास के साथ साधु की बात स्वीकार की और वैसा करने के लिये कह कर अपने घर चला आया।

दिन के सारे कार्य करके रात्रिको प्रतिदिन की तरह आराम से सोया, परन्तु प्रभात होने की उत्सुकता उसे बनी रही। प्रभात होते ही वह शैया से उठा और उसने माता से कहा कि मां! मुझे रात को बहुत बुरा स्वप्न आया है। इतना कहकर वह यह कहते हुए जमीन पर लेट गया कि मेरा हृदय घबड़ा रहा है, इतना कहते कहते साधु द्वारा विधि के अनुसार एक दम श्वास रोककर अकड़ गया, मुर्दा जैसा बन गया।

उसकी मां ने अपने पुत्र की मुर्दे जैसी हालत देखी तो वह घबड़ायी और धाड़ मार मार कर रोने

लगी, अपनी सास का रोना सुन कर उसकी बहू भी आगई, पिता भी आ गया और क्षण भर में उसके सारे मित्र भी वहां एकत्र हो गये। सभी ने उसकी सच्ची मृत्यु समझकर जोर जोर से रोना शुरू कर दिया।

वह साधु भी नियत समय पर अलख जगाता हुआ उधर आ निकला। सेठ के घर में जोर जोर से रोने का शब्द सुनकर साधु ने सारामामला भांप लिया और सेठ के घरमें भीतर जा पहुंचा। रोने वाले लोगों से पूछा कि भाई क्या बात है ? लड़के के मित्रों ने सेठ के पुत्र की ओर संकेत करके कहा कि हमारा प्राणप्यारा मित्र मर गया है। साधु को वहां देखकर उस युवक के माता, पिता, पत्नी तथा उपस्थित मित्र और जोर से रोने लगे और रोते रोते ही कहने लगे कि 'तेरी बजाय हम मर जाते तो अच्छा था।'

साधु उस लड़के के पास बैठ गया, और उसको देखकर रोने वालों से बोला कि ठहरो, रोना बन्द करो, मैं इसे जीवित कर सकता हूँ। साधु की बात सुनते ही सब चुप हो गये। साधु ने एक गिलास में पानी मंगाया और कुछ मन्त्र पढ़ कर तथा थोड़ीसी उसमे भस्म डालकर उन सब रोने वालों से कहा कि अब तुम में से कोई भी एक व्यक्ति इस पानी को पीलो। जो इस जल को पी लेगा वह मर जायगा और यह सेठ का पुत्र जीवित हो जायगा।

साधु की बात सुनकर सब स्तब्ध (हक्के बक्के) हो गये, किसी के मुख से स्वीकार का शब्द न निकला। तब साधु ने उसके माता पिता से पूछा कि तुम दोनों में से एक व्यक्ति अपने प्राण देकर अपने प्राण प्यारे पुत्र को बचालो, दोनों बूढ़े हो चुके हो। दोनों ने गिड़गिड़ाते हुए कहा कि महाराज ! पुत्र तो और भी आजायगा, गये प्राण तो नहीं आ सकते। तब साधु ने उसकी पत्नी से जल पीलेने को कहा। पत्नी बोली महाराज ! अभी मैंने संसार में कुछ नहीं देखा, आप मरा तो जग सूना, अपना वैधव्य (रंडापा) जैसे तैसे काट लूंगी। तब साधु ने उसके मित्रों से पूछा वे सब बोले कि महाराज ! हम अपने घरवालों से पूछ कर जल पी सकते हैं।

तब साधु ने कहा कि अच्छा, इस जल को मैं पीलूं। साधु की बात सुनकर सब एक साथ बोल उठे हां महाराज ! आप पी लीजिये, बड़ी कृपा होगी। तब साधु ने मुस्कराते हुए वह जल पी लिया, और उस बनावटी मृतक सेठ के पुत्र को हाथ का सहारा देकर कहा कि उठ बच्चा ! उठ। साधु की बात सुनते ही सेठ का पुत्र मुस्कराते हुए उठ बैठा और साधु से बोला महाराज ! आपका कहना सत्य है, यह स्वार्थ-मय संसार यथार्थ में असार है।

प्रवचन नं० ८६

स्थान— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि— प्रथम भाद्रपद शुक्ला १२ मंगलवार ३० अगस्त १९५५

सल्लेखना परिचय

आत्मा अजर अमर है, अत. वह न कभी उत्पन्न होता है, न मरता है, किन्तु वह आत्मा जिस भौतिक शरीर को अपना निवास घर बनाकर कुछ दिन उसमें रहता है उस शरीर का निर्माण माता के

उदर में नौ मास तक सम्पन्न हो जाता है, तदनन्तर वह बाह्य जगत में आता है, जिसे जनता 'जन्म' कहती है। तदनन्तर उस शरीर के आकार प्रकार में शनैः शनैः वृद्धि होती है और वह शैशवकाल, किशोर-काल समाप्त करके यौवन दशा में पहुच जाता है। जहां कि उस भौतिक शरीर का पूर्ण विकास होकर वृद्धि समाप्त हो जाती है। तदनन्तर दिनके तीसरे पहर की तरह प्रौढ़ दशा में शरीर क्षीण होने लगता है और अपने चौथेपन वृद्ध अवस्था में पहुँच कर शरीर वृक्ष के पके हुए पत्ते की तरह जीर्ण शीर्ण हो जाता है, तब वह किसी रोग आदि साधारण आघात से इस तरह निर्जीव निश्चेष्ट होकर सदा के लिये गिर जाता है जैसे कि वायु के साधारण झकोरे से भी पका हुआ पत्ता वृक्ष से टूट कर गिर जाता है। जन साधारण की भाषा में शरीर की इस निष्क्रिय दशा का नाम 'मृत्यु' है। आध्यात्मिक भापा मे इसे आत्मा द्वारा शरीर परित्याग या नूतन शरीर में आत्म-प्रवेश कहते हैं।

वैसे तो शरीर की मृत्यु उसी दिन से प्रारम्भ हो जाती है जिस दिन कि उसका जन्म होता है। फूटे हुए घड़े में से जिस तरह एक एक बूंद पानी टपक २ कर कम होता जाता है उसी तरह शरीर भी क्षण क्षण में क्षीण होता हुआ मृत्यु के निकट पहुँच जाता है, जीवन की अवधि कम होती जाती है। परन्तु जनता की स्थूल दृष्टि उसे नहीं देख पाती।

इस शारीरिक जन्म मृत्यु को संसार भूल से आत्मा या जीव की जन्म मृत्यु कहने लगा है।

भोगी मनुष्य अपने जीवन के अमूल्य क्षण शरीर की सेवा में—विषयभोगों में बिता देता है, आत्मा को स्वस्थ निराकुल करने की ओर उसका ध्यान नहीं जाता, इसी शारीरिक मोह के कारण वह सदा मृत्यु से भयभीत बना रहता है। परन्तु योगी जन अपने नर जीवन के अमूल्य क्षणों को आत्मशुद्धि, आत्मविकास या आत्मसाधना में व्यतीत करता है, उसको शारीरिक पतन की चिन्ता नहीं होती, उसे तो अपने आत्मा के पतन की चिन्ता रहती है। इसी कारण वह आत्मा के पतन के कारणों—क्रोध, मद, माया, लोभ, काम, मोह आदि से सचेत रहकर आत्मा को उनसे बचाता रहता है, सदा अपना समय आत्मचिन्तन, परमात्मचिन्तवन, ध्यान, स्वाध्याय, शास्त्र अभ्यास आदि में लगाता है। इसी कारण योगी अपने जीवन में आत्मा की अमूल्य निधि—क्षमा, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, नम्रता, निर्लोभ, समता, ज्ञान आदि को बहुत बड़ी मात्रा में एकत्र कर लेता है। उसकी इस अमूल्य निधि को काम, क्रोध, लोभ आदि चोर चुरा न ले जावें इसके लिए वह सतत सचेत रहता है। रात्रि के समय भी इसी कारण वह बहुत थोड़ी नींद लेता है।

सल्लेखना

जिस समय इस भौतिक शरीर की मृत्यु का क्षण निकट आता दीखता है, तब मोही जीव अपना शरीर छूटता देख व्याकुल होता है भयभीत हो जाता है, दुःखी होता है और उसे बचाने के लिये सभी संभव प्रयत्न करता है। परन्तु योगी उस समय भयभीत और व्याकुल या दु.खी नहीं होता क्योंकि वह जीवन, मरण के यथार्थ रहस्य को समझता है, शरीर के जाने में उसे अपनी कोई हानि नजर नहीं आती। उसके सामने तो उस समय आत्मनिधि की सुरक्षा का प्रश्न महत्वपूर्ण होता है। वह नहीं चाहता कि जीवन मे तपस्या के कारण जो आत्मशुद्धि की है उस पर क्रोध शोक मोह आदि का मैल फिर आ जावे।

अतः वह उस समय और भी जागरुक होकर शारीरिक चिन्ता और क्रोध, मद, मोह आदि कषायों से दूर रह कर आत्मसाधना में निरत हो जाता है। इस तरह आत्मशुद्धि की भावना से अपने शरीर को तथा क्रोध आदि कषायों को कृश करते जाना सल्लेखना है।

[सत्=आत्म शुद्धि के शुभ उद्देश्य से+लेखना=शरीर तथा कषाय का कृश करना=सल्लेखना]

शरीर से मोह कम करने के लिये भोजन में क्रमशः कमी करना शरीर लेखना है। जैसे भोज्य पदार्थ त्याग कर दूध छाछ जल आदि पेय पदार्थ ही आहार में लेना, फिर क्रमशः उनमें भी दूध छाछ आदि छोड़ कर केवल जल ही रखना और अंतिम समय निकट आता देख जल भी त्याग देना, यह शरीर लेखना का क्रम है।

अनेक निकट वर्ती तथा दूरवर्ती व्यक्तियों (सम्बन्धियों, मित्रों, चाकरों तथा शत्रुओं) से समता भाव लाने के लिये उनसे मोह या द्वेष त्यागना, उनसे अपने ज्ञात अज्ञात अपराधों की क्षमा मांगना तथा स्वयं उनको क्षमा कर देना। संसार के सब पदार्थों से मानसिक सम्बन्ध भी दूर कर देना, अपने शरीर के वस्त्रों, बिस्तरों, नीचे बिछी चटाई आदि चीजें भी क्रम से हटाते जाना कषाय-लेखना है।

शरीर कृश करने का उद्देश्य यह है कि मृत्यु क्षण में भूख प्यास आदि से व्याकुलता अशांति न होने पावे, भूख प्यास शान्ति से सहन करने का उत्कट अभ्यास हो जावे। कषाय कृश करने का अभिप्राय अपने संचित क्षमा शान्ति धैर्य निर्वैर मार्दव आदि आत्म गुण सम्पत्ति की क्रोध मोह मद माया आदि दुर्भावों से सुरक्षा करना है।

यह आत्महत्या नहीं है

मनुष्य जब किसी क्रोध, लोभ, लज्जा, भय, शोक आदि के आवेश में आकर क्लेशित भावों से भूखा रहकर या फांसी लगाकर, नदी में कूद कर अथवा बिजली आदि द्वारा मृत्यु का आलिंगन करता है तब वह कायरता पूर्ण आत्म-हत्या होती है। क्योंकि मानसिक दुःख न सह सकने के कारण ऐसा करता है। किन्तु सल्लेखना में क्रोध, शोक, भय, क्षोभ आदि कोई दुभाव नहीं होता, आत्मसाधना में तन्मय होकर शान्ति और धैर्य से मृत्यु का स्वागत किया जाता है, अतः वह 'वीरमरण' है।

प्रातः स्मरणीय श्री समन्तभद्र आचार्य ने लिखा है—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायांच निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्या॥ रत्नकरण्ड श्रा०

यानी—किसी प्राण घातक महान् उपद्रव के आ जाने पर या ऐसे महान् दुष्काल में फंस जाने पर जिस से सुरक्षित होने की आशा न रहे, अतिशय वृद्ध अवस्था आ जाने पर, असाध्य रोग हो जाने पर, धर्मभावना, धर्मसाधना के साथ शरीर छोड़ना सल्लेखना है, ऐसा सर्वज्ञ भगवान् के उपदेशानुसार आचार्य कहते हैं।

जिस तरह मकान में आग लग जाने पर प्रथम तो उस मकान का स्वामी उस आग को बुझाने का यत्न करता है, किन्तु जब उसे यह प्रतीत होता है कि आग बुझ न सकेगी उस समय वह घर में से सबसे अधिक मूल्यवान पदार्थों को सुरक्षित ले जाने का प्रयत्न करता है जिस से कि वह दीन दरिद्र न

बनने पावे, अपना भावी जीवन सुख से बिता सके। इसी प्रकार धार्मिक व्यक्ति के ऊपर जब कोई प्राण-घातक महान् संकट आ जाता है तब वह पहले तो संकट को दूर करने की चेष्टा करता है, जब उसे यह विश्वास हो जाता है कि किसी भी तरह जीवन बच नहीं सकता, मृत्यु अवश्य होगी तब वह अपनी अन्तिम चेष्टा यह करता है कि अपने जीवन में मैने जो व्रत, तप, त्याग संयम द्वारा धर्मनिधि संचित की है, उसको बचा लूं जिस से कि शरीर के साथ नष्ट न हो जावे। क्योंकि उस धर्मनिधि के सुरक्षित रह जाने पर उसका अन्य भव सुखमय हो सकता है।

आयु कर्म का बन्ध जीवन में आठ वार मे से किसी भी वार योग्यता होने पर हो सकता है, उन आठ वारों का नाम जैन सिद्धान्त में 'अपकर्ष काल' कहा है, कदाचित् उन आठों अपकर्ष कालों में से कभी भी अन्य भव की आयु न बन्ध पाई हो तो अन्तिम समय (मृत्यु क्षण) में अन्य भव की आयु अवश्य बन्ध जाती है। इसी कारण आचार्यों का उपदेश है कि सदा अपने परिणाम अच्छे रक्खो, मन वचन काय की चेष्टा पापमय न होने दो, क्योंकि पता नहीं किस क्षण में अन्य भव की आयु बन्धने का अवसर आ जावे। आयु बन्धने के समय मन वचन काय की प्रवृत्ति यदि अशुभ होगी तो नरक तिर्यञ्च की आयु बन्ध सकती है, यदि उस समय शुभ चेष्टा, शुभ भावना, शुभ वचन होंगे तो मनुष्य, देव की आयु का बन्ध होगा। अन्यथा मरने के समय जैसे परिणाम होंगे उनके अनुसार परभव का आयुबन्ध हो जाएगा।

इसी के अनुसार लोक में यह कहावत प्रचलित है कि 'अन्त मति, सो गति' यानी—मरण समय में जैसे परिणाम होंगे आगामी भव भी उसी प्रकार का होगा। अतः अन्य भव सुधारने में 'सल्लेखना' विशेष कारण है।

नीतिकार ने कहा है—

तावद्भयस्य भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्याद्यथोचितम् ॥

यानी—भय से तभी तक डरना चाहिये जब तक कि भय अपने पास न आने पावे किन्तु भय को अपने पास आया देखकर मनुष्य को यथा उचित प्रयत्न करना चाहिये।

मृत्यु से भय पापी पुरुष को होता है कि 'मैने अपने जीवन में महान् पाप कार्य किये हैं, पता नहीं मर जाने पर मैं किस नरक, निगोद पशु पक्षी की योनि में जा कर अपने पापों का दण्ड भोगूंगा। उसे अपने किये हुए पाप स्मरण आकर मृत्यु से भय लगता है। पापी भी मृत्यु क्षणों में बुद्धिमानी से काम ले तो समाधिमरण द्वारा अपना कल्याण कर सकता है। परन्तु जिस सुजन व्यक्ति ने अपने जीवन में परोपकार, दान, पूजा, व्रत, तप, संयम आदि धर्म कार्य किये हैं, उसे मृत्यु से क्या भय हो सकता है। उसको तो हर्ष होता है कि यह पुराना शरीर छूट कर नया शरीर प्राप्त होगा।

आचार्य कहते हैं—

कृमिजालशताकीर्णे जर्जरे देहपंजरे ।
भुज्यमाने न भेतव्यं यतस्त्वं ज्ञानविग्रहः ॥२। (मृत्यु महोत्सव)

अर्थात्—यह जीर्ण शीर्ण पौद्गलिक शरीर सैकड़ों कीड़ों से भरा हुआ है, इसके नष्ट होते समय जरा भी भयभीत न होना चाहिये क्योंकि तू स्वयं ज्ञानमय या ज्ञान शरीरी है, मृत्यु द्वारा तेरा नाश नहीं होता।

साधारण सी परदेश यात्रा करते समय मनुष्य बड़े उत्साह और हर्ष के साथ अनेक प्रकार के शुभ शकुन बनाता है, भगवान् का शुभ नाम लेकर प्रस्थान करता है तो मृत्यु समय तो परलोक यात्रा करने का अवसर है, उस समय तो और भी अधिक सावधानी और हर्ष के साथ शुभ शकुनों की तैयारी होनी चाहिये। उस समय रोना, शोक करना, पछताना आदि अपशकुन की बातें छोड़कर श्री जिनेन्द्र देव का पवित्र स्मरण और उनका नाम उच्चारण करना चाहिये, वैराग्य भावना द्वारा शारीरिक मोह छोड़ देना चाहिये।

आचार्य ने कहा है—

> यत्फलं प्राप्यते सद्भिर्व्रतायासविडम्बनात्।
> तत्फलं सुखसाध्यं स्यान्मृत्युकाले समाधिना ॥१४॥ (मृत्यु महोत्सव)

यानी—धर्मात्मा जो सुकार्य व्रत, तप संयम आदि द्वारा करता है, उतना कार्य या उतना फल वह मृत्यु समय समाधि द्वारा सहज में प्राप्त कर लेता है।

प्रवचन नं० ८७

स्थान— श्री दिगम्बर जैन लाल मन्दिर, दिल्ली।

तिथि— प्रथम भाद्रपद शुक्ला १३, बुधवार ३१ अगस्त १९५५

प्रचार का प्रयत्न

वैसे तो सदा ही प्रचार का युग रहा आया है किन्तु यह युग तो विशेष करके प्रचार का है। जो देश, समाज या धर्म प्रचार प्रोपेगण्डे में जितना अधिक अग्रेसर है वह उतना ही अधिक लाभ उठाता है। गत द्वितीय महायुद्ध के समय मे जर्मनी ने रेडियो द्वारा केवल बहुत भारी प्रचार करके अनेक स्थानों पर विजय प्राप्त की थी। विशाल प्रचार तथा विज्ञापन के बल पर यूरोप अमेरिका के उद्योगपति संसार में छागये हैं। वे अपने अल्पमूल्य की घटिया वस्तुओं को भी बहुत भारी विज्ञापन (एँडवरटाइजमेंट) तथा प्रचार के द्वारा बड़े भारी लाभ के साथ बड़े भारी मूल्य पर बेच रहे हैं, जबकि भारतीय उद्योगपतियों का अपेक्षाकृत बढ़िया माल भी प्रचार तथा विज्ञापन की कमी से अल्पमूल्य पर भी नहीं बिक पाता।

विज्ञापन या प्रचार प्रत्येक दिशा में अधिक लाभदायक सिद्ध होता है। चुनाव के दिनों में जो दल अपना जितना अधिक प्रचार करता है उस दल के उतने ही अधिक सदस्य सफल होते हैं। एक बार अंग्रेजी शासन के समय कौंसिलो के चुनाव के समय नर्मदल की ओर से सी० वाई चिन्तामणि खड़े हुए थे, तो गर्मदल वालों ने जनता में यह असत्य प्रचार कर दिया कि 'चिन्तामणि तो एक वेश्या है।' इसी

प्रचार के कारण चिन्तामणि असफल हो गये। धर्मों का प्रसार भी प्रचार के बल पर हुआ करता है। जिस धर्म का प्रचार जितना अधिक हुआ करता है उस धर्म के अनुगामी उतने ही अधिक होते जाते हैं। तथा जो धर्म प्रचार में जितना पिछड़ जाता है उसके अनुयायियों की संख्या भी उतनी ही कम हो जाती है।

जैन धर्म का प्रचार भगवान् महावीर ने अपने समय में इतना किया कि उनके नाम पर वर्द्धमान, वीरभूम, सिंहभूम, मानभूम आदि अनेक नगरों का नाम करण हुआ, भारत में जैनधर्म राजधर्म के रूप में बन गया। अहिंसा धर्म की ध्वजा समस्त भारत में फहराने लगी। भगवान् महावीर के निर्वाण हो जाने पर उनकी शिष्य परम्परा ने भी जैनधर्म का बहुत भारी प्रचार किया। सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासनकाल में ४२ हजार जैन साधुओं का विशाल संघ तो केवल मालवा में था। द्वादशवर्षी दुर्भिक्ष आने से पहले श्री भद्रबाहु आचार्य की प्रमुखता मे हजारों जैन साधुओं का संघ दक्षिण भारत की ओर विहार कर गया। सम्राट् चन्द्रगुप्त ने भी जैन साधु की दीक्षा लेकर उन्हीं साधुओं के साथ दक्षिण की ओर विहार किया।

हजारों साधुओं का मालवा में रहना और हजारों साधुओं का संघ उत्तर भारत से विहार करता हुआ दक्षिण भारत को जाना इस बात की साक्षी है कि उस समय उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत में जैनधर्म का बहुत भारी प्रचार था, बहुत बड़ी संख्या में जैनधर्मानुयायी भारत में उस समय थे, तभी हजारों साधुओं के शुद्ध खान पान, विहार, ठहरने आदि की सुव्यवस्था उस जमाने में अनायास हो जाती थी।

किन्तु आज जब हम इस ओर दृष्टिपात करते हैं तब बहुत निराशा होती है, इस समय दिगम्बर साधु केवल ३७ - ३८ हैं, उनमें भी क्षति होती जा रही है। शारीरिक, कालिक एवं क्षेत्र सम्बन्धी कठिन परिस्थितियों के कारण नवीन साधुओं का होना दुर्लभ नजर आता है। अतः जैनधर्म का प्रचार बहुत कम हो गया है। जैनधर्म के महान् प्रचार को सम्पन्न करने के लिये सम्यग्दर्शन के आठ अंगों में से आठवां अग 'प्रभावना' बतलाया गया है। प्रभावना अंग का मूल उद्देश्य जैनधर्म को व्यापक बनाना था। किन्तु जैन समाज ने इस ओर इतनी उपेक्षा की है कि हमारी पड़ोसी जनता भी अनभिज्ञ है कि जैनधर्म क्या वस्तु है। करोड़ों भारतीय स्त्री पुरुष भी जैनधर्म से अपरिचित हैं।

भारतीय जैनेतर विद्वानों में से अधिकांश जैनधर्म से अनभिज्ञ हैं, जैन सिद्धान्त का साधारण परिज्ञान भी बिरलों को होगा। तब विदेशों में तो जैनधर्म को कौन कितना समझता होगा। संसार के सबसे प्राचीन, सबसे प्रमुख, सिद्धान्त और आचार की दृष्टि से सबसे अग्रेसर धर्म प्रसिद्धि में इतना पीछे! यह सब प्रचार की कमी का परिणाम है।

महात्मा यीशु (हजरत ईसा) भगवान् महावीर से लगभग ५०० वर्ष पीछे हुए हैं। उनका २९ वर्ष का प्रारम्भिक समय अज्ञात है। अनेक ऐतिहासिक विद्वानों के मतानुसार हजरत ईसा भारत में आये थे और उन्होंने भारत में जैन साधुओं से आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया था। जैन साधुओं के तप, त्याग, संयम से हजरत ईसा अच्छे प्रभावित थे, तदनन्तर उन्होंने पश्चिमी देशों में अपने मनोनीत धर्मका प्रचार किया। यहूदी लोगों ने हजरत ईसा को धार्मिक विद्वेष के कारण लकड़ी के बने हुए क्रास पर चढ़ाकर फांसी लगा दी थी।

धार्मिक विद्वेष की बलि वेदीपर चढ जाने के बाद ईसा द्वारा बोया गया ईसाई धर्मका बीज बटवृक्ष (बरगद के पेड़) की तरह बहुत फला फूला। यद्यपि ईसाईयों में कैथोलिक और प्रोटैस्ट नामक दो दल हो गये थे, और उनमें परस्पर इतना भयानक झगड़ा हो रहा था कि उनके रक्तरंजित इतिहास ने धर्म को संसार में विवाद या खून खच्चर की जड बताकर बदनाम कर दिया। ईसाई मत के ये दोनों दल एक दूसरे के अनुयायियों या गुरुओं को पकड़कर जीवित जला देते थे। परन्तु फिर भी यूरोप में ईसाई धर्म वहां का राजधर्म या राष्ट्रधर्म बन गया। इस समय प्रायः समस्त यूरोप, समस्त अमेरिका, समस्त आस्ट्रेलिया, महाद्वीप ईसाई धर्मानुयायी है। एशिया तथा अफ्रीका महाद्वीप के भीतर भी इस धर्म की जड़ें गहराई तक चली गई हैं। इसतरह ईसाई धर्म इस समय सबसे बड़ा धर्म जनसंख्या की अपेक्षा से माना जाता है, लक्ष्मी तथा जनता और विद्या, कला, शक्ति आदि की दृष्टि से ईसाई धर्म इस समय सबसे अग्रसर है।

यद्यपि इस्लामी आक्रमणकारियों ने बड़े दल बल से यूरोप पर भी चढ़ाई की थी और अपनी नीति के अनुसार ईसाई गिरजाघरों को आग लगाकर यूरोप में तलवार के बल पर इस्लाम धर्म का प्रचार करने का उपक्रम किया था परन्तु यूरोप की संगठित वीर शक्ति ने इस्लाम विजेताओं के मुख फेर दिये।

संसार में जिस तरह तलवार के बल पर जोर जबरदस्ती से मुसलमानी धर्म फैला है, उस तरह ईसाई धर्म संसार में नहीं फैला। यद्यपि पुर्तगाल से व्यापार के लिये आज से ४०० वर्ष पहले भारत में आये हुए ईसाइयों ने प्रारम्भ में भारतीय हिन्दू मुसलमानों पर धर्म प्रचार के लिये तथा धन लूटने के लिये अत्याचार किये थे परन्तु उसे एक अपवाद समझना चाहिये। ईसाई धर्म का प्रचार संसार में एक अच्छे सुसगठित प्रचार तथा दीन दरिद्र जनता की सेवा के द्वारा हुआ है।

अपने धर्म को विश्वव्यापी बनाने में यूरोप अमेरिका के गोरे ईसाइयों का यद्यपि कुछ राजनैतिक ध्येय भी रहा है। जिस तरह हिन्दुस्तान में जन्म लेकर हिन्दुस्तान के जल वायु भोजन से ही पालन पोषण पाकर भी भारत का मुसलमान अपने इस्लामधर्म के जन्म स्थान मक्का मदीना की ओर श्रद्धा से देखता है उसका शरीर हिन्दुस्तानी होता हुआ भी उसका हृदय और दिमाग अरबी होता है, पाकिस्तान भी इसी भावना पर ही बना है। यूरोप अमेरिका के ईसाइयों ने भी अन्य देशों में ईसाईधर्म के प्रचार द्वारा यूरोप अमेरिकाके साथ राजनैतिक सहानुभूति प्राप्त करके विशाल शाखाए फैलाने का लक्ष्य निर्द्धारित किया। धर्म के सूत्र द्वारा एशिया अफ्रीका की जनता को अपने साथ सम्बद्ध करने का यत्न किया। अस्तु कुछ भी भावना हो किन्तु उन्होंने अपने ईसाई धर्म के प्रचार के लिये जो धन का महान त्याग किया है वह अनुपम है।

अकेले भारतवर्ष में ही ईसाई धर्म के प्रचार के लिए लगभग ३० करोड़ रुपया वार्षिक खर्च किया जाता है, अब आप अनुमान लगा सकते हैं कि समस्त संसार मे ईसाई धर्म के प्रचार के लिए कितनी विशाल राशि खर्च की जाती है।

ईसाई धर्म के प्रचारक साधारण पढ़े लिखे अनुभव शून्य व्यक्ति नहीं होते बल्कि उनको बहुत ऊंची शिक्षा दी जाती है। बेंगलोर में ईसाइयों का एक बड़ा स्कूल है जिसमें लगातार २१ वर्ष तक प्रत्येक विद्यार्थी को शिक्षा दी जाती है। उसे ब्रह्मचर्य नम्र व्यवहार, मिष्ट भाषण, उच्च कोटि का दार्शनिक ज्ञान

भाषण पटुता सिखा कर ईसाई धर्म में अटल श्रद्धा उत्पन्न की जाती है। जनता की सेवा की भावना उसमें भरी जाती है, क्रोध न आने का प्रकाण्ड अभ्यास कराया जाता है तथा ईसाई धर्म के प्रचार के विविध साधनों की शिक्षा दी जाती है। २१ वर्ष तक की चतुर्मुखी शिक्षा से सम्पन्न होकर जब वह स्नातक उस स्कूल से निकलता है उस समय उसको ईसाईधर्म के प्रचार कार्य पर नियुक्त किया जाता है।

जिस क्षेत्र में प्रचार करने का कार्य उसको सौंपा जाता है उस क्षेत्र की भाषा का उसे अच्छा अभ्यास कराया जाता है, उस क्षेत्र का भौगोलिक, उस क्षेत्र के निवासियों की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक मान्यता का विवरण उसकी जानकारी में होता है। बंगाल में जिस प्रचारक को भेजा जायगा उसे बंगाली भाषा का तथा वहां के नगरों, गांवों, जंगलों, पर्वतों आदि का अच्छा ज्ञान करा दिया जायगा। मद्रास प्रान्त मे जो ईसाई प्रचारक भेजा जाता है उसे मद्रास प्रान्त की भाषा, लोगों का रहन सहन आदि मालूम होगा।

ईसाई प्रचारक ऐसी जगह प्रचार नहीं करते, जहां पर अन्य धर्मों के अच्छे विद्वान् रहते हों, जहांपर सम्पन्न लोग हो। उनका प्रचार अशिक्षित असभ्य दरिद्र जनता में हुआ करता है। वे ऐसे स्त्री पुरुषों के केन्द्र में अनाथालय या स्कूल खोल देते हैं। जिसके द्वारा लोगों की बीमारियों का मुफ्त इलाज करके अपनी ओर आकर्षित करते है. गरीब लड़कों को मुफ्त पढ़ाते हैं, उन्हे साफ कपड़ा पहनने को और अच्छा खाने को देते हैं। बड़े हो जाने पर उनका अन्य अनाथ लड़कियों से विवाह करा कर किसी नौकरी आदि आजीविका पर लगा देते हैं।

गिरजा घर के बाहरी दरवाजों पर अनेक जगह लिखा होता है कि 'तुम मेरी शरण में आओ, मैं तुमको भोजन और वस्त्र दूंगा।' ऐसा ही गरीबों असहायों की सेवा करके वे करते भी हैं। इस तरह बीसों अनाथालय, सैकड़ों स्कूल, कालेज, अस्पताल, बोर्डिंग हाऊस आदि ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिये रात दिन कार्य कर रहे है। धनिक या खाता पीता व्यक्ति तो कोई ईसाई न बना होगा, ईसाई धर्म में दीक्षित होने वाले प्रायः दीन, दुखी, अशिक्षित स्त्री पुरुष ही होते हैं।

करोड़ों वर्षों से चले आये, भारत में उदित हुए जैनधर्म के अनुयायियों की कुल संख्या लगभग २५ लाख होगी, तब भारत में केवल गत ३-४ शताब्दियों से प्रचलित ईसाई धर्म के अनुयायियों की संख्या इस समय ६० लाख से भी अधिक है, और यह संख्या दिनोंदिन बढ़ती चली जा रही है।

हमको ईसाई धर्म के इस अनुपम प्रचार कार्य से समुचित शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। विहार, बंगाल, उड़ीसा में हमारे पुराने जैन भाइयों की एक जाति है जिसका सराक है। सैकड़ों वर्षों से प्रचार के न होने के कारण वे अपनी जैन संस्कृति, जैन सिद्धान्त को भूल गये हैं, उन्हे यह भी पता नहीं कि 'सराक' श्रावक शब्द का अपभ्रंश है।

जैन समाज अपने अच्छे निष्णात कुशल प्रचारकों द्वारा इनमें यदि सतत प्रचार करें और इन सराक भाइयों को आर्थिक सहयोग देकर उनकी व्यापारिक प्रगति में योग दें, तो यह समस्त जाति पक्की जैन धर्मानुयायी बन सकती है। इसके सिवाय अपने उपयोगी साहित्य को घर घर में पहुंचाकर प्रत्येक व्यक्ति को जैनधर्म का परिचय करावें।

प्रवचन नं० ८८

स्थान— तिथि—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ दिल्ली। प्रथम भाद्रपद शुक्ला १४ बृहस्पतिवार १ सितम्बर १९५५

दिगम्बर साधु

संसारी जीव शरीर को निजी वस्तु समझ कर उसकी सेवा करने में अपना सारा जीवन लगा देते हैं। जिस नर-भव का एक एक क्षण अमूल्य है वह नरभव भी शरीर की सेवा शुश्रूषा में व्यतीत हो जाता है। मनुष्य शरीर कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न, कामधेनु के समान है, इस शरीर द्वारा मनुष्य जो कुछ भी मांगे उसे मिल सकता है, परन्तु मोही और अज्ञानी पुरुष इस शरीर को पाकर भी इसके द्वारा रंचमात्र भी आत्म-हित नहीं करता, खाली मुट्ठी बांध कर जन्म लेता है और खाली खुले हाथ चला जाता है।

शरीर इसको एक विश्वस्त हितकारी चाकर के समान मिला है, इस शरीर को यदि व्रत तप संयम में लगा कर अपनी इच्छानुसार इस से काम लेवे तो शरीर वैसी सेवा करने से निषेध (इन्कार) नहीं करता, उसके लिये भी सदा तैयार रहता है, परन्तु मूर्खता से मनुष्य अपने दास की दासता स्वयं करने लगा है। अपने विश्वासी नौकर की सेवा करके मनुष्य ने अपने शरीर को कृतघ्न (नमकहराम) बना दिया है। इन्द्रियों के विषयों की इच्छायें पूर्ण करते हुए शरीर को मनुष्य ने इतना आरामपसन्द प्रमादी बना दिया है कि आत्मा का वह दास नहीं रहा बल्कि आत्मा ही शरीर का दास बन गया है, इस कारण शरीर अपने सुख के लिये आत्मा को प्रेरणा करता है, सैकड़ों पाप अन्याय अत्याचार करके भी यह आत्मा शरीर की इच्छाएं पूर्ण करता है। संसार का प्रत्येक प्राणी न सही, केवल मनुष्य ही शरीर को अपना दास बना लेवे, जो कि है भी, तो संसार से सभी पाप अन्याय अत्याचार क्षण भर मे इस तरह विदा हो जावें जिस तरह गधे के शिर से सींग।

जिस तरह स्वामी की निर्बलता अनुभव करके मुँह चढ़ा नौकर अपने स्वामी के सामने गुर्राने लगता है इसी तरह यह शरीर भी मनुष्य आत्मा की ओर गुर्राता हुआ मनुष्य से न करने योग्य भी कार्य कराता है। प्रकृति की छाया में रहने वाला प्रत्येक पशु पक्षी, छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा प्राणी सर्दी गर्मी वर्षा को अपने नंगे शरीर पर झेलता है और जन्म भर नीरोग रहता है कभी बीमार नहीं होता, समस्त ऋतुओं में प्रसन्न घूमता फिरता है, परन्तु मनुष्य ने अपनी निर्बलता स्वयं स्वीकार करके अपने शरीर को अनेक तरह के सूती, रेशमी, ऊनी आदि तरह २ के वस्त्रों से ढककर शरीर की सहन शक्ति को निर्बल कर दिया है इसी कारण प्राकृतिक वायु को भी यह मनुष्य बिना वस्त्र पहने सहन नहीं कर पाता, थोड़ी देर भी नगे शरीर पर शीत उष्ण वायु मनुष्य को रोगी बना देती है।

दूसरे—बाल्य अवस्था में मनुष्य निर्विकार ब्रह्मचारी रहता है, अतः बिना धोती, पाजामा, लंगोटी, आदि आच्छादन वस्त्र पहने माता बहिन आदि सबके सामने नगा घूमता रहता है। न तो उसे नंगा देखकर किसी के मन में काम विकार जाग्रत होता है और न उस बच्चे की कामइन्द्रिय पर किसी स्त्री को देखकर रंचमात्र भी कामविकार जाग्रत होने पाता है, परन्तु ज्यों ज्यों बड़ा होते हुए, संसार की

विषयवासनाएं उसके मन में अपना दूषित प्रभाव डालती जाती हैं, त्यों त्यों उसके मन में कामविकार पैठता जाता है जिस से कि उसकी इन्द्रिय पर वह विकार प्रगट होने लगता है। तब उस विकार पर आवरण डालने के लिये उसके माता पिता उसको नेकर, पजामा, धोती आदि अधोवस्त्र पहनाने लगते हैं। जो महान् व्यक्ति कामवासना पर विजय प्राप्त करके अपने हृदय में कामविकार उत्पन्न न होने दें तो उनकी इन्द्रिय पर भी वह प्रगट नहीं होता। उस दशा में नग्न दशा में रहते हुए भी निर्विकार बने रहते हैं।

राजा भर्तृहरि ने अपनी प्रिय रानी पिङ्गला की व्यभिचार लीला के कारण संसार से विरक्त होकर साधु वेश धारण किया, उस भर्तृहरि ने उत्कृष्ट साधु होने के लिये कामना प्रगट करते हुए वैराग्य शतक में निम्नलिखित श्लोक लिखा—

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः॥

यानी—हे शम्भू! मैं किस दिन अकेला विहार करने वाला, शान्त, हाथों में भोजन करने वाला, दिगम्बर (दिशा रूपी कपड़े पहनने वाला यानी बिलकुल नंगा) और कर्मों का निर्मूल नाश करने वाला बनूंगा।

मन में जब अन्य किसी जीभ, नाक, आंख आदि इन्द्रिय के विषय की इच्छा जाग्रत होती है तब उस इच्छा का विकार उस इन्द्रिय पर प्रगट नहीं होता, परन्तु मनुष्य के मन में जब कामवासना जाग्रत होती है तब उसका विकार पुरुष की कामइन्द्रिय पर प्रगट हो जाता है, जिसको देखकर अन्य स्त्री पुरुषों का मन विकृत होता है। अतः इस विकार को ढकने के लिए मनुष्य को इस इन्द्रिय को किसी कपड़े के द्वारा ढकना पड़ता है।

अन्य इन्द्रियों को वश में करना सरल है परन्तु कामवासना पर विजय पाना दुर्लभ है। कठिन तपस्या करने वाले अनेक तपस्वी भी कामवासना के शिकार होकर तप से भ्रष्ट हो चुके हैं। एक कवि ने कहा है—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो, वाताम्बुपर्णाशिनः,
तेपि स्त्री मुख पङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुञ्जते मानवाः,
तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत् सागरम्॥

अर्थात्—केवल जल, वायु और वृक्षों के पत्ते खाने वाले विश्वामित्र, पराशर आदि साधु तिलोत्तमा आदि स्त्री के मुख को देखकर ही मोहित हो गये, अपनी तपस्या से भ्रष्ट होकर स्त्रियों से कामक्रीड़ा करने लगे, तो जो मनुष्य दूध दही घी के पुष्ट गरिष्ट भोजन खाते हैं, उनका काम विजयी होना ऐसा दुर्लभ है, जैसे कि विन्ध्य पर्वत का सागर तर जाना।

कवि के लिखने का भाव केवल इतना है कि कामवासना पर विजय प्राप्त करना बहुत कठिन है।

कामवासना की उत्पत्ति मन में होती है, इसी कारण काम के पर्याय नाम 'मनोज, मनोभू' आदि भी हैं। जो व्यक्ति अपने मनपर नियन्त्रण कर सकता है वह मनुष्य अपनी कामवासना पर भी विजय प्राप्त कर सकता है। इस कारण नग्न दिगम्बर बनने के लिये मनुष्य को अपने मनमे भारी नियन्त्रण रखने की आवश्यकता है, जो मनुष्य अपने मन पर कड़ा नियन्त्रण नहीं कर सकता वह मनुष्य दिगम्बर मुद्रा धारण नहीं कर सकता।

अपनी काम-इन्द्रियों को ढकनेके लिये केवल एक लंगोटी पहनने वाले ऐलक, सर्वोच्च श्रावक (ग्य.रहवीं प्रतिमाधारक) ही कहे जाते हैं। एक लगोट मात्र परिग्रह के कारण और लज्जा परीषह विजय न कर सकने के कारण तथा अपने अखण्ड ब्रह्मचर्य की परीक्षा न दे सकने से उनका ब्रह्मचर्यव्रत एवं अपरिग्रहव्रत अणुव्रत कहलाता है, महाव्रत नहीं हो पाता। केवल उस लंगोटी का परित्याग करके, छोटे बच्चे के समान निर्विकार नग्न रूप में आजाते ही ऐलक के अणुव्रत महाव्रत बन जाते हैं।

केवल एक लंगोटी पहनने के कारण मनुष्य को अन्य बहुत बड़ा आडम्बर बनाना पड़ता है, जिससे कि वह छोटी सी लंगोटी भी बड़ा भारी बवाल बन जाती है।

एक व्यक्ति नगर से कुछ दूर एक झोंपड़ी में रहा करता था। उसके पास केवल दो लंगोटी थीं और कोई वस्त्र न था। जब वह स्नान करता था तब पहनी हुई लंगोटी पानी में धोकर सुखा देता था और सूखी हुई लंगोटी पहन लेता था।

एक दिन चूहे ने साधु की लगोटी काट डाली, इससे साधु को बहुत कष्ट हुआ। साधु के भक्तोंने जब साधु की कष्ट कथा सुनी तो उन्होंने साधु के लिये नई लंगोटी ला दी, साथ ही लंगोटी को चूहे से बचाने के लिये एक बिल्ली भी उस झोंपड़ी में रख दी। बिल्ली को देखकर चूहा तो बिल में छिपा रहने लगा, इस कारण लंगोटी तो सुरक्षित रही, परन्तु अब बिल्ली भूख से दुखी रहने लगी, उसकी चिन्ता साधु को और हो गई।

बिल्ली के भोजन की समस्या हल करने के लिये साधु के भक्तों ने एक गाय वहां लाकर खड़ी करदी जिसका कि दूध पीकर बिल्ली साधु की झोंपड़ी में रहने लगी। अतः साधुजी बिल्ली की चिन्ता से तो निवृत्त हो गये परन्तु गाय के भोजन का प्रश्न आ खड़ा हुआ। उसके लिये साधु के चेलों ने २-३ बीघे जमीन का प्रबन्ध कर दिया। उसमें वह गाय चरने लगी। इस तरह साधु की सब समस्याएं ठीक हो गईं। जब वर्ष का अन्त आया तब राज्य की ओर से उस जमीन का टैक्स मांगने के लिये सरकारी कर्मचारी आये। साधु ने टैक्स देने से इनकार किया तो वे लोग साधु जी को पकड़कर ले गये और उन्होंने साधु को राजा के सामने पेश किया।

राजा ने साधु से पूछा कि महाराज! जब आप जमीन का उपयोग करते हैं तब उसका टैक्स क्यों नहीं देते? साधु ने कहा कि टैक्स कहां से लाऊं मेरे पास तो कुछ है ही नहीं? राजा ने कहा कि जब राज्य का भूमिकर देने के लिये आपके पास कुछ नहीं है तब फिर जमीन क्यों रख छोड़ी है, जमीन को आप छोड़ दें जिससे हम दूसरे आदमी को देकर इसका कर वसूल करें।

इसके उत्तर में साधु ने अपनी लंगोटी उतार कर फेंक दी और कहा कि राजन्! मुझे इस लंगोटी

के लिये यह सब झंझट करनी पडी, न लंगोटी होती, न चूहे से इसे बचाने के लिये बिल्ली रखनी पड़ती और न बिल्ली के भोजन के लिये मेरे भक्तों को मेरे पास गाय एवं गाय के भोजन के लिये इस जमीन को रखना पड़ता।

इस प्रकार मनुष्य को अपनी छोटी सी लंगोटी के लिये भी बहुत भारी आडम्बर करना पड़ता है और उसके लिये चिन्ता करनी पड़ती है तथा जनता को अपने काम विजय की परीक्षा देने का अवसर नहीं मिल पाता।

दिगम्बर वेश को प्राय: सभी धर्मों में सब से ऊंचे दर्जे का आचरण माना गया है। जैनधर्म में आचार की दृष्टि से आत्मशुद्धि के लिये संसार के समस्त पदार्थों से यहाँ तक कि अपने शरीर से भी निर्ममत्व भाव आवश्यक है, उसकी पूर्ति के लिए समस्त परिग्रह का त्याग आवश्यक है तदनुसार दिगम्बर वेश मनसा वाचा कर्मणा होना चाहिये। अत: जैनधर्म के महान् प्रचारक सर्वथा नग्न होकर तपस्या करते हैं, उनके अनुयायी शिष्य प्रशिष्य भी उनके पद चिन्हो पर चलते हुए तपश्चरण करते हैं।

वैदिक मत में परमहंस साधु सब से उत्कृष्ट माने जाते हैं, वे परमहंस साधु सर्वथा नग्न दिगम्बर ही होते हैं। शुकदेवजी वैदिक मत में एक प्रसिद्ध महात्मा हुए है, वे शुकदेवजी नग्न दिगम्बर रूप में विचरण करते थे।

बौद्धमत की नींव डालने वाले महात्मा बुद्ध ने सब से प्रथम आत्मशुद्धि के लिये नग्न दिगम्बर साधुचर्या का ही पालन किया था, जब उनको उस वेश में बहुत कठिनाई अनुभव हुई तब उन्होंने वस्त्र पहन लिये।

ईसाई मत में नग्न निर्विकार रूप को महत्व दिया गया है, बाइबिल में लिखा है—

'उसने अपने कपड़े उतार दिये थे और हजरत सैमुयल (Samuel) को भी नंगा रहने की शिक्षा दी, उनके बिलकुल नग्न होने और लङ्गोटी तक भी त्याग देने पर लोगों ने पूछा क्यों ये भी पैगम्बर (परमात्मा का सन्देश देने वाले) है? —Samuel X1X Page 24

(विश्वशान्ति के अग्रदूत श्री वर्द्धमान महावीर पृष्ठ ३०७)

यहूदियों में भी नग्नता को महत्व दिया गया है। ऐशेन्ट आफ इण्डिया पेज ३२ पर जो लिखा है उसका भाव यह है—

'यहूदियों में भैंराज का विश्वास करने वाले जो पहाड़ों पर आबाद हो गए थे, लंगोटी तक त्याग कर बिलकुल नग्न रहते थे।'

मुसलमानो में भी अनेक सब से ऊँचे दर्जे के फकीर बिलकुल नंगे ही रहते थे। 'शमश' नामक फकीर बिलकुल नंगा ही रहता था।

इस तरह साधु का नग्न दिगम्बररूप संसार के सभी धर्मों ने सब से उत्कृष्ट माना है परन्तु इस दिगम्बरता के साथ उन्होने उन अन्य आवश्यक आध्यात्मिक गुणों को अनिवार्य नहीं बतलाया, जो कि जैनधर्म में बतलाये गये हैं।

प्रवचन नं० ८६

स्थान— तिथि—

श्री दिगम्बर जैन मंदिर, कूचा सेठ, दिल्ली। प्रथम भाद्रपद शुक्ला १५, शुक्रवार, २ सितम्बर १९५५

आयु

अनन्त शक्तियों का स्वामी, अनन्त सुख का धनी, अनन्त ज्ञान का पुञ्ज यह आत्मा संसार में दीन हीन निर्बल, दुःखी, अज्ञानी बना हुआ, आज से ही नहीं अनादि समय से संसार में भटक रहा है। जैसे किसी मनुष्य के पास चिन्तामणि रत्न हो किन्तु दुर्भाग्य से वह उसका मूल्य न समझ कर अपनी दरिद्रता दूर न कर सके। अपना पेट भरने के लिये लकड़हारे का कार्य करता फिरे। इसी तरह संसारी जीव अपने पास सुख का अखण्ड और अपार भण्डार होते हुए भी अन्य पदार्थों में सुख ढूंढ़ता फिरता है, किन्तु जड़ पदार्थों मे सुख कहाँ रक्खा है, सुख तो चैतन्य आत्मा का गुण है। इस जीव को पर-पदार्थों द्वारा जो सुख का आभास होता है वह उसी तरह है जिस तरह कि एक कुत्ता किसी सूखी हड्डी को चबाता हुआ उस हड्डी की नुकीली कड़ी नोंकों से अपने मुख के नर्म तालु आदि फट जाते हैं, उनमें से जो अपना ही रक्त निकलता है उसे चाटता हुआ वह कुत्ता यों समझता है कि यह खून हड्डी में से निकल रहा है। इसी तरह जिस सुख की झलक जीव को विषयभूत भोजन आदि अन्य जड़ पदार्थों के भोगों द्वारा प्रतीत होती है वह सुख की झलक उन पदार्थों की नहीं होती बल्कि इसकी अपनी ही होती है।

इस समस्त दुःख दरिद्रता अज्ञानता का कारण केवल एक यही है कि यह अपने आप को भूल गया है, जो मनुष्य अपने महत्व, अपने गौरव को भूल जाता है, वह दीन दरिद्र न होते हुए भी दीन दरिद्र बन ही जाता है, इसमें रंचमात्र भी आश्चर्य नहीं है।

एक वन में एक बलवान सिंह रहता था वह अपने पराक्रम के कारण उस जंगल का राजा बना हुआ था। एक दिन अपनी गुफा के बाहर बैठा हुआ था कि उसने अपने समीप के मार्ग से जाते हुए जो मनुष्य की आपसी बात सुनी, एक मनुष्य ने कहा कि भाई जल्दी जल्दी चलो सन्ध्या (शाम का समय) आ रही है। दूसरे मनुष्य ने कहा कि क्या तुझे सिंह का डर लगता है जो यहां से जल्दी भाग जाना चाहता है? पहला मनुष्य बोला कि मुझे सिंह का भय जरा भी नहीं है, सिंह तो मैं अनेक मार चुका हूँ, मेरे बच्चे भी अनेक सिंहों को शिकार कर चुके हैं, मुझे तो सिंह से भी अधिक भय सन्ध्या का लगता है।

सिंह ने उनकी आपसी बात सुन कर यह गलत बात समझ ली कि 'सन्ध्या' कोई मुझ से भी अधिक बलवान भयानक जीव है। मुझे भी सन्ध्या से सावधान रहना चाहिये, कहीं मुझे भी सन्ध्या पकड़ कर न ले जावे।' इस तरह की व्यर्थ धारणा उस सिंह के हृदय में घर कर गई।

एक दिन एक कुम्हार अपने गधों पर कुछ बोझ लाद कर रात के समय उस वन में होकर जा रहा था, अचानक उसका एक गधा अपना भार पृथ्वी पर डाल कर उस जंगल में भाग गया। कुम्हार ने अपने सब गधे एक स्थान पर खड़े कर दिये, और अपने उस भागे हुए गधे को रात को अंधेरे में ढूंढने के लिये उस वन में घुस गया। कुछ दूरी पर वह बनराज सिंह बैठा हुआ था, कुम्हार ने अन्धेरे में

उसको अपना गधा समझ लिया, अतः उसने यह कहते हुए कि, हराम खोर बोझ ढोने से बच कर यहां आ बैठा है, सिंह का कान पकड़ लिया और उसको दो डंडे जमा दिये। सिंह ने यों समझ लिया कि 'जिस बलवान संध्या से मैं बच कर रहता था वह संध्या आ गई।' इस कारण सिंह भय से चुप चाप वहाँ आया। कुम्हार उस सिंह का कान पकड़ कर अपने अन्य गधों के पास ले गया और उसकी पीठ पर वह बोझ लाद दिया तथा दो डंडे उसको और लगा दिये। सिंह सन्ध्या की आशंका से भयभीत होकर चुपचाप बोझ अपनी पीठ पर लादे हुए उन गधों के साथ चलने लगा।

चलते चलते जब सूर्य का उदय हुआ, प्रभात का प्रकाश चारों ओर फैल गया तब भी वह सिंह अपने बल पराक्रम को न समझ कर संध्या के भय से भयभीत हुआ कुम्हार के डंडों की मार खाता हुआ गधों के साथ बोझ ढोते हुए चला जा रहा था। दूसरे वन में जब कुम्हार पहुँचा तब नदी की दूसरी ओर खड़े हुए एक अन्य सिंह ने अपने जाति भाई सिंह को गधों के साथ बोझ ढोते देखा, उसे बहुत आश्चर्य हुआ उसने उस सिंह से पूछा कि यह तू क्या कर रहा है? कुम्हार वाले सिंह ने कहा चुप रह, तुझे भी संध्या पकड़ लेगी। तब उस दूसरे सिंह ने उसको सचेत करते हुए उसके प्रबल पराक्रम का बोध कराते हुए उसको कहा कि तू और कुछ न कर, केवल जोर से एक दहाड़ तो मार देख, देख अभी संध्या भाग जायगी।

सिंह ने उसकी बात मान कर एक जोर की दहाड़ मारी। सिंह की दहाड़ सुनते ही कुम्हार ने अपने गधों की ओर देखा तो वह भागा हुआ गधा सिंह रूप में दिखाई दिया, वह तत्काल भयभीत होकर अपने प्राण बचाने के लिये एक ओर भाग गया और उसके गधे दूसरी ओर भाग गये तथा वह सिंह स्वतन्त्र हो गया।

इसी प्रकार यह अनन्तबली आत्मा अपने पराक्रम को भूलकर कर्मों को अपने से अधिक बलवान समझ कर कर्मों के डंडों की मार खाता हुआ गधों की तरह संसार वन में चल रहा है। यदि यह अर्हन्त वाणी को सुन कर उनके अनन्त पराक्रमी स्वरूप को हृदयङ्गम कर ले अथवा सद्‌गुरु के उपदेशसे इसके हृदय कपाट खुल जावें और इसकी सत् आस्था, सज्ज्ञान की ज्योति जाग्रत हो जावे तो यह भी अपने योग-निरोध की एक साधारण गर्जना से कर्मों को क्षण भर में भगा सकता है। जब तक संसारी जीव को ऐसा अवसर नहीं मिलता है तब तक अवश्य ही कर्म उसके लिये बलवान हैं। कुम्हार के साथ बोझ ढोने वाले और कुम्हार के डंडे के संकेत पर चलने वाले सिंह को यदि सौभाग्य से अन्य सिंह का सम्पर्क न मिल पाता तो उसका पराक्रम छिपा ही रहता और उस पर डंडों की मार समाप्त न हो पाती। अस्तु।

इस चैतन्यधारक जीव को अपने संकेत पर विविध नाच नचाने वाले जड़ कर्मों के प्रकृति की दृष्टि से मूल आठ भेद हैं उनमें पांचवाँ कर्म 'आयु' है।

अंग्रेजी राज्य से पहले भारत में प्रायः सभी जगह तथा अंग्रेजी शासन के समय भी अनेक देशी राज्यों में अपराधियों को शारीरिक दण्ड देने के लिये अनेक साधनों में एक 'काठ' भी होता था। काठ एक लम्बा मोटा भारी लकड़ी का लट्ठा (शहतीर) होता था उसमें गोल अनेक छेद कुछ कुछ दूरी पर बनाये जाते थे, जिस अपराधी के जेल से भाग जाने की आशंका होती थी उसकी दोनों टांगों के पैर के ऊपरका पतला भाग काठ के उन छेदों में फंसा दिया जाता था। परिणाम यह होता था कि वह अपराधी (कैदी), चाहे जितना बलवान क्यों न होता, उसी स्थान पर बैठा या पड़ा रहता था, वहां से एक इंच भी कहीं नहीं जा सकता था।

ठीक, उस काठ के अनुसार ही आयु कर्म संसारी जीव को किसी एक योनि में कुछ समय के लिये अवरुद्ध कर देता है जब तक उस योनि (शरीर) में रहने की अवधि समाप्त न होने पावे यह जीव उस शरीर से निकलकर कहीं अन्यत्र नहीं जा सकता ।

आयुकर्म के वैसे तो असंख्यों प्रकार के शरीरों की अपेक्षा से असंख्यों भेद हैं किन्तु उन असंख्यों भेदों को चार श्रेणियों मे विभक्त किया गया है— १—मनुष्य, २—देव, ३—तिर्यञ्च (पशु) और ४—नारक। जो आयु मनुष्य के शरीर में आत्मा को रोक देती है वह मनुष्य आयु है, देव शरीर में रोक रखने वाला देव आयु कर्म है, विविध एकेन्द्रियादिक पशु पर्याय में आत्मा को रोक रखने वाला तिर्यञ्च आयु है और नारकी शरीर में कैद करने वाला कर्म नारक आयु है ।

इन विभिन्न आयु कर्मों के कारण वैसे विभिन्न प्रकार के शरीरो में उन शरीरों की स्थिति के अनुसार रहना पड़ता है । उन विभिन्न शरीरों में रहने के कारण आत्मा मे अनेक प्रकार की इष्ट, अनिष्ट, उन्नत, अवनत अवस्थायें प्राप्त हुआ करती हैं। जैसे कि किसी गधे के नरक आयु कर्म बन्धा, तदनुसार अपनी पशु पर्याय की अवधि समाप्त करके वह नरक मे गया। गधे के शरीर में रहते हुए उस आत्मा को जितना अल्पज्ञान था उसमें तो स्वाभाविक रूप से बहुत कुछ वृद्धि हुई वहां पर केवल मति श्रुत ज्ञान था यहां नरक मे आते ही उसे मति श्रुत के साथ अवधि ज्ञान भी प्रकट हो गया। ज्ञान की दृष्टि से उसे कुछ उन्नति स्वय बिना किसी परिश्रम के प्राप्त हो गई, परन्तु असह्य नारकीय यन्त्रणा ने उसे इतना व्याकुल कर दिया कि वह वहां से प्रतिक्षण मरजाने की भावना रखते हुए भी मर नहीं पाता। गधा था तो बहुत मूर्ख, परन्तु उस शरीर मे उसे शारीरिक तथा मानसिक इतना असह्य दुःख तो न था। इसी तरह एक देव ने तिर्यञ्च आयु का बन्ध किया जिससे कि देवायु समाप्त होते ही वह हाथी की योनि में चला गया। हाथी के शरीर में पहुँचते ही इस आत्मा का अवधि ज्ञान लुप्त हो गया। अणिमा, महिमा आदि शारीरिक ऋद्धियां समाप्त हो गई, महान् शारीरिक बल घट कर थोड़ा रह गया, समस्त सुख साधन छिन गये। परन्तु देव पर्याय मे आत्म उन्नति के जितने साधन उपलब्ध थे उनसे अधिक साधन इस पशु पर्याय में उसे मिल गय, वह अब अणुव्रत पालन कर सकता है ।

सीता के जीव ने देव आयु का बन्ध किया तदनुसार वह सोहलवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र हो गया। शारीरिक दृष्टि से उन्नति की, पुरुष लिङ्ग हो गया। दिव्य शरीर की समस्त विशेषताएं अनायास मिल गईं, भूख प्यास की समस्या हल करने के लिये प्रयास करने की आवश्यकता न रही, उधर अवधि ज्ञान भी प्रकट हो गया, शारीरिक मानसिक अनेक सुख साधन प्राप्त हो गये। यह सब कुछ हुआ परन्तु आत्मा शुद्ध करके महान् आत्मवैभव प्राप्त करने की योग्यता प्रतीन्द्र बन कर सीता के जीव में न रही, अब वह इच्छा रहते हुए भी व्रत तप सयम नहीं कर सकता। अपनी ज्ञान शक्ति में कुछ प्रगति नहीं कर सकता, सबसे अधिक अभीष्ट फल मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। इसके लिए तो उसे मनुष्य का मुंहताज रहना पड़ेगा। माता के गर्भ में नौ मास उलटे लटक लेने के बाद जन्म ग्रहण कर लेने पर भी जब तक उसकी आठ वर्ष की आयु न हो जायगी, तब तक वह संयम धारण न कर सकेगा। इसी तरह कोई देव मनुष्य आयु का बन्ध करके मनुष्य बन मनुष्य शरीर पाकर उसके देव पर्याय से संबन्धित सभी सुख साधन छिन गये, अवधि ज्ञान नहीं रहा, भूख प्यास को दूर करने के लिये खाने पीने के साधन जुटाने की समस्या आ खड़ी हुई। इन सब अवनतियों के होते हुए भी व्रत तप संयम करने की योग्यता प्रगट हो गई जिससे कि वह सर्व कर्म काटकर मुक्त भी हो सकता है ।

संसारी जीवों के प्रतिसमय आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों का बन्ध हुआ करता है, आयु कर्म का बन्ध जीवन में केवल एक बार ही होता है। जिस आयु का बन्ध हो जाता है, वह फिर न तो छूटता है और न अन्य आयुरूप परिणत होता है।

आयु बँधने का समय

जीवन का दो तिहाई भाग व्यतीत हो जाने पर आयु बँध जाने का प्रथम अवसर (अपकर्षकाल) आता है। यदि उस समय आयु का बँध न हो सके तो बची हुई आयु के दो तिहाई समय बीत जाने पर आयु बँधने का दूसरा अवसर आता है। यदि उस समय भी अन्य भव की आयु न बँध सके, तो फिर उस शेष जीवन का दो तिहाई समय व्यतीत हो जाने पर तीसरा अवसर आयु बँधने का आता है। यदि उस समय भी आयु का बन्ध न हो सके तो फिर उस बचे हुए जीवन के समय में से दो तिहाई काल बीत जाने पर चौथा मौका आयु कर्म बँधने का आता है। इस तरह अवशिष्ट बचे हुए भुज्यमान आयु के समय में से दो दो तिहाई समय बीत जाने पर आयु कर्म के बँधने के अवसर आठ बार आया करते हैं। इन अवसरों का नाम जैन सिद्धान्त मे 'अपकर्षकाल' कहा गया है। कदाचित उन आठों अपकर्ष कालों में आगामी भव की आयु न बँध सके तो फिर जीवन के अन्तिम क्षण मे आयुकर्म अवश्य बँध जाता है।

विविध प्रकार की आयु बन्धने का कारण

आयु बँधने के अवसर जीव के जैसे मानसिक विचार, या शारीरिक क्रिया होती है उसी के अनुसार आयु बँध जाती है। यदि मन, वचन, शरीर की प्रणाली अधिक शुभ रूप हो तो देव आयुकर्म बँध जाता है, यदि परिणाम थोड़े शुभ हों तो मनुष्य आयु का बन्ध होता है। यदि थोड़े अशुभ रूप विचार, वचन या शरीर की क्रिया हो तो तिर्यञ्च आयु कर्म बँधता है और आयु बँधने के समय अधिक अशुभ परिणाम हों तो नरक आयु का बन्ध हुआ करता है। आयु बँधने का यह संक्षेप सार है।

संसारी जीव अल्पज्ञ हैं, अतः उन्हें आयु बँधने के अवसरों का पता नहीं होता, इस शुभ आयु कर्म का बन्ध करने के अभिप्राय से प्रत्येक स्त्री पुरुष को सदा अपने मन वचन काय की प्रवृत्ति अच्छी रखनी चाहिये। बेमौके अच्छे परिणाम रह आवे और आयु बँधने के मौके पर अशुभ परिणाम हों तो आयु अशुभ बँध जायगी। पापी व्यक्ति भी आयु बँधने के समय अपने अच्छे परिणामों के कारण शुभ आयु का बन्ध कर सकता है। नरक आयु अशुभ है, शेष तीनों आयु शुभ हैं।

प्रवचन नं० ६०

स्थान—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि—
द्वितीय भाद्रपद कृष्णा १ शनिवार, ३ सितम्बर १६५५

जैसी करनी वैसी भरनी

संसार विचित्र रंगभूमि है, यहां पर विचित्र प्रकार के दृश्य देखने को मिलते हैं, जिन्हें देखकर

साधारण व्यक्ति चकित रह जाता है, बुद्धिमान उसके मूलकारण को विचार करके चुप रह जाता है और विचारहीन कम समझ लोग विपरीत धारणा भी कर लेते है, बहुत से तर्क वितर्क करने वाले किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाते इस कारण उनके विचार अस्थिर रह जाते है। कुछ व्यक्ति कलिकाल की महिमा बतलाकर सन्तोष कर लेते हैं। एक हिन्दी के कवि ने ऐसी बातों पर ईश्वर को लताड़ दिया—

दुखड़ा रोवें सती सदा असती सुख पावें, अज्ञ बने धनवान विज्ञ भूखों मर जावें।
वन में भटकें सिंह रहें चूहे घर भीतर, देख महा अन्याय लजाते तनिक न ईश्वर ॥

यानी—सती पतिव्रता स्त्रियां जन्म भर दुखी रोती रहती हैं, और व्यभिचारिणी वेश्याएं रात दिन गुलछर्रे उड़ा रही हैं। मूर्ख मनुष्य धनवान बनकर आनन्द उड़ाते हैं और विद्वानों को आराम से भोजन भी प्राप्त नहीं होता। पराक्रमी सिंह जंगल में भटकते फिरते हैं, और चूहे घर मे आराम करते है। हे ईश्वर ! ऐसे अन्याय कार्य देखकर तुमको जरा भी लज्जा नहीं आती।

एक संस्कृत भाषा का कवि कहता है—

सीदन्ति सन्तो विलसन्त्यसन्तः, पुत्रा म्रियन्ते जनकाचिरायुः।
दाता दरिद्रः कृपणो धनाढ्यः पश्यन्तु लोकाः कलिचेष्टितानि ॥

अर्थात्—सज्जन पुरुष इस जगत मे दु.ख पा रहे हैं और दुर्जन लोग खूब आनन्द कर रहे हैं। युवा पुत्र मर जाते है बूढ़ा पिता जीवित रह जाता है। उदार दानी दरिद्र दिखाई देते हैं परन्तु कंजूस लोग मालामाल दीख रहे हैं। ऐसी विचित्र बातों की ओर संकेत करके कवि कहता है कि लोगों ! कलिकाल की चेष्टाएं देखते जावो।

धर्मात्मा पुरुषों पर रात दिन दुःख के पहाड़ टूटते देखते हैं और पापी अधर्मी लोगों को मौज करते देखा जाता है, तब साधारण जनता की श्रद्धा विचलित हो जाती है और वह उल्टा समझने लगती है।

ठीक है, यह संसार विशाल है यहां पर सभी तरह के दृश्य (नजारे) देखने को मिलते हैं, धर्म करते हुए दुःख भोगने वाले भी यहां पर पाये जाते हैं और अधर्म करते हुए सुख भोगने वाले भी दिखाई देते हैं। सुख भोगने वाले पापी व्यक्ति भी यहां पर हैं और धर्म करने वाले पद पद पर दुःख उठाने वालों की भी यहां पर कमी नहीं है। इस कारण दृष्टान्त देखकर ही कोई व्यक्ति किसी बात का निर्णय नहीं कर सकता, मूल कारण पर विचार करने से ही ठीक सिद्धान्त जाना जा सकता है।

जैसा मूल कारण होता है उसका फल भी वैसा ही होता है, किसी कार्य का फल शीघ्र प्रकट होता है और किसी कार्य का देर से प्रकट होता है, होता अवश्य है। गेहूँ का बीज बोकर ६ मास में ही गेहूँ मिल जाते हैं, एक गेहूँ के हजार गेहूँ मिलते हैं, किन्तु आम का बीज बोकर १५-२० वर्ष तक फल पाने की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, आम के वृक्ष पर जब फल आने लगते है तब प्रति वर्ष हजारों गुने फल देते हैं। केले का वृक्ष फल बहुत शीघ्र देता है परन्तु फल दे जाने के बाद फिर दुबारा फल नहीं देता अतः उसे काटना छाटना पड़ता है।

इन सब बातों के होते हुए इतनी बात तो निश्चित है कि आम का बीज बोकर आम ही मिलेगा, वह चाहे कभी मिले, और बबूल का बीज बोकर कांटेदार बबूल ही मिलेगा, चाहे वह जल्दी मिले या देर से।

एक राजा बहुत अन्यायी था, अन्याय करके प्रजा को दु:ख पहुंचाकर प्रजा से धन लूटने की आदत पड़ गई थी। 'अन्यायं कुरुते यदा क्षितिपतिः कस्तंविरोद्धु' क्षमः।' यानी—जब राजा ही अन्याय करने लगे तब उसको कौन रोक सकता है? परन्तु जनता उस राजा से बहुत असन्तुष्ट और पीड़ित थी।

एक दिन उस राजा ने अपने नगर के एक अच्छे धर्मात्मा धनिक व्यवसायी सेठ को बुलाया और उससे कहा कि सेठ जी! तुम बहुत भारी व्यापार करते हो हमारे लिये एक पक्ष मे (१५ दिन में) चार वस्तुएं मंगा दो। सेठ ने पूछा महाराज! कौन सी चार चीजें आपके लिये मंगानी हैं? राजा ने उत्तर दिया—१—जो यहां पर है, वहां पर नहीं है। २—जो यहां नहीं है किन्तु वहां पर है। ३—जो यहां भी है, वहां भी है। ४—जो यहां भी नहीं है और वहां भी नहीं है।

सेठ राजा की इच्छित वस्तुएं सुनकर दंग रह गया उसकी समझ में कुछ न आया। सेठ की मुखाकृति देखकर राजा ने कहा कि १५ दिन में यदि मेरी ये चारों चीजें आपने मंगाकर मुझे न दीं तो मैं आपकी समस्त सम्पत्ति छीन लूंगा। राजा की आज्ञा सुनकर सेठ बहुत घबड़ाया और चुपचाप अपने घर चला आया।

सेठ ने बहुत विचार किया कि राजा ने जिन चार वस्तुओं को मुझसे मंगवाया है वे वस्तुएं कौन सी हो सकती हैं और कहां पर वे मिल सकती हैं। परन्तु उसकी समझ में कुछ न आया, अपने नौकरों तथा अन्य व्यापारियों से भी उसने परामर्श किया परन्तु कुछ पता नहीं लगा। ज्यों त्यों दिन बीत रहे थे सेठ की चिन्ता बढ़ती जाती थी, उसे अपनी सम्पत्ति नष्ट होने का समय निकट आता दीख रहा था। चिन्ता के कारण उसका मुख मलिन होता जा रहा था, जैसे कि उसको व्याधि लग गई हो।

सेठ की सेठानी बहुत चतुर थी, सेठ के मुखमण्डल पर उदासी देख कर उसने सेठ से अनेक बार चिन्ता का कारण पूछा—किन्तु सेठ ने टाल-मटोल करदी, परन्तु न छिपने योग्य उस भारी चिन्ता को कब तक छिपाता। जब वह सब ओर से निराश हो गया तब अन्त में एक दिन उसने अपनी पत्नी से से अपनी चिन्ता का कारण कह ही दिया।

सेठानी ने सेठ की बात सुनकर मुस्कराते हुए कहा पति देव! बस इतनी सी बात के लिये आप इतने चिन्तातुर हो रहे हैं, ये चारों पदार्थ मेरे पास है जिस दिन राजसभा में आप जावें, मुझे भी साथ लेते चलें, मैं राजा को चारों चीजें दे दूंगी, आप निश्चिन्त रहें।

सेठ को यद्यपि सेठानी की बात पर विश्वास न हुआ परन्तु उसको कुछ आशा की किरण दिखाई दी, अतः उसको कुछ साहस भी हुआ, चिन्ता भी उतनी न रही।

नियत दिन आगया, सेठ सेठानी ने प्रातःकाल भगवान् की पूजा की अन्य नित्य नियम करके भोजन किया, फिर तैयार होकर रथ में बैठकर राजसभा की ओर चल पड़े। मार्ग में सेठानी ने एक साधु

को तथा एक भिखारी को कुछ द्रव्य देने का लोभ दिखाकर अपने साथ में ले लिया। यथा समय वे सब राजसभा में जा पहुँचे।

राजा बड़े प्रसन्न मुख के साथ राजसिंहासन पर आ बैठा। उसने आते ही सेठ जी से प्रश्न किया कि सेठ जी! हमारी चारों चीजें आ गईं? सेठ के उत्तर देने से पहले झट सेठानी उठकर खड़ी हो गई और मीठे स्वर में बोली, राजन्! सेठ जी का स्वास्थ्य जरा ठीक नहीं है अतः उनकी सहायता के लिये मुझे भी आना पड़ा है। आपकी चारों वस्तुएं आ गई हैं, आप आज्ञा करते जाइये, मै आपके सामने उन पदार्थों को उपस्थित करती जाऊंगी।

सेठानी की स्पष्ट वाणी में अपने प्रश्न का उत्तर सुनकर कुछ आश्चर्य हुआ, राजा बोला कि अच्छा, पहली वस्तु लाओ 'जो यहां है, वहां नहीं है।' सेठानी ने कहा यह वस्तु आपको सबसे पीछे दी जायगी पहले आप और चीजें ले लें। राजा ने कहा अच्छा दूसरी वस्तु लाओ 'जो यहां पर नहीं है, वहां पर है, सेठानी ने उस साधु को राजा के सामने खड़ा कर दिया कि महाराज! ये लीजिये इन साधु जी के पास यहां पर (इस भव में) तो कुछ नहीं है परन्तु वहां पर (परभव में) है। तपस्या तथा परोपकार के कारण अगले भव में इनके पास सब सुख सामग्री होगी।

राजा ने कहा ठीक, अब तीसरी वस्तु लाओ, जो यहां भी है, वहां भी है।' सेठानी ने झट अपने पति को सामने कर दिया कि देखिये ये (सेठजी) यहां (इस भव में) भी हैं (सुखी हैं) और वहां (अगले भव में) भी हैं (सुखी होंगे)। इन्होंने पहले धर्म किया जिसका फल यहां पा रहे हैं और अब धर्म पुण्य कर रहे हैं, अतः आगे भव में भी सुख पावेंगे। राजा सेठानी के समाधान से प्रसन्न हुआ, उसने कहा अच्छा चौथी चीज लाओ 'जो यहां भी नहीं है, वहां भी नहीं है।' सेठानी ने उस भिखारी को खड़ा कर दिया कि इसके पास इस भव में भी कुछ नहीं और अगले भव में भी कुछ नहीं होगा। इसने पूर्व भव में कुछ दान पुण्य नहीं किया इसलिये यहां पर भिखारी बना है और यहां भी कुछ शुभ कार्य नहीं कर रहा अतः अगले भव में भी दरिद्री रहेगा।

तब राजा ने पहली वस्तु मांगी, 'जो यहां है, वहां नहीं है।' सेठानी ने हाथ जोड़ कर कहा कि अपराध क्षमा हो तो वह वस्तु भी दी जा सकती है। राजा ने प्रसन्नता के साथ कहा, कुछ चिन्ता न करो। तब सेठानी नम्रता के साथ बोली कि महाराज! 'वह तो स्वयं आप हैं।' राजा ने पूछा कैसे? सेठानी ने उत्तर दिया कि (पूर्व के पुण्य उदय से) आप यहां हैं (सुखी हैं) परन्तु वहां (अगले भव मे) नहीं हैं (सुखी न होंगे) क्योंकि आप अन्याय से प्रजा को दुःख पहुंचा रहे हैं।

राजा उस सेठानी की चतुराई पर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सेठ सेठानी को अच्छा पारितोषिक देकर उनका सन्मान किया और भविष्य में अन्याय करना छोड़ दिया।

इस कथा में पूर्वोक्त सभी शंकाओं तथा गलत धारणाओं का अच्छा समाधान आ गया है। जो सदाचारी व्यक्ति यहां पर सुखी हैं उन्होंने पूर्वभव में सदाचार द्वारा पुण्य कर्मबन्ध किया था जिसके उदय से उनको यहां सुखसाधन मिले हुए हैं और इस भव में जो सदाचार पालन करके शुभ कर्म का बंध कर रहे है उसके कारण वे अगले भव मे भी सुख प्राप्त करेंगे। ऐसे सुखी सदाचारी धार्मिक स्त्री पुरुष इस संसार में अनेक दृष्टिगोचर होते हैं।

जो व्यक्ति धर्म करते हुए भी दुःखी दिखाई देते हैं, उन्होंने पूर्वभव में शुभ कार्य नहीं किये थे अतः अपने उपार्जित अशुभकर्म के उदय से वे इस भव में दुःख पा रहे हैं, किन्तु यहां सदाचार पालन करके जो शुभ कर्मबन्ध कर रहे हैं वह व्यर्थ न जायगा, उसका सुखदायक फल भविष्य में अवश्य मिलेगा।

जो व्यक्ति पाप दुराचार करते हुए भी सुख पा रहे हैं, वह अपने पूर्व भव मे बोये हुए पुण्यकर्म के बीज का फल यहां पर भोग रहे हैं। परन्तु इस समय अशुभ बीज बो रहे हैं इस कारण अगले भव में इस दुराचार का दुःख भोगेंगे।

जो दीन दरिद्री भिखारी कुछ धर्मसाधन नहीं कर रहे हैं वे पूर्व भव का संचित अशुभ कर्म का फल यहां भोग रहे हैं और यहां भी कुछ शुभकर्म नहीं कर रहे हैं, इसलिये अगले भव में भी कुछ सुख सामग्री न पा सकेंगे।

सारांश यह है कि जो जैसा करता है वैसा फल पाता है।

एक वन में एक साधु तपस्या करता था, उसको अपने भोजन करने के समय देवों द्वारा स्वादिष्ट भोजन पहुंच जाते थे, उन भोजनों को करके वह फिर अपनी तपस्या में लग जाता था।

उसी वन मे एक गड़रिया दूसरों की भेड़ें चराया करता था वह प्रतिदिन देवों द्वारा आये साधु के लिये स्वादिष्ट भोजन को देखा करता था। एक दिन उसने विचार किया कि मैं भी यदि घरवार छोड़ कर इस वन में साधु बनकर बैठ जाऊं तो मुझे भी ऐसे स्वादिष्ट भोजन प्रतिदिन खाने को मिलेंगे। मै दिन भर परिश्रम करके ज्वार बाजरे की रोटियां खा कर पेट भरता हूँ। यह सोच कर वह अपना घरवार छोड़कर, साधु बनकर उसी वन में आ बैठा।

जब उसके भोजन का समय हुआ तो देव उसके सामने ज्वार बाजरे की रोटी खाने के लिये ले आये। अपने सामने ज्वार बाजरे की रोटियां देखकर उस गड़रिया साधु का मन जल भुन गया। उसने क्रुद्ध स्वर में कहा कि देखो, देव भी पक्षपात करते हैं, किसी साधु को स्वादिष्ट भोजन खिलाते हैं और किसी को रूखी सूखी ज्वार बाजरे की रोटियां देते हैं।

उसी समय आकाशवाणी हुई कि 'जो जैसा त्याग करता है वह वैसा ही फल पाता है। वह साधु राजपाट छोड़कर, स्वादिष्ट भोजन त्याग कर साधु बना था इसलिये उसको स्वादिष्ट भोजन मिलते हैं, तू ज्वार बाजरे की रोटियां छोड़कर साधु बना था सो तुझे ज्वार बाजरे की रोटियां मिल रही हैं।'

इस कलियुग में अधिकतर व्यक्ति हिंसा, अनीति, अन्याय, असत्य भाषण, चोरी, व्यभिचार, विश्वासघात आदि पाप कार्य करते हैं अतः अधिकतर जनता दुःखी देखी जाती है, बढ़वारी (बरकत) नहीं दिखाई देती।

जैसी करनी, वैसी भरनी। As you sow, so shall you reap.

प्रवचन नं० ६१

स्थान— | तिथि—
श्री दिगम्बर जैन लाल मंदिर, देहली। | द्वितीय भाद्रपद कृष्णा २, रविवार ४ सितम्बर १६५५

कुसङ्ग का प्रभाव

बुरी संगति का प्रभाव प्रत्येक अच्छे पदार्थ को बुरा बना देता है, दूध यदि खटाई से थोड़ी देर भी सम्पर्क करले तो उस खटाई के संयोग से वह दूध झट फट जाता है। जीव के अनादि कालीन सांसारिक परिभ्रमण का मूल कारण भी कुसङ्ग है। जीव के संयोग से शुद्ध पुद्गल विकृत होकर कर्म बन जाता है और कर्म के संयोग से जीव जन्म मरण की परम्परा में पड़कर दुःख उठाता है। इस विषय पर आध्यात्मिक रसिक आचार्य श्री अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में संक्षेप मे यों लिखा है—

जीवकृतं परिणामं निमित्त मात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्म भावेन ॥१२॥

यानी—चैतन्यस्वरूप जीव के राग द्वेष क्रोध लोभ आदि परिणामों का निमित्त पाकर जड़ कार्माण पुद्गल स्वयं कर्मरूप में परिणत हो जाते हैं। और जीव भी—

परिणमाणस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥

यानी—आत्मा स्वयं अपने ही चैतन्यात्मक भावों के द्वारा परिणमन करता है परन्तु उसके उस परिणमन में वह जीव से सम्बद्ध पुद्गल कर्म निमित्त बनकर जीव को बहुत हानि पहुँचाता है।

संसारी जीव जब तक कर्मों के कुसङ्ग में रहता है तब तक वह भूख प्यास, शर्दी, गर्मी, जन्म मरण, रोग, शोक, भय, चिन्ता आदि के महान् दुःखों का भार उठाया करता है। वैसे विचार किया जाय तो जीव का न जन्म होता है, न मृत्यु, न जीव को भूख लगती है, न प्यास, भोजन पान जीव कभी करता ही नहीं है, भोजन करने के बाद वात, पित्त, कफ कुपित हो जांय तो रोग भी जीव को नहीं हुआ करते, शर्दी गर्मी का असर भी जीव पर क्या पड़े वह तो अरूपी अखंड पदार्थ है। शोक, भय, चिन्ता भी जीव को होने का कोई कारण नहीं क्योंकि जीव एक स्वतन्त्र पदार्थ है उसे किसी से भयभीत होने, शोकाकुल होने, चिन्तातुर होने की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है परन्तु कर्मों के कुसङ्ग से इस जीव को जड़ शरीर में रहना पड़ता है उस पुद्गल शरीर के ममत्व के कारण जीव अपने आप अपने जन्म मरण की कल्पना कर लेता है। भूख-प्यास, शर्दी-गर्मी, रोग, भय, चिन्ता का अनुभव भी जीव को शरीर के कुसङ्ग के कारण ही हुआ करता है।

इसी तरह कुसङ्ग से जीव भी संसार की विविध यातनायें सहा करता है और पुद्गल भी अपने शुद्ध स्वरूप से विचलित होकर जीव के साथ अपना स्वरूप बिगाड़ कर कर्मरूप बनता बिगड़ता रहता है

शरीर के कुसंग से दूध, जल, फल, फूल, मेवा आदि सुन्दर पदार्थ बिगड़ कर टट्टी, पेशाब, खून, मांस, हड्डी आदि घृणित पर्याय में परिणत हो जाते हैं इसी बात को लेकर स्व० पं० दौलतराम जी ने अपने आध्यात्मिक पद मे कहा है कि—

'जे जे पावन वस्तु जगत में, वे इन सर्व बिगारी।'

यानी—संसार में जितने भी फूल फल, जल आदि शुद्ध स्वच्छ सुगन्धित पदार्थ हैं, उनको यह शरीर अपवित्र घृणित, दुर्गन्धित कर डालता है।

खोटे पदार्थ की, वह चाहे जीव हो या जड़ पदार्थ, संगति करना कुसंग या कुसंगति कहलाता है। गर्भ में आते ही जीव पर संगति का प्रभाव पड़ना आरम्भ हो जाता है। दुष्ट, चोर, जार, जुआरी, व्यभिचारी मनुष्य के वीर्य से स्थापित होने वाले गर्भ का जीव उन बुरे गुणों से प्रभावित होता है उस वीर्य से उत्पन्न होने वाली सन्तान में दुर्गुण बिना सिखाये आ जाया करते हैं। इसी तरह जिस माता के रज से शरीर की उत्पत्ति होती है तथाच नौ मास तक जिसके गर्भाशय में जीव को रहना पड़ता है उस माता के दुराचार का बुरा प्रभाव भी सन्तान पर अवश्य पड़ता है। रण्डियों की सन्तान भी रंडियों जैसी होती है। कलिहारी, व्यभिचारिणी, लड़ाकू, निर्दया, चोरी करने वाली, कटुभाषिणी माता के पेट से उत्पन्न होने वाले पुत्र पुत्री में वे दुर्गुण अवश्य आया करते हैं।

जन्म लेने के बाद जीवों का पालन-पोषण यदि दुर्गुणी माता पिताओं की गोद में होता है तो उनके सहवास से बच्चों में वे सभी दुर्गुण स्वयं आ जाते हैं।

एक बहेलिया जंगल में एक वृक्ष पर से दो तोते के बच्चे पकड़ लाया, उसने उनमें से एक तोता तो एक शराबी आदमी खरीद ले गया और दूसरे तोते को एक विद्वान् मोल ले गया।

शराबी की मंडली में लुच्चे, लफंगे, बदमाश आदमियों का जमघट रहता था। वे प्रायः एक दूसरे को गाली गलौज देते रहते थे, असभ्य शब्दों से एक दूसरे को पुकारते थे, एक दूसरे को मारा कूटा करते थे, दिन रात उसके घर हुड़दंगपन मचा रहता था। तोता जब कुछ दिनों पीछे बड़ा हो गया तब वह भी मनुष्यों की बोली का अनुकरण करने लगा, अनुकरण करते करते वह भी उस लुच्चा मंडली के असभ्य शब्द, गाली गलौज, मारने कूटने की बातें सीख गया। अतः उधर से जो कोई आदमी निकलता वह तोता उसके लिये वैसे ही असभ्य गाली गलौज के शब्द बोला करता था जिससे आने जाने वाले व्यक्ति भी उसे बुरे शब्द कह डालते थे।

विद्वान् के घर में गया हुआ तोते का बच्चा जब खा पी कर बड़ा हो गया तब वह भी मनुष्य की वाणी का अनुकरण करने लगा। उस विद्वान् से मिलने के लिये अच्छे सज्जन, शिक्षित, सभ्य, प्रतिष्ठित पुरुष आया करते थे। वह विद्वान् उनका स्वागत बहुत मीठे सुन्दर शब्दों में किया करता था। उनके वार्तालाप में एक दूसरे के लिये प्रिय वाक्यों का प्रयोग होता था, एक दूसरे को शुभ आशीर्वाद दिया करते थे। नीति तथा धर्म के श्लोक बोला करते थे इन बातों का अनुकरण करते करते तोता भी वैसा ही बोलना सीख गया। जो कोई मनुष्य उधर होकर निकलता वह तोता उन से उसी तरह के मीठे सभ्य शब्द बोलता। तोते की मधुर वाणी सुनकर आने जाने वालों का चित्त प्रसन्न होता था और सब कोई उसकी प्रशंसा करते थे।

एक दिन राजा नगर का चक्कर लगाने के लिये निकला, जब वह उस विद्वान् के पास से होकर जा रहा था तब उस तोते ने कहा "आइये श्रीमान् जी ! मै आपका स्वागत करके अपना सौभाग्य मानता हूँ, आप प्रसन्न तो हैं, मेरे योग्य कोई सेवा बतलाइये, आप सदा स्वस्थ प्रसन्न रहें।" राजा तोते की मीठी सभ्य वाणी सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ।

आगे चलकर जब उस शराबी मनुष्य के घर के पास से होकर निकला तब वह तोता राजा को देखकर बोला 'आ गया बदमाश, इस धूर्त को पकड़ लो, जूतियों से इसका आदर करो, यह मरता नहीं है, इसकी नाक काट कर नकटा कर दो, और इसको नाली में गिरा दो, या इसका मुख काला कर दो।' राजा तोते के असभ्य कड़वे शब्द सुनकर बहुत क्रुद्ध हुआ, वह तोते को उसी समय मारना चाहता था परन्तु कुछ सोचकर चुप रह गया।

दूसरे दिन राजा ने दोनों तोतों को और उनके मालिकों को राजसभा में बुलवाया। विद्वान् के तोते को देखते ही राजा को उसकी सभ्यवाणी याद करके बहुत प्रसन्नता हुई और उसके ऊपर अपना प्रेम का हाथ फेरा। शराबी का तोता देखकर क्रोध के मारे उसके नेत्र लाल हो गये, उसने उस तोते के मालिक से कड़क कर कहा कि बोल, तुझे और तेरे तोते को क्या दंड दूं, इसने कल मेरा बहुत अपमान किया है।

राजा की बात सुनकर शराबी का तोता और वह शराबी भय से थरथर कांपने लगे। उनके मुखसे कोई उत्तर न निकला। तब विद्वान् का तोता बड़ी विनय के साथ राजा से बोला कि राजन् ! मैं और यह तोता दोनों एक माता पिता की सन्तान हैं, सगे भाई हैं। बहेलिया हम दोनों को पकड़ कर ले आया, मुझे इन विद्वान् के हाथ बेच दिया और मेरे इस भाई को इस शराबी के हाथ बेच दिया। मैं अपने स्वामी के घर सदा सुन्दर सभ्य शब्द सुना करता हूँ, अतः मुझे वैसा बोलने का अभ्यास हो गया है और यह इस शराबी के घर असभ्य शब्द सुनकर वैसे असभ्य शब्द बोलने का अभ्यासी हो गया है। अतः आप के अपमान करने में इन दोनों का कुछ अपराध नहीं, अपराध तो कुसग का है। जिसके कारण इसके मुख से सभी के लिये असभ्य शब्द निकला करते हैं।

सभ्य तोते की बात सुन कर उसे क्षमा कर दिया।

तोते के समान ही छोटे बच्चे होते हैं। वे अपने घर में अपने माता पिता भाई बहिन की जैसी बातें सुनते हैं, जैसा व्यवहार देखते हैं वैसी ही बातें वे सीख लेते हैं। वेश्याओं की सन्तान बचपन से अपनी माता की व्यभिचार-लीला देखती रहती है। इस कारण वह भी व्यभिचारिणी बन जाती है, जुआरी के बच्चे जुआ खेलना सीख जाते हैं, चोरों के लड़के चोर ही बना करते हैं।

उत्पन्न होते समय मनुष्य के बच्चे भी तोते के बच्चों की तरह न तो सभ्य होते हैं न असभ्य। उनको बचपन से जैसी संगति मिलती है वैसे ही वे बन जाया करते हैं, जिस बच्चे का पिता सिगरेट पीता है उसका लड़का भी बीड़ी सिगरेट पीने लगता है। शराबी का लड़का शराब पीना सीख जाता है।

जिस तरह जंगल में जहां बांसों के पेड़ होते हैं वहां सूखे बांस हवा के जोर से आपस में रगड़ खाकर आग लग जाती है, उस आग से साथ वाले अन्य वृक्ष भी जल जाते हैं और कभी कभी तो वह

आग सैंकड़ों मील में फैल कर लाखों वृक्षों को जला भस्म कर डालती है। इसी तरह दुष्ट दुराचारी पुरुष की संगति से सभ्य सज्जन मनुष्यों की बुद्धि भी मलिन होकर उनके गुण नष्ट हो जाते हैं।

सर्प के काटने से तो केवल मनुष्य के प्राण जाते हैं, उनके गुण नष्ट नहीं होते परन्तु दुर्जन मनुष्य के संग में रहने से जीवन भी नष्ट हो जाता है और समस्त गुण भी नष्ट हो जाते हैं। इस कारण सर्प से अधिक हानि दुष्ट दुर्जन दुराचारी मनुष्यों की संगति कर डालती है।

शराब न पीने वाला पुरुष यदि शराब की दुकान के पास खड़ा हो तो सब कोई उसे शराबी ही समझते हैं। शराब की बोतल को साफ करके यदि कोई मनुष्य उसमें दूध या शर्बत भी भर कर ले जावे तो देखने वाले उसके भीतर शराब ही समझते है।

काजर की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय,

काजर की एक रेख लागि है पै लागि है।

अर्थात्—काजल की काली कोठरी में सावधानी से आते जाते भी कपड़ों पर काजल का धब्बा लग ही जाता है, इस तरह कुसंगति में रहने वाले मनुष्य चाहे जितने संभल कर रहें किन्तु उनके ऊपर कुछ न कुछ उस कुसंगति का प्रभाव आ ही जाता है। लुहार की दुकान पर बैठने वाले मनुष्य को गर्म लोहे को कूटने पीटने की २-४ चिनगारियां लग ही जाती हैं।

जैन कुल में परम्परा से मधु, मांस, भक्षण, शराब पीने का त्याग तथा रात्रि भोजन का त्याग होता ही है। परन्तु अब कहीं कहीं पर ऐसे समाचार सुनने को मिलते हैं कि अमुक जैनयुवक ने शराब पी है, किसी किसी जैन के विषय मे सुनने में आता है कि उसको अभक्ष्य पदार्थ खाने की आदत पड़ गई है। यह सब बुरा प्रभाव कुसंगति का है। जैन नवयुवक स्कूल कालेज में पढ़ते समय मद्य, मांस खाने पीने वाले जैनेतर युवकों की संगति से ऐसे अभक्ष्य पदार्थ खाना सीख जाते हैं। बहुतों को अंडे खाने की लत पड़ जाती है, यह भी कुसंग का परिणाम है। इन अभक्ष्य पदार्थों के खान पान से जैन संस्कृति नष्ट हो जाती है, भविष्य की परम्परा बिगड़ जाती है और पवित्र कुलाचार सदा के लिये जाता रहता है। कुलाचार से गिरे हुए युवक धर्म विहीन होकर इतर समाज में जा मिलते हैं।

इस तरह कुसंगति के प्रभाव से जीवन का सारा ढांचा ही बदल जाता है। इस कारण अपने पुत्र पुत्रियों को शिक्षा देते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि दुराचारी अभक्ष्य-भक्षक विद्यार्थियों की संगति में वे न पड़ने पावें। यदि उनको छात्रावास (बोर्डिंगहाउस) में रखना आवश्यक हो तो ऐसे छात्रावासमें रखना चाहिये जिसमे अभक्ष्य पदार्थ न बनाये जाते हों, मांस न पकाया जाता हो। यदि जैन बोर्डिंग हो तो उसमें भरती करादें जिससे रात्रि भोजन, अभक्ष्य भक्षण आदि की आदत न पड़ने पावे।

इसके सिवाय आज कल चाय पार्टी, अल्पाहार पार्टी, भोजन पार्टी आदि बहुत होती रहती हैं जिनमें कि प्रायः अशुद्ध भोज्य या पेय पदार्थ भी हुआ करते हैं, ऐसी पार्टियों में शामिल होना अशुद्ध खान पान का प्रारम्भ करना है, अतः ऐसे पार्टी भोजन में कभी भाग नहीं लेना चाहिये। होटल का भोजन बहुत अपवित्र होता है। उसमें जाने से अपनी सन्तान को सदा रोकते रहना चाहिये। तथा प्रति दिन अपने बच्चों को बचपन से ही देवदर्शन करने, णमोकार मन्त्र की माला फेरने का अभ्यास डालना चाहिये। सिनेमा का देखना इस युग में व्यभिचार भावना उत्पत्ति करने का साधन बन गया है इससे जितना बचा जावे, उतना कल्याण है।

प्रवचन नं० ६२

स्थान— तिथि—

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली। द्वितीय भाद्रपद कृष्णा ३ सोमवार, ५ सितम्बर १९५५

षोडश कारण भावना

आठों कर्मों में 'तीर्थंकर' नाम कर्म सब से अधिक पुण्यकर्म है। यह पुण्यकर्म करोड़ों मनुष्यों में से कोई एक व्यक्ति ही उपार्जन कर पाता है। जिस मनुष्य की ऐसी उत्कट भावना हो कि मैं त्रिलोकवर्ती समस्त प्राणियों का उद्धार करूं' उस भावना के साथ जिस के १६ अन्य भावनाओं में से दर्शन विशुद्धि भावना के साथ कोई एक, दो, तीन आदि और भी भावना हों उस महान् जगत् हितैषी पवित्र व्यक्ति के तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है।

तीर्थंकर प्रकृति वाला जीव नरक में भी अन्य नारकी जीवों से अच्छा रहता है। जिस समय वह माता के गर्भ में आता है उस से भी छह महीने पहले से माता के घर पर तीर्थंकर के जन्म होने तक स्वर्ग से रत्न बरसते हैं। गर्भ में आते ही देव देवियां वहां आकर उत्सव करते हैं। ५६ कुमारिका देवियां माता की सेवा करती हैं। तीर्थंकर के जन्म समय देवों द्वारा महान् अद्भुत उत्सव होता है। सुमेरु पर्वत पर उनको देवों द्वारा अभिषेक होता है। तीर्थंकर का ज्ञान, शरीर का सौन्दर्य, बल, पराक्रम जन्म से ही असाधारण होते हैं, उनको मल मूत्र नहीं होता, उनका रक्त दूध के समान सफेद होता है, उनके शरीर में पसीना नहीं आता, शरीर में सुगन्धि आती है, शरीर में १००८ शुभ लक्षण होते हैं। इत्यादि अनेक विशेषताएं उनके जन्म से ही होती हैं।

तीर्थंकर को जिस समय संसार शरीर और विषय भोगों से विरक्ति होती है, उस समय देव इन्द्र आकर महान् उत्सव करते हैं। लौकान्तिक देव सब से प्रथम उनके वैराग्य भाव की प्रशंसा करके उनको वैराग्य की ओर और अधिक प्रेरणा करते हैं, इतना कार्य करके जब वे चले जाते हैं तब शेष देव इन्द्र उनको बड़े उत्सव से तीर्थंकर को वन में ले जाते है जहां पर तीर्थंकर अपने समस्त वस्त्र आभूषण उतार कर पांच मुट्ठियों से अपने शिर के बालों का लोंच करते हैं (तीर्थंकरों के डाढ़ी मूंछ नहीं होती) फिर सिद्धों को नमस्कार करके आत्मध्यान में मग्न हो जाते है। सौधर्म इन्द्र उनके लुंचित केश क्षीर समुद्र में क्षेपण कर आता है।

कुछ समय तक तपस्या करने पर तीर्थंकर को जब चार घातिकर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय) से मुक्ति मिल जाती है तब उनको कैवल्य पद प्राप्त होता है, केवल ज्ञान द्वारा वे समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष जानते हैं। उस समय आकर देव महान उत्सव करते हैं और तीर्थंकर भगवान् का सर्वहितंकर प्रभावशाली उपदेश कराने के लिये महान् विशाल समवशरण नामक एक सुन्दर व्याख्यान सभा बनाते हैं उसमें गंधकुटी नामक उच्च स्थान पर विराजमान होकर बिना किसी इच्छा के स्वय उन की दिव्यवाणी निकलती है जिसको समवशरण में बैठे समस्त देव देवियां, स्त्री पुरुष, साधु आर्यिका, पशु पक्षी अपनी अपनी भाषा में सुनकर महान् आत्मलाभ करते हैं। तीर्थंकर प्रकृति का उदय इसी समय होता है, उसी के कारण जगत् उद्धारक तीर्थंकर का उपदेश होता है, इसके पहले छद्मस्थ (अल्पज्ञ) अवस्था

में वे उपदेश नहीं दिया करते। अनेक देशों में विहार करके वे धर्म का प्रचार किया करते है। वे जहां कहीं भी पहुँचते हैं वहीं पर देवों द्वारा तत्काल समवशरण की रचना होती रहती है। इसी महान् धर्म-प्रचार के कारण उनका तीर्थंकर (धर्म तीर्थ के करने वाले) नाम सार्थक होता है।

उनका आयु जब बहुत ही अल्प रह जाता है, तब उनका विहार बन्द हो जाता है, दिव्यध्वनि बन्द हो जाती है, शारीरिक क्रिया बन्द हो जाती है। पूर्ण रूप से योगनिरोध होने पर उनके शेष चार अघाति कर्म (वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र) भी नष्ट हो जाते है, उस समय वे पूर्ण मुक्त होकर सिद्धालय में विराजमान हो जाते हैं। तीर्थंकर के मुक्त हो जाने पर भी देव इन्द्र मध्यलोक में तीर्थंकर के मुक्तिस्थान पर आकर महान् उत्सव करते हैं, अद्भुत रूप से दाह संस्कार करते हैं।

इस प्रकार तीर्थंकर के गर्भ, जन्म, तप, केवल ज्ञान और मुक्ति के समय देवों द्वारा महान् उत्सव होता है, उस उत्सव को देखकर बहुत से देवों, मनुष्यों, पशु पक्षियों को सम्यग्दर्शन (आत्मश्रद्धा) होता है, आनन्द होता है, इस लोक कल्याण के कारण उन उत्सवों को कल्याणक कहा जाता है।

भरत, ऐरावत क्षेत्रों में तीर्थंकरों के पांचों कल्याणक होते है, परन्तु विदेह क्षेत्र में जो पूर्व भव से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करके आते हैं उनके ५ कल्याणक होते हैं। जो गृहस्थ अवस्था में उसी भव मे तीर्थंकर प्रकृति उपार्जन करते हैं, उनके तप, ज्ञान, निर्वाण ये तीन कल्याणक होवे हैं, और मुनि अवस्था मे जिनके तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है उनके ज्ञान और मोक्ष ये दो कल्याणक ही होते हैं।

उस तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध की कारणभूत १६ भावनाऐं हैं इस कारण उनका नाम 'षोडश (सोलह) कारण भावना' है। उनके नाम ये हैं—

१—दर्शन विशुद्धि, २—विनय सम्पन्नता, ३—शीलव्रतेष्वनतीचार, ४—अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, ५—संवेग, ६—शक्तितस्त्याग, ७—शक्तितस्तप, ८—साधुसमाधि, ९—वैयावृत्य, १०—अर्हद्भक्ति, ११—आचार्यभक्ति, १२—बहुश्रुतभक्ति, १३—प्रवचनभक्ति, १४—आवश्यकापरिहाणि, १५—मार्गप्रभावना, १६—प्रवचनवात्सल्य।

दर्शन विशुद्धि

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय हो जाने से जो आत्मा का अनुभव होता है उसको 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं। उपशम सम्यग्दर्शन होता तो पूर्ण निर्मल है किन्तु वह रहता केवल अन्तमुहूर्त तक है, उसके बाद अवश्य छूट जाता है। क्षायिक सम्यग्दर्शन सदा अनन्तकाल तक बना रहता है। क्षयोपशम सम्यग्दर्शन कुछ कम ६६ सागर तक रहता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को सबसे प्रथम उपशम सम्यक्त्व होता है, उस समय मिथ्यात्व प्रकृति के ३ भाग हो जाते हैं, मिथ्यात्व (तत्व आत्मा की अश्रद्धा या विपरीतश्रद्धा कराने वाला), सम्यक् मिथ्यात्व (श्रद्धा अश्रद्धा का मिश्ररूप परिणामका उत्पादक) और सम्यक् प्रकृति (सम्यक्त्व मे चल, मल, अगाढ़ दोप पैदा करने वाली), जब इन तीनों प्रकृतियों का क्षय हो जाता है तब सदा के लिये पूर्ण निर्मल सम्यक्त्व प्रकट होता है। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उपशम और क्षय (निष्फल उदय) तथा सम्यक् प्रकृति के उदय से जो सम्यग्दर्शन होता है उसमें निम्न लिखित २५ दोष उत्पन्न हुआ करते हैं—

१—शंका, २—कांक्षा, ३—विचिकित्सा, ४—मूढदृष्टि, ५—अनुपगूहन, ६—अस्थितीकरण, ७—अवात्सल्य, ८—अप्रभावना, ९—कुलमद, १०—जातिमद, ११—रूपमद, १२—ज्ञानमद, १३-धन-मद, १४—बलमद, १५—तपमद, १६—अधिकारमद, १७—देवमूढता, १८—गुरुमूढता, १९—लोक-मूढता, २०—कुदेव सेवा, २१—कुगुरु सेवा, २२—कुधर्म सेवा, २३—कुदेव भक्तकी विनय, २४—कुगुरु भक्तकी विनय, और २५—कुधर्म भक्तकी विनय।

सम्यग्दर्शन के इन २५ दोषों का सारांश यह है।

जिन वाणी के वचनों में सन्देह करना शंका है।

संसार के विषय भोगों की इच्छा करना कांक्षा है।

मुनि त्यागियों का मलिन शरीर देखकर ग्लानि करना विचिकित्सा दोष है।

तत्वों तथा देव शास्त्र गुरु के विषय में अनभिज्ञ (अजानकार) बने रहना मूढदृष्टि है।

धार्मिक पुरुषों के गुणों को छिपाना तथा उनके दोषों को प्रकट कर देना एवं अपने दोष छिपाना, अपने गुण प्रकट करना अनुपगूहन है।

धार्मिक विश्वास या धर्म आचरण से कोई शिथिल होता हो तो होने देना, उसे धर्म में दृढ़ न करना अस्थितीकरण है।

साधर्मी भाइयों से प्रेम न करना, द्वेष करना अवात्सल्य है।

जैनधर्म का प्रभाव सर्वसाधारण जनता में फैलाने का उद्योग न करना अप्रभावना है।

अपने पिता के घराने का अभिमान करना कुलमद है।

अपने नाना मामा के वंश का अभिमान करना जातिमद है।

अपने शरीर की सुन्दरता का घमड दिखलाना रूपमद है।

अपने ज्ञान का अभिमान प्रकट करना ज्ञानमद है।

अपनी धन-सम्पत्ति का घमड करना धनमद है।

अपने शरीर के बलका अभिमान करना बलमद है।

अपनी तपस्या का घमंड जताना तपमद है।

अपने शासन अधिकार (हकूमत) का अभिमान दिखलाना अधिकारमद है।

रागी, द्वेषी, कामी, देवी देवताओं को लोगों की देखा देखी मानना, पूजना 'देवमूढता' है।

आत्म-ज्ञानशून्य क्रोधी, अहंकारी, परिग्रही, धनलोलुपी, चीमटा आदि लिये हुए साधुओं को गुरु मानकर उनकी भक्ति करना गुरुमूढता है।

नदी, समुद्र, तालाब में नहाने, अग्नि में जलाने, पीपल पूजने आदि में धर्म मानना लोकमूढता है।

कुदेवों की किसी भय, आशा या लोभ से भक्ति विनय करना पूजना देव अनायतन (कुदेव सेवा) है।

आरंभी, परिग्रही, धन लोलुपी, जटाधारी, कनफटे, क्रोधी अभिमानी साधुओं को नमस्कार करना, भक्ति करना गुरु अनायतन (कुगुरु सेवा) है।

पशुओं की बलि देना, पशुओं का हवन करना आदि कार्यों को धर्म समझना, ऐसे मंदिरों स्थानों को मानना धर्म अनायतन (कुधर्म सेवा) है।

कुदेव भक्तों की संगति करना उनके कार्यों से सहमत होना, सहयोग देना, उनकी विनय करना कुदेव भक्त विनय (अनायतन) है।

कुगुरु के भक्तों की प्रशंसा करना, उनका विनय सत्कार करना कुगुरु भक्त विनय (अनायतन) है।

कुधर्म भक्तों की विनय, भक्ति, सेवा, प्रशंसा, मान्यता करना कुधर्म भक्त विनय (अनायतन) है।

इन २५ दोषों से सम्यग्दर्शन मलिन होता रहता है। इन २५ दोषों का निवारण करके सम्यग्दर्शन निर्मल रखना 'दर्शनविशुद्धि' भावना है। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होने के लिये यह भावना सब से अधिक आवश्यक है। यदि १५ भावनायें किसी व्यक्ति के हो जावें किन्तु उसके दर्शनविशुद्धि भावना न हो तो उस पुरुष के तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं हो सकता। तथा—दर्शनविशुद्धि भावना के रहते हुए शेष १५ भावनाओं में से कोई भी १-२-३-४ आदि हो जावें तो उसके तीर्थंकर नाम प्रकृति का बन्ध हो सकता है।

प्रवचन नं० ६३

स्थान— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि— द्वितीय भाद्रपद कृष्णा ४ मंगलवार, ६ सितम्बर १९५५

विनय सम्पन्नता

आत्मा के गुणों तथा निर्मल आत्म गुणधारी मुनीश्वर आदि का हृदय से सन्मान करना, विनय सम्पन्नता है।

मनुष्य जब किसी को अपने से अधिक महत्वशाली, गौरव पूर्ण समझता है तब उनको पूज्य आदरणीय समझ कर उनका हृदय से (ऊपर से दिखावटी नहीं) आदर करता है, उनके सामने नम्र हो जाता है इसी को विनय कहते हैं। विनय के कारण ही आत्मा में सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र आदि गुणों का उदय और विकास हुआ करता है।

जो मनुष्य अभिमानी बन कर अपने से बड़े महत्वशाली पूज्य व्यक्तियों के सामने भी नम्र न

होकर उनका सन्मान नहीं करता उस पुरुष में किसी भी गुण का उदय नहीं होता और न गुरु ऐसे मनुष्य पर सन्तुष्ट तथा प्रसन्न होकर कोई विद्या प्रदान करते है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आत्मा के सब से प्रधान गुण हैं इन ही गुणों के कारण आत्मा सब दुःख, चिन्ता व्याकुलता से छूट कर अजर अमर अविनाशी हो जाता है, अतः इन इन तीनों गुणों को हितकारी समझ कर इन गुणों की अपने हृदय मे मान्यता रखना, इनको उपादेय समझ कर इनकी ओर उन्मुख होना, इनको निर्दोष पालन करने का उद्यम करना रत्नत्रय की विनय है।

रत्नत्रय-धारक मुनि, उपाध्याय, आचार्य की विनय करना, उनके समीप आ जाने पर खड़ा हो जाना, झुक कर नम्रता के साथ हाथ जोड़ शिर झुका कर उनको नमस्कार करना, उनको ऊँचे आसन पर बिठाना यदि वे विहार करें तो उनके पीछे चलना, यदि वे बोलें तो उसको ध्यान से सुनना, जैसा वे आदेश दें उसका ठीक पालन करना गुरु विनय है। इसी को उपचार विनय भी कहते हैं।

विनीत शिष्य पर गुरु सदा सन्तुष्ट और प्रसन्न रहते हैं। प्रसन्नता के कारण वे उस शिष्य को ज्ञान के सूक्ष्म रहस्य, अनेक प्रकार की विद्यायें तथा कलायें थोड़े से समय में सिखला देते हैं।

गुरु आर्यनन्दी ने विनीत जीवन्धरकुमार की विनय से सन्तुष्ट होकर उसको अक्षर विद्या, राजनीति तथा शस्त्र विद्या, मल्लविद्या थोड़े ही समय में सिखा कर उसे पारङ्गत बना दिया था जिससे जीवन्धर ने बहुत यश लाभ और विजय प्राप्त की।

श्री धरसेन अचार्य अपने पास आये हुए पुष्पदन्त भूतबलि मुनि की विनय से प्रसन्न होकर दोनों को सिद्धान्त का पूर्णज्ञान (जितना कि वे स्वयं जानते थे) करा दिया।

इस तरह विनय गुण मनुष्य को अनेक गुणों का पात्र बना देता है, विनय का ठीक आचरण करना ही विनय सम्पन्नता है।

अभिमानी मनुष्य अपने बल, ज्ञान, धन, अधिकार आदिका अभिमान हृदय में रखकर अपने आप को बड़ा समझ लेता है। अपने बड़प्पन के मद में चूर रहकर वह अन्य गुणी मनुष्यों की अवहेलना तथा अपमान किया करता है, दूसरों को अपने से महान् पूज्य समझना उनकी विनय करना उसको अनुचित प्रतीत होता है। ऐसे अविनयी व्यक्ति का पतन अवश्य होता है। अनेक अविवेकी पुरुष अपनी चञ्चल लक्ष्मी के अभिमान में आकर किसी भी गुणी जनकी विनय करना अपना अपमान समझते हैं। ऐसे मनुष्य किसी अन्य व्यक्ति को दुर्भाग्यवश किसी विपत्ति में फंसा हुआ देखते हैं तो उन अभिमानियों को उस आपत्तिग्रस्त मनुष्य पर दया नहीं आती, अतः वे अभिमान वश उसकी सहायता नहीं करते, उलटे उसकी हंसी उड़ाते हैं। ऐसे अभिमानी मनुष्य को लक्ष्य करके एक कवि ने कहा है—

आपद् गतं हससि किं द्रविणान्ध मूढ,
लक्ष्मीः स्थिरा भवति नैव कदापि कस्य।
यत्किं न पश्यसि घटी जलयन्त्रचक्रे,
रिक्ता भवन्ति भरिताः पुनरेवरिक्ताः॥

अर्थात्—हे धनमद में चूर मनुष्य! तू किसी अन्य मनुष्य पर आई हुई विपत्ति को देखकर

हंसता क्यों है। जिस पर तू इतना फूला फिरता है वह तेरी लक्ष्मी सदा तेरे पास न रहेगी, वह कभी एक जगह स्थिर नहीं रहती है। तू कुए में पड़ी हुई पानी की रहट को चलता हुआ नहीं देखता ? जिसमें पानी का भरा हुआ पात्र खाली होता जाता है और खाली पात्र पानी से भरते जाते हैं।

मनुष्य में बड़प्पन-पूज्यता-मान्यता अभिमान करने से नहीं आती है, बड़प्पन लाने के लिये मनुष्य को विनय भाव को ग्रहण करना पड़ता है। विनयशील बनकर मनुष्य जब तक गुरुजन-सेवा, लोक-सेवा नहीं करता तब तक 'बड़ा' नहीं बन पाता।

व्यवहार में देखा जाता है उड़द या मूंग का 'बड़ा' तब बन पाता है जब कि उड़द अनेक कष्ट सह कर सेवा के लिये तैयार होता है। पहले उड़द के चक्की में दलकर दो दो टुकड़े (दाल) किये जाते हैं, फिर उस दाल को पानी में भिगोया जाता है, पानी में भिगो कर उसका छिलका उतारा जाता है। तदनन्तर उस दाल को पत्थर पर पीसकर उसकी पिट्ठी बनाई जाती है। उसके बाद उसमें नमक, मिर्च आदि मसाले मिलाकर उसको गर्म तेल में तला जाता है, इतने कष्ट सह लेने के बाद वह उड़द 'बड़ा' हो पाता है। उड़द यदि इतने कष्ट सहन न करे अपने अभिमान में चूर रहा आवे तो वह कदापि 'बड़ा' नहीं बन सकता।

इसी प्रकार मनुष्य को भी बड़ा बनने के लिये विनय भाव ग्रहण करके कष्टों को अपनाते हुए धार्मिक सेवा, समाज सेवा, जनता की सेवा करनी चाहिये।

विनय के चार भेद किये गये हैं—

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः। (तत्वार्थसूत्र)

यानी—ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय तथा उपचार विनय।

सातों तत्वों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके भगवान् की वाणी के अनुसार उनका यथार्थ श्रद्धान करना, परमपूज्य अर्हन्त भगवान्, जिनवाणी तथा निर्ग्रन्थ का शुद्ध हृदय से सत्य श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने पर आत्मा की अनुभूति होना निश्चय सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन को आत्म-उन्नति का मूल कारण समझ कर आदर भाव के साथ पालन करना, बढ़ाना, उसमें रंचमात्र दोष न लगाना, सम्यग्दर्शन के आठों अंगों का यथाविधि पालन करना सम्यग्दर्शन का विनय है।

ज्ञान से ही विवेक जाग्रत होता है, भेद विज्ञान ज्ञान का ही एक निखरा हुआ रूप है, वह भेद विज्ञान ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का मूल साधन है। यदि हृदय में शरीर और आत्मा का भेद ज्ञान न हो तो सम्यग्दर्शन का उदय होता ही नहीं, इस दृष्टिकोण से ज्ञान का महत्व सम्यग्दर्शन से भी अधिक प्रमाणित होता है। ज्ञान आत्मा की सदा प्रकाशमान ज्योति है, इस ज्योति का प्रकाश अधिक बढ़ाने का अभ्यास करना चाहिये।

ज्ञान को बढ़ाने के लिये प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग के ग्रन्थों का

खूब स्वाध्याय करना चाहिये, दूसरों को पढ़ाना चाहिये। पढ़े हुए पाठ का मनन करना चाहिये। शुद्ध बोलना चाहिये, शुद्ध लिखना चाहिये। शास्त्रों की विनय करनी चाहिये, उनको शुद्ध होकर विनय के साथ चौकी पर विराजमान करके ओंकार पाठ या मंगलाचरण पढ़ने के बाद स्वाध्याय करे। स्वाध्याय करने के बाद वस्त्र में ठीक तरह लपेट कर यथास्थान विराजमान कर दे।

अपने ज्ञान बढ़ा कर केवलज्ञान प्राप्त करने की भावना रक्खे यह सब ज्ञान विनय है।

सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान हो जाने पर भी जब तक आत्मा व्रत, समिति, गुप्ति आदि का निर्दोष पालन नहीं करता तब तक कर्मों से मुक्ति होकर आत्मा की शुद्धि नहीं हो पाती। इस कारण आत्मशुद्धि का साक्षात्कारण सम्यक्चारित्र है।

सम्यक्चारित्र को अपनी शक्ति के अनुसार बड़े आदर भाव से धारण करना चाहिये। चारित्र जितना धारण करोगे उतना ही कर्मों का भार हल्का होता जायगा। आत्मा शुद्ध होता जायगा। विषय भोगों में लिप्त रहते आना पशुओं के समान जीवन है, विषयों से यथासंभव अपने आत्मा को बचाना मनुष्यजीवन है। अतः मनुष्य जीवन की शोभा चारित्र से है। सम्यग्दृष्टि भी देव अपनी पर्याय में चारित्र पालन नहीं कर सकते। अतएव वे मनुष्य भव पाने के लिये लालायित रहते हैं कि हम कब मनुष्य देह पाकर संयम धारण करें और संयम पालन करके अजर अमर मुक्त बन जावें। ऐसे महत्वशाली चारित्र को यथाशक्ति अवश्य धारण करना चाहिये।

इस तरह बड़े आदर भाव से चारित्र पालन करना चारित्र विनय है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के आचरण करने वाले मुनिराजों का, ऐलक, क्षुल्लक आदि व्रती पुरुषों का विनय करना, आचार्य महाराज, उपाध्याय महाराज का विनय करना, उनको हाथ जोड़ मस्तक झुकाकर नमस्कार करना, उनको ऊँचे आसन पर बिठानेके बाद आप नीचे आसन पर बैठना, उनके आने पर विनय से उठ कर खड़े हो जाना, उनके कहने पर बैठना, जब वे चलें तो उनके पीछे पीछे चलना इत्यादि उपचार विनय है।

गृहस्थों को अपने धर्म गुरुओं का, विद्यागुरुओं (पढ़ाने वालों) का, सम्बन्ध गुरुओं (माता पिता आदि) का तथा गुणगुरुओं (गुणवान व्यक्तियों) का यथायोग्य विनय करना चाहिये।

विनय के बिना मनुष्य अपनी उन्नति कभी नहीं कर सकता।

प्रवचन नं० ६४

स्थान—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ दिल्ली।

तिथि—
द्वितीय भाद्रपद कृष्णा ५-६ बुधवार, ७ सितम्बर १६५५

शील व्रतेष्वनतीचार

शील और व्रतों का निर्दोष पालन करना 'शीलव्रतेष्वनतीचार' या 'निरतिचार शीलव्रत' है।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग ये पांच व्रत हैं। ये व्रत हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पंच पापों के पूर्ण त्याग करने से महाव्रत कहलाते हैं, उनके सहायक यम नियमों को शील कहा जाता है। जिस तरह कोट के द्वारा नगर की रक्षा होती है।

क्रोध का शान्त करना, मान का दमन करना आदि अहिंसाव्रत का शील है। छल भय आदि का छोड़ना सत्यव्रत का शील है। शून्य स्थान गुफा आदि में रहना अचौर्यव्रत का शील है। स्त्रियों के चित्र देखने, उनका अंग निरीक्षण, गरिष्ठ भोजन करने का आदि का त्याग ब्रह्मचर्यव्रत का शील है। लोभ कषाय का शान्त होना, पदार्थों में राग द्वेष छोड़ना परिग्रहत्याग व्रत का शील है।

व्रतों तथा शीलों का जो कुछ अंश भंग हो जावे यानी-कुछ दूषण लग जावे उसको अतिचार कहते हैं। महाव्रतों तथा शीलों में अतिचार न लगने देना यानी निर्दोष रूप से शीलव्रतों का पालन करना शीलव्रतेष्वनतिचार भावना है।

पंच पापों का एक देश त्याग करना अणुव्रत है। अणुव्रत के भी अहिंसा, सत्य, अचौर्य, परस्त्री-त्याग रूप ब्रह्मचर्य, परिग्रह परिमाण ये पांच भेद हैं। इन अणुव्रतों की रक्षा के लिये दिग्व्रत (दशों दिशाओं मे जन्म तक आने जाने के स्थान की मर्यादा करना), देशव्रत (कुछ समय के लिये कुछ क्षेत्र तक जाने आने की मर्यादा करना), अनर्थ दण्डव्रत (जिन कार्यों में व्यर्थ पाप बन्ध हो उनका त्याग करना), ये तीन गुणव्रत तथा सामायिक (नियत समय तक पांचों पापों का त्याग करके आत्मचिन्तन करना), प्रोषधोपवास (सप्तमी नवमी को एकाशन, अष्टमी को उपवास तथा त्रयोदशी पूर्णमासी को एकाशन, चतुर्दशी को उपवास करना), भोगोपभोग परिमाण (भोग्य यानी जो पदार्थ एक बार ही भोगने में आसके, जैसे भोजन आदि। तथा उपभोग्य यानी-जो पदार्थ बार बार भोगने में आ सकें जैसे वस्त्र भूषण आदि पदार्थों का नियम करना) और अतिथिसंविभाग (मुनि आदि व्रती त्यागियों को आहार, शास्त्र, औषध आदि दान करना) ये चार शिक्षा व्रत हैं। ये गुणव्रत शिक्षाव्रत मिलकर ७ शील कहलाते हैं।

पांचों अणुव्रतों तथा सातों शीलों के जो अतिचार होते हैं उन अतिचारों को दूर करके निर्दोष रूपसे उन्हें पालन करना गृहस्थों की निरतिचार शीलव्रत भावना है।

अहिंसा आदि पांच अणुव्रतों के तथा तीन गुणव्रतों, ४ शिक्षाव्रतों रूप सात शीलों के प्रत्येक के पांच पांच अतिचार होते हैं, उन अतिचारों को दूर करके निर्दोष आचरण करने के साथ दर्शन विशुद्धि भावना हो तो वह भी तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण हो सकती है।

अहिंसाव्रत के अतिचार

बधबन्धच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः। (त. सू.)

यानी—'बध'—चाबुक, लकड़ी, आदि से बैल, घोड़े आदि को हांकने आदि के लिये मारना। २-'बन्ध'-रस्सी, सांकल आदि से अपने पालतू जानवर गाय, बैल, घोड़े आदि को बांधना, पिंजड़े में तोता, मैना आदि पक्षियों को बन्द कर देना। ३-'छेद'-कुत्ते, बैल आदि की पूंछ कान आदि काट देना।

४-'अतिभारारोपण'-बैल, घोड़ा आदि लद्दू जानवरों पर अधिक बोझ लादकर ढुलाई करना। ५-अन्न-पाननिरोध—गाय, बैल आदि पालतू जानवरों को यथा समय खाना पीना न देना, उनको भूखा प्यासा रखना, ये पांच अतिचार अहिंसा अणुव्रत के हैं। अहिंसा व्रती पुरुष को इन अतिचारों से बचना चाहिये।

सत्यव्रत के अतिचार

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः। (त. सू.)

यानी—१- 'मिथ्योपदेश'— आत्महित के विरुद्ध मिथ्या उपदेश देना। २-रहोभ्याख्यान— स्त्री पुरुषों की कामक्रीड़ा आदि सम्बन्धी रहस्य (गुप्त रखने योग्य) बातों को प्रकट कर देना। ३- कूटलेख क्रिया-बही खाते, रुक्के आदि गलत- बनावटी लिखना। ४—न्यासापहार—किसी की धरोहर को हड़प जाना, या धरोहर रखने वाले व्यक्ति की विस्मृति, भूल का अनुचित लाभ उठाकर उसे धरोहर को पूरा न लौटाना। ५—साकारमन्त्रभेद—किसी के मुख आदि शारीरिक चिन्हों से किसी की गुप्त बात जानकर सर्व साधारण में उसे प्रकट कर देना। ये पांच अतिचार सत्यव्रत के हैं। सत्यव्रत धारण करने वाले व्यक्ति को इनसे बचना चाहिये।

अचौर्यव्रत के अतिचार

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपक व्यवहाराः। (तत्वार्थसूत्र)

यानी—१—स्तेनप्रयोग-चोरी करने का ढंग बतलाना। २—तदाहृतादान—चोरी का माल सस्ते भाव में ले लेना ३—विरुद्धराज्यातिक्रम—राज्य की ओर से लगे हुए मालकर (चुंगी-महसूल), रेल टिकट, आयकर (इन्कम टैक्स), विक्रीकर (सेल टैक्स) आदि से बचने का अनुचित प्रयत्न करना। ४—हीनाधिकमानोन्मान—ग्राहकों को देने के लिये कम वजन वाले बाटों से तोलना, कम नापना, और माल लेने के लिये अधिक वजनदार बाटों से तोलना, अधिक नापना, डंडी मारना। ५—प्रतिरूपकव्यवहार बढ़िया पदार्थ में घटिया पदार्थ मिलाकर बढ़िया पदार्थ के भाव से बेचना, दूध में पानी मिलाकर बेचना, घी में वनस्पति तेल मिलाकर बेचना इत्यादि। ये पांच अतिचार अचौर्य अणुव्रत के हैं। अचौर्य अणुव्रती को इन अतिचारों से बचना चाहिये।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत के अतिचार

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षण पूर्वरतानुस्मरण वृष्येष्टरसस्वशरीरत्यागाः पञ्च।

१-स्त्रीरागकथाश्रवण-स्त्रियों की रागवर्द्धक बातों का कहना या सुनना। २-तन्मनोहराङ्गनिरीक्षण स्त्रियों के मनोहर अंगों को देखना। ३—पूर्वरतानुस्मरण—पहले समय की कामलीला का स्मरण करना। ४—वृष्येष्टरस—गरिष्ट काम-उद्दीपक पदार्थ खाना। ५—स्वशरीरसंस्कारत्याग—अपने शरीर का शृंगार करना। ये पांच अतिचार ब्रह्मचर्य अणुव्रत के हैं। ब्रह्मचर्यव्रत वाले को इनसे बचना चाहिये।

परिग्रह परिमाणव्रत के अतिचार

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः । (त. सू.)

यानी—१—क्षेत्रवस्तु—जमीन (खेत आदि) तथा मकानों के किये हुए प्रमाण को बढ़ा लेना। २—हिरण्यसुवर्ण—सोने चांदी के रखने के प्रमाण का उल्लंघन करना। ३—धनधान्य—गाय, बैल आदि गोधन तथा अन्न के संग्रह किये हुए प्रमाण का अतिक्रमण करना। ४—दासी दास—नौकर नौकरानियों को रखने का जो प्रमाण किया हो उसको बढ़ा लेना। ५—कुप्यप्रमाणातिक्रम—वस्त्र, बर्तन अपने पास रखने की की हुई मर्यादा को तोड़ देना। ये पांच अतिचार परिग्रहपरिमाण व्रत के हैं। परिग्रह परिमाण अणुव्रत के धारक गृहस्थ को इनसे अपना व्रत सुरक्षित रखना चाहिये।

शील

जिस प्रकार खेत को सुरक्षित रखने के लिये उसके चारों ओर बाढ़ (मेंड़) लगा देते हैं, बाग को सुरक्षित रखने के लिए चारो ओर मिट्टी की चार दीवारी लगा देते हैं इसी तरह व्रतों को सुरक्षित रखने के लिये जो अन्य यम नियम धारण किये जाते हैं उनका नाम शील है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में श्री अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है—

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि ।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥

यानी—जिस प्रकार नगरों की सुरक्षा करने के लिये नगरों के चारों ओर कोट बनाये जाते हैं, जैसे कि जयपुर आदि अनेक नगरों में अब तक बने हुए हैं, उन बने हुए ऊंचे कोटों से उन नगरों की बाहरी आक्रमणकारियों से रक्षा होती है, उसी तरह व्रतों को सुरक्षित रखने के लिये शीलों को भी अवश्य पालना चाहिये।

पांच अणुव्रतों के जो दिग्व्रत, देशव्रत आदि ३ गुणव्रत और सामायिक आदि ४ शिक्षाव्रत, कुल ७ शील हैं। इन सातों शीलों के भी पृथक्-पृथक् ५-५ अतिचार होते हैं, उनका विवरण भी तत्वार्थसूत्र, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि ग्रन्थों मे उल्लिखित है वहां से जान लेना चाहिये।

५ व्रतों और ७ शीलों को निर्दोष पालन करना ही शीलव्रतेष्वनतिचार या अनतिचार शीलव्रत भावना है।

प्रवचन नं० ६५

स्थान— तिथि—
श्री दिगम्बर जैन मंदिर, कूचा सेठ, दिल्ली। द्वितीय भाद्रपद कृष्णा, ७ वृहस्पतवार, ८ सितम्बर १९५५

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग

ज्ञान आत्मा का प्रधान गुण है, उस ज्ञान गुण को बढ़ाने के लिये सदा ज्ञान का अभ्यास करते रहना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भावना है।

जिस प्रकार आंखों के बिना मनुष्य अपने समीप में रक्खी हुई वस्तु भी नहीं देख सकता उसी प्रकार बिना सम्यग्ज्ञान के निज आत्मा भी नहीं जान पड़ता। सम्यग्दर्शन भी तभी होता है जब कि जीव को तत्वों का कुछ ज्ञान हो, आत्मा पुद्गल का विवेक हो, संसार मोक्ष का परिज्ञान हो, आस्रव बंध की जानकारी हो। ध्यान भी बिना ज्ञान के नहीं हो सकता। इस कारण यद्यपि ज्ञान में सम्यक्पना सम्यग्दर्शन होजाने के बाद होता है परन्तु मूल में देखा जाय तो आवश्यक ज्ञान हुए बिना सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

ज्ञान के बिना मनुष्य करोड़ों वर्ष तक तपस्या करता रहे तो भी वह इतनी कर्मनिर्जरा नहीं कर सकता जितनी निर्जरा ज्ञानी जीव थोड़ी सी देर में कर देता है। ज्ञान के बिना चारित्र आत्मा के लिये भार (बोझा) के समान है। चारित्र की शोभा ज्ञान के द्वारा होती है।

श्री समन्तभद्र आचार्य ने ज्ञान के द्वारा ही भारतष में सब जगह बड़े बड़े शास्त्रार्थ करके परमत वाले विद्वानों को हराकर जैनधर्म की प्रभावना की थी, अकलंक देव ने ज्ञान के द्वारा ही बौद्धधर्म का खण्डन करके जैनधर्म का प्रकाश किया था। आध्यात्मिक ज्ञान के कारण ही श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने समयसार, पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थों का निर्माण किया, मूलसघ की स्थापना करके वीतराग दिगम्बर परम्परा को स्थिर रक्खा। आज दिन भी जो अनेक शास्त्रों के रूप में जिनवाणी पढ़ने को मिल रही है वह आचार्यों के विशाल ज्ञान के कारण ही बने हैं।

मन में जब कोई शोक की लहर हो, जब कोई व्याकुलता हो, जब मन विषयभोगों में भटक कर अशुभ कर्म बन्ध करा रहा हो तब उसको शास्त्रों के स्वाध्याय में लगा दीजिये, अशुभ आस्रव तत्काल रुक जायगा। शास्त्रों का स्वाध्याय तथा अन्य प्रकार से ज्ञान का अभ्यास करना बड़ा पवित्र कार्य है। ज्ञानाभ्यास के समय मन न तो किसी राग में फंसता है, न किसी द्वेष, क्षोभ, लोभ में अटकता है।

राज्य वैभव, सुवर्ण चांदी, पुत्र स्त्री आदि पदार्थ तो आत्मा के साथ सदा नहीं बने रहते, अशुभ कर्म के उदय से इस भव में भी छूट जाते हैं, परभव में तो कोई साथ जाता ही नहीं, किन्तु शास्त्र अभ्यास आदि से उपार्जन किया हुआ ज्ञान तो आत्मा से नहीं छूटता वह तो आत्मा के पास इस भव में भी सदा बना रहता है और अन्य भव में भी साथ ही जाता है। ऐसी अमूल्य ज्ञान निधि जिस मनुष्य के पास नहीं है सचमुच में वह महान् दरिद्री है। ज्ञान की महिमा में श्री पं० दौलतराम जी ने कितना अच्छा कहा है—

जे पूरव शिव गये जाय अब आगे जै हैं,
सो सब महिमा ज्ञान तनी मुनिनाथ कहे हैं।
विषय चाह दवदाह जगतजन अरणि दझावै,
तास उपाय न आन ज्ञान घनघान बुझावै।

यानी—जो मुनि भूतकाल में मुक्त हुए, इस समय विदेह क्षेत्रों से मुक्त हो रहे हैं और भविष्य में जो मोक्ष प्राप्त करेंगे, यह सब ज्ञान की ही महिमा है। विषयभोगों की इच्छा संसारी जीवों को जला रही है इस इच्छा रूपी आग को ज्ञान धारा ही बुझा सकती है, उसको शान्त करने का अन्य कोई उपाय नहीं है, ऐसा आचार्यों ने बतलाया है।

ऐसे महत्वशाली ज्ञान गुण को बढ़ाने के लिये सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये। बालक, युवक, अधेड़, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सब किसी को अपना ज्ञान बढ़ाने का उद्योग करना चाहिये। शास्त्रस्वाध्याय, पढ़ना, पूछना, पाठ करना, पढाना, विचार करना आदि जिन उपायों से ज्ञान वृद्धि हो वे उपाय काम में लेने चाहियें। आत्मा कर्म, संसार, मोक्ष आदि का ज्ञान प्रत्येक स्त्री पुरुष को अवश्य होना चाहिये।

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण,
यह परमामृत जन्म जरा मृतु रोग निवारण।

यानी—इस जगत् में ज्ञान के समान आत्मा के लिये सुखदायक और कोई पदार्थ नहीं है। जन्म, जरा (बुढ़ापा) और मृत्यु को दूर करके अजन्मा, अजर, बनाने के लिये यह ज्ञान ही अमृत के समान है।

सम्यग्ज्ञान के विषय में स्व पं० दौलतराम ने छहढाला में उपर्युक्त पद्य तथा निम्नलिखित पद्य और भी लिखे हैं।

कोटि जन्म तप तपे ज्ञान बिन कर्म झरें जे,
ज्ञानी के छिनमांहि गुप्ति तैं सहज टरें ते।
मुनिव्रत धारि अनन्तवार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो।

यानी—करोड़ों जन्म तक आत्मज्ञान के बिना तपस्या करने पर भी जितने कर्मों की निर्जरा हो पाती है उतने कर्मों की निर्जरा आत्मज्ञानी के योग निरोध रूप गुप्तियों के द्वारा क्षण भर में हो जाती है। जिस तरह भरत चक्रवर्ती ने अन्तर्मुहूर्त में केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया। यह जीव अनन्तों वार मुनिव्रतों का आचरण करके ग्रैवेयक (१६ स्वर्गों से ऊपर के विमानों) में उत्पन्न हुआ, किन्तु आत्मज्ञान के बिना इसको जरा भी निराकुल आत्मसुख प्राप्त नहीं हुआ।

धन समाज गज बाज राज तो काम न आवे,
ज्ञान आपको रूप भये फिर अचल रहावे।
तास ज्ञान को कारण स्वपर विवेक बखानौ,
कोटि उपाय बनाय भव्य ताको उर आनौ ॥

अर्थात्—धन सम्पत्ति, परिवार, हाथी, घोड़ा, राज्य तो इस आत्मा के काम नहीं आते हैं-इनसे आत्मा का कुछ लाभ नहीं होता है, पर ज्ञान आत्मा का स्वरूप है और वह सदा आत्मा के पास स्थिर रहता है। हाथी घोड़े आदि पदार्थ सदा नहीं रहते। उस आत्मज्ञान का कारण निज-पर भेद विज्ञान है। अतः हे भव्य मनुष्यों! करोड़ों यत्न करके उस सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करो।

इस तरह ज्ञान का सबसे अधिक मूल्यवान गुण है, ज्ञान के कारण आत्मा चेतन कहलाता है, ज्ञान के कारण ही इसको अपनी उन्नति का मार्ग सूझता है। इस ज्ञान का आत्मा में अक्षय भंडार भरा हुआ है, ज्ञान को कहीं बाहर से नहीं लाना पड़ता। वह ज्ञान भंडार ज्ञानावरण कर्म के पर्दे से छिपा हुआ है, सतत ज्ञान-अभ्यास करते रहने से ही ज्ञानावरण कर्म दूर हो सकता है, अतः मनुष्य को सदा ज्ञान प्राप्ति तथा ज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न अवश्य करते रहना चाहिये।

प्रवचन नं० ६६

स्थान—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि—
द्वितीय भाद्रपद कृष्णा ८ शुक्रवार, ६ सितम्बर १६५५

संवेग-भावना

सांसारिक दुःखों से भयभीत होना संवेग है। अथवा धर्म तथा धर्म के फल में अनुराग होना भी संवेग है।

तत्सुख यत्र नाऽसुखम्

यानी—सुख वह है जहां जरा भी दुख न हो। संसार में वह सुख कहीं भी नहीं है क्योंकि संसारी जीव जिसको सुख समझता है वह तो ऐसा सुख है जैसे खाज को खुजाते समय होता है, खुजा लेने के बाद जो महान् कष्ट होता है वह उस क्षणिक सुख पर पानी फेर देता है।

नरक गति तो असहनीय दुःख रूप है ही, वहां की पृथ्वी छूते ही इतनी पीड़ा होती है, जितनी पीड़ा हजार बिच्छुओं के एक साथ काटने पर भी शरीर में नहीं होती, वहां आयु भर खाने को एक दाना अन्न भी नहीं मिलता जब कि भूख बहुत भारी लगती है। इसी तरह प्यास भी बहुत तीव्र सताती है परन्तु नरकों में जन्म भर एक बून्द भी पानी नहीं मिलता। नारकी सदा आपस में एक दूसरे को तलवार, बर्छी, पत्थर, मुद्गर, गदा आदि से मारते कूटते हैं, शरीर के टुकड़े टुकड़े कर देते हैं परन्तु पारे की तरह से वे टुकडे मिल कर फिर शरीर बन जाता है। नारकी जीव दुःख के कारण मरना चाहते हैं परन्तु जब तक वहां

की आयु समाप्त न हो जाय तब तक उनकी मृत्यु नहीं होती। ऐसे भयानक दुःख कम से कम १० हजार वर्ष तक तो भुगतने ही पड़ते हैं।

पशुगति में एकेन्द्रिय जीवों में निगोद के जीवों को सबसे अधिक दुःख होता है वे हमारे एक श्वास लेने के समय में ही १८ वार जन्म ले लिया करते हैं और १८ वार मर जाते हैं। एक वार मरने में कितना भारी दुःख होता है तो एक श्वास में १८ वार जन्म मरण का दुःख तो किसी तरह कहा ही नहीं जा सकता। इस तरह जन्म मरण निगोद में सदा होता रहता है। निगोद के सिवाय दूसरे एकेन्द्रिय जीव भी ज्ञान की कमी से तथा सुरक्षा की कमी से दूसरे जीवों द्वारा दुःख पाते ही रहते हैं। दो इन्द्रिय लट गेंडुआ आदि, तीन इन्द्रिय चींटी, खटमल आदि, चौ इन्द्रिय मक्खी, मच्छर आदि मनुष्यों तथा पशुओं के पैरों के नीचे आकर कुचल जाते हैं, छिपकली, चिड़ियां आदि खा जाती हैं, चीजों के रखते उठाते, बुहारी, आग, पानी आदि से मरते रहते हैं। पंचेन्द्रिय पशुओं में कोई असैनी जीव मन बिना अज्ञानी रहे आते हैं। सैनी जीव एक दूसरे के शत्रु बनकर मारते काटते खाते पीते रहते हैं। चूहे को बिल्ली ने मारा, बिल्ली को कुत्ते ने फाड़ डाला, कुत्ते को भेड़िया मार डालता है, भेड़िया को सिंह और सिंह को शिकारी लोग मार डालते है। इसी तरह जलचर, नभचर जीव एक दूसरे को मारते रहते हैं।

पालतू पशुओं को पिंजड़े में बन्द करके या जंजीर, रस्सी से बांधकर खूंटे से बांध देते हैं। वहां भूख, प्यास, शर्दी, गर्मी आदि का जो कष्ट होता रहे उसको कोई जानता भी नहीं।

नाक मे छेद करना, पूंछ कान काट देना, अण्डकोष फोड़ देना आदि कष्टों से पशुओं को बचाने वाला कोई नहीं। ऊंट, बैल, गधा, भैंसा घोड़ा आदि पर बहुत बोझ लाद कर आगे चलने के लिये बेंतों की मार पड़ती है। बकरा, भैंसा, मेंढा, सूअर, मुर्गा आदि को पापी अज्ञानी लोग काट कर देवी देवताओं पर भेट चढ़ा देते हैं। चमड़े के लिये बड़ी निर्दयता से जीवित पशु मारे जाते हैं। गर्भ में से निकाल कर गाय, भेड़, बकरी आदि के बच्चों को नर्म चमड़ा लेने के लिये मार डालते हैं।

इत्यादि पशुगति में महान दुःख जीव सहता है।

दरिद्रता, रोग, नौकरी आदि के कारण मनुष्य अपमान का बड़ा दुःख उठाते हैं। इष्टवियोग अनिष्टसंयोग के दुःख मनुष्य के सामने आया ही करते है। दुर्व्यसनी पुत्र, व्यभिचारिणी कलहकारिणी स्त्री, विश्वासघाती मित्र, स्वार्थी भाई मौका पाकर दुःख देते ही रहते है। इस तरह मनुष्य गति के भी दुःखों का कुछ पार नहीं।

देवों में भी छोटे बड़े पन का भेद-जनक दुःख है, नीची जाति के देव उच्च कोटि के जीवों को देखकर मन में घूरते है। बड़े देव विषय भोगों में लीन रहकर भविष्य जीवन बिगाड़ते हैं, मरने से ६ मास पहले जब उनके गले की माला मुर्झा जाती है तब उनको देव पर्याय छूटने का जो महान् दुःख होता है उसको वह भुक्त-भोगी जीव जानता है, दूसरा कोई क्या जाने।

देवों में जन्म लेकर वे जीव भी होते हैं, जो जन्म भर इन्द्र आदि महान् ऋद्धि-धारक देवों की सेवा किया करते हैं। बहुत से देव ऐसे भी होते हैं जो इन्द्र की सभा में भी प्रविष्ट नहीं हो सकते। ऐसे नीच कोटि के देव स्वर्ग में भी पहुँचकर जन्म भर अपमान का जीवन व्यतीत करते हैं।

जिन देवों को सम्यग्दर्शन एवं आत्मज्ञान होता है वे समझते हैं कि आत्मा का सच्चा हित मनुष्य पर्याय से तपश्चरण द्वारा प्राप्त होगा, इस देव पर्याय में हम आत्मशुद्धि के लिये तप, त्याग, सयम कुछ नहीं कर सकते। इस तरह देव पर्याय उनके लिये कुछ आनन्द की वस्तु नहीं होती।

इस प्रकार संसार की प्रत्येक योनि, प्रत्येक शरीर और प्रत्येक गति दुःखमय है। जिस तरह खारा जल पीने से प्यास और अधिक उग्र होती जाती है उसी तरह ससार के विषय भोग जिनको कि संसारी जीव सुखमय मानते हैं, वे कुछ तृप्ति नहीं करते, बल्कि तृष्णा और व्याकुलता को बढ़ा देते हैं।

इस प्रकार विचार करने से संसार से विरक्ति हो जाती है और संसार से मुक्त होने की उत्कण्ठा होती है, आत्म-अनुभव की ओर रुचि प्रगट होती है। यह संवेग भावना है।

कविवर पं० भूधरदास जी ने बज्रनाभि चक्रवर्ती की वैराग्यभावना के प्रकरण में संसार का संक्षेप से अच्छा चित्र खींचा है। वे लिखते हैं—

या संसार महावन भीतर भ्रमते छोर न आवै,
जन्म जरा मृतु वैरी धावै जीव महा दुख पावै।

यानी—संसार रूपी विस्तृत वन में संसारी जीव को भटकते-भटकते अन्त नहीं मिलता। जन्म जरा मृत्यु रूपी शत्रु सदा इसका पीछा किया करता है, जिस से जीव सदा दुःख उठाता रहता है।

कबहूं जाय नरक थिति भुंजै छेदन भेदन भारी,
कबहूं पशु पर्याय लहै तहं बध बन्धन भयकारी।
सुरगति में परसंपति देखै राग उदय दुख होई,
मानुष योनि अनेक विपतिमय सर्व सुखी नहिं कोई॥

अर्थात्—यह जीव पापकर्म के उदय से कभी नरक में दीर्घकाल तक भयछेदना, बींधना, शर्दी, गर्मी आदि की असह्य यन्त्रणाएं सहता है। कभी दुर्दैव से पशु शरीर पाता है तो वहां पर मारना बांधना आदि भयानक दुःखों से जीवन विताता है। यदि सौभाग्य से यह देव पर्याय प्राप्त करे तो महान् ऋद्धि-धारक देवों को देखकर ईर्ष्या के कारण दुःखी रहता है। मनुष्य गति में भी अनेक विपत्तियां भरी है। इस तरह ससार मे पूर्ण सुखी कोई भी जीव नहीं।

मनुष्य गति मे क्या दुःख हैं—

कोई इष्ट वियोगी विलखै कोई अनिष्ट संयोगी,
कोई दीन दरिद्री विगुचै कोई तन का रोगी।
काहू घर कलिहारी नारी कै वैरी-सम भाई,
काहू के दुख ऊपर दीखै काहू उर दुचिदाई॥

यानी—मनुष्यों में किसी प्रिय व्यक्ति के वियोग का शोक समाया हुआ है, किसी को अप्रिय व्यक्ति (शत्रु आदि) के संयोग से विलाप करना पड़ता है। कोई मनुष्य दरिद्रता के कारण दीन हीन बन कर, तो कोई भयानक रोग के कारण दुःख पा रहा है। किसी की गृहिणी (पत्नी) रात दिन कलह करती रहती है, किसी का सगा सहोदर भाई शत्रु समान व्यथा पहुंचाता है। किसी को शारीरिक दुःख है जो ऊपर से दिखाई देता है किसी को मानसिक दुःख अन्तर्वेदना देता है।

कोई पुत्र बिना निज घूरै होय मरै तब रोवै,
खोटी संतति सों दुख उपजै क्यों प्राणी सुख सोवै।
पुण्य उदय जिनके तिनके भी नाहिं सदा सुख साता,
यह जगवास जथारथ देखें सब ही है दुख दाता॥

यानी—कोई मनुष्य अपने घर पुत्र न होने के कारण मन में घूरता रहता है, किसी के पुत्र भी होते हैं तो हो हो कर मर जाते है, जीवित नहीं रहने पाते। किसी के पुत्र जीते भी हैं तो वे कुपुत्र निकल जाते है इस कारण लेशमात्र भी सुख प्राप्त नहीं होता। जिन मनुष्यों के पुण्य कर्म के उदय से कुछ सुख साधन मिल जाते हैं उनको भी सदा सुख नहीं रहता, अशुभ कर्म का उदय आते भी देर नहीं लगती जिस से कि फिर कोई न कोई दुख उस पर आ टूटता है। इस प्रकार संसार की परिस्थिति पर विचार किया जावे तो निराकुल तथा स्थायी सुख संसार में कहीं पर नहीं है।

अन्त में कवि निचोड़ रखता है—

जो संसार विषैं सुख होते तीर्थंकर क्यों त्यागैं,
काहे को शिवसाधन करते संजम सों अनुरागे।

यदि इस संसार में सुख होता तो तीर्थंकर देव अपने निष्कंटक राज्य का तथा प्रिय परिवार का त्याग क्यों करते और किस लिये निर्ग्रन्थ तपस्वी बनकर संयम से प्रेम करके वन पर्वतों में संसार से मुक्त होने का प्रयत्न करते।

इस प्रकार संसार का स्वरूप चिन्तवन करके संसार से भयभीत होना तथा धर्म एवं धर्म के फल से अनुराग करना संवेग भावना है।

प्रवचन नं० ९७

स्थान— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि— द्वितीय भाद्रपद कृष्णा ६, शनिवार १० सितम्बर १९५५

शक्तितस्त्याग

अपनी शक्ति के अनुसार स्व-पर हित के लिये द्रव्य का दान करना शक्तितस्त्याग भावना है।

धन सम्पत्ति यद्यपि जड़ भौतिक पदार्थ हैं किन्तु जब तक संसारी जीव शरीर के आश्रय जीवन व्यतीत करता है तब तक इस शरीर संचालन के लिये भोजन पान तथा वस्त्र आदि अन्य अनेक सामग्रियों को जुटाना पड़ता है, वे सामग्रियां जिन वस्तुओं द्वारा सुलभता के साथ प्राप्त हो जाती है, वे ही धन कहलाती हैं। तदनुसार संसारी जीवन मे धन भी एक आवश्यक वस्तु है।

इसी कारण धन-उपार्जन करने के लिये मनुष्य सदा क्रियाशील रहता है, वह अनेक विकट संकटों को सहन कर, अनेक अन्याय अनीति करके धन का संचय करता है। क्योंकि गृहस्थाश्रम की गाड़ी धन के सहारे ही चला करती है।

परन्तु धन एकत्र करके मनुष्य को आत्म-निधि न भूल जानी चाहिये। धन सम्पत्ति द्वारा शरीर को तो खुराक मिल जाती है परन्तु आत्मा को खुराक धन के त्याग द्वारा मिला करती है। क्योंकि धन को संचय करने में कुछ न कुछ अन्याय अनीति करनी पड़ती है, उस अनीति से आत्मा की शुद्ध भावना को ठेस पहुंचती है, आत्मा में बड़ी व्याकुलता पैदा करने वाला मैल लग जाता है। उस मैल को धोने के लिये अनुभवी आचार्यों ने गृहस्थों को एक अच्छा उपाय बतलाया है कि 'प्रतिदिन अपनी शक्ति अनुसार कुछ न कुछ दान करते रहो।'

दान करने से एक तो आत्मा परिग्रह के भार से कुछ हलका होता है, उसके मोह भाव में, तृष्णा तथा लोभ में कमी आती है। दूसरे-दान करते समय अन्य जीव की पीड़ा या चिन्ता अथवा उसकी आवश्यकता दूर करते हुए हृदय में दया, अहिंसा की पवित्र भावना लहराती है, उस से आगामी समय के लिये पुण्यकर्म का बन्ध होता है। तीसरे—जिस जीव को दान देते हैं उसका दुःख दूर होता है अतः उसका आत्मा सन्तुष्ट होता है। चौथे—दान करने से अनचाहा यश प्राप्त होता है। इस तरह दान करने से केवल परोपकार ही नहीं होता, बल्कि स्व-उपकार भी होता है। तथा दानी को परभव में ही आनन्द नहीं मिलता अपितु इस भव में भी बहुत आनन्द स्वयं प्राप्त होता रहता है।

राजा भोज संस्कृत भाषा की उन्नति के लिये बहुत दान किया करता था। यदि कोई अच्छा श्लोक बनाकर राजा भोज की सभा में पहुंच जाता था तो राजा उसको एक एक लाख मुद्रा पारितोषिक में दे डालता था। राजा की ऐसी उदारता देखकर खजानची को बड़ी चिन्ता हुई। उसने राजा को इतना दान करने से हटाने के लिये खजाने के द्वार पर बहुत बड़े अक्षरों में लिख दिया।

'आपदर्थधनं रक्षेत्'

यानी—किसी आपत्ति काल के लिये धन सुरक्षित रखना चाहिये (सब खर्च न कर डालना चाहिये)।

राजा भोज ने जब यह वाक्य पढ़ा तो वह अपने चतुर खजानची का संकेत समझ गया। तब खजानची के लिखे हुए वाक्य के उत्तर में राजा ने वहीं पर उसके आगे लिख दिया कि—

'श्रीमतां कुत आपदः'

यानी—धनवानों को आपत्तियां कैसे आ सकती है? यानी—लक्ष्मीवानों को कभी आफत नहीं आती।

खजानची ने जब राजा का यह उत्तर पढ़ा तब उसने राजा को फिर समझाने के लिये उसके आगे लिख दिया कि—

कचित् दैवात्समाप्नोति

यानी—कभी कभी धनिक लोगों पर भी दुर्भाग्य से विपत्ति आ जाया करती है।

राजा भोज ने जब अपने हितैषी बुद्धिमान खजानची का यह उत्तर पढ़ा तब उसने उसकी आशंका का समाधान करते हुए उसके आगे लिख दिया कि—

'संचितोऽपि विनश्यति'

यानी—यदि दुर्भाग्य से धनवान् भी विपत्ति में फंस जावे तो दुर्भाग्य से एकत्रित धन भी नष्ट हो सकता है।

खजानची राजा भोज का उत्तर पढ़कर लज्जित हुआ और उसने कभी भी राजा को दान करने से न रोका।

इस का सार ग्राह्य अंश इतना ही है कि धन का सब से अच्छा उपयोग दान करना है। अतः साधु सन्त पुरुषों को बड़ी भक्ति और सन्मान के साथ आहार आदि का दान करना चाहिये, तथा दुःखी दीन, दरिद्री को करुणाभाव से दान देना चाहिये। इसके सिवाय धर्मप्रचार, समाजसुधार, लोककल्याण, ज्ञानप्रचार के लिये भी यथेष्ट दान करना आवश्यक है।

दान अपनी शक्ति के अनुसार करना चाहिये। जितना दान कर सकता हो उससे कम भी न करे क्योंकि जब जितना दान करने की शक्ति है तो उस समय उतना करना ही चाहिये, अच्छे काम करने में संकोच करना लाभदायक नहीं होता। तथा शक्ति से अधिक दान करने पर स्वयं आपत्ति में फंस सकता है, स्वयं निर्धन होकर दुःखी हो सकता है। अतः दान शक्ति-अनुसार ही करना चाहिये। यह पवित्र भावना भी तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण है।

मुनि, ऐलक, क्षुल्लक, आर्यिका, ब्रह्मचारी आदि व्रती त्यागी को बहुत भक्ति के साथ विधि अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल के अनुसार आहार, शास्त्र, औषध आदि दान करना चाहिये और दीन, दरिद्र दुःखी जीवों को करुणा भाव से उनका दुःख जिस तरह दूर हो सके वैसे उचित निरवद्य पदार्थ का दान करना चाहिये।

धन पा कर मनुष्य अनेक प्रकार के अनर्थ किया करता है यह अनर्थकारी धन तभी आत्मा को हितकर हो सकता है जब कि इसको दान पर-उपकार में खर्च किया जावे।

एक कवि ने अन्योक्ति रूप से कहा है—

वितर वारिद वारिदवातुरे, चिरपिपासित चातक पोतके।
प्रचलिते मरुति क्षणमन्यथा, क्व भवान् क्व पयः क्व च चातकः॥

यानी—हे बादल ! इस बहुत देर से प्यासे चातक पक्षी के लिये कुछ जल बिन्दु बरसा दे। अन्यथा प्रबल पवन के आते ही पता नहीं तू कहां उड़ कर जा पहुंचेगा, कहां तेरी बून्दें जा गिरेंगी और कहां पर यह बेचारा चातक जा पहुँचेगा।

कवि ने यह पद्य धनिक व्यक्ति को लक्ष्य करके कहा है कि आज तेरे पास धन है उस से तू कुछ पर-उपकार कर ले, अन्यथा दुर्भाग्य से कहीं भाग्य का उलटा चक्कर चल गया तो फिर तू पछतावेगा।

एक मधु मक्खी भोज राजा के निकट आ बैठी वह बार बार अपने हाथ पैरों से अपने शिर को साफ करती थी, भोज ने अपने मन्त्री से पूछा कि यह मक्खी बार २ ऐसा क्यों करती है, तब मन्त्री ने अपनी कल्पना से उत्तर दिया कि महाराज ! यह मक्खी अपने शिर को बार बार धुनते हुए आप से कह रही है कि—

देयं भोज धनं धनं सुकृतिभिर्नो संचितव्यं कदा,
श्रीकर्णस्य बलेश्च विक्रमपतेरद्यापि कीर्तिः स्थिता।
अस्माकं मधुदानभोगरहितं नष्टं चिरात् संचितं,
निर्वाणादपि पाणिपादयुगलं घर्षन्त्यहो मक्षिका ॥

अर्थात्—'हे भोज राजन् ! भाग्यवान् पुरुषों को धन संचित नहीं करना चाहिये अपितु उसको दान करते रहना चाहिये। कर्ण, बलि, विक्रमादित्य राजा का यश आज तक दान के कारण ही चला आ रहा है। हमने अपने छत्ते में मधु (शहद इकट्ठा किया था, न तो उसे स्वयं खाया, न उसको दान किया था, परिणाम यह हुआ कि कोई लुटेरा आया और मेरा संचित धन बलात् लूट कर ले गया।' ऐसा कहते हुए ये मधु मक्खियां हाथ पैर मारती रहती हैं।

इस कारण सदा शक्ति अनुसार दान करते रहना चाहिये।

प्रवचन नं० ६८

स्थान— तिथि—
श्री दिगम्बर जैन लाल मंदिर कूचा सेठ, देहली। द्वितीय भाद्रपद कृष्णा १०, रविवार ११ सितम्बर १९५५

शक्ति-अनुसार तप

अपनी शक्ति के अनुसार आत्म-शुद्धि के लिए तपश्चरण करना शक्तितस्तप भावना है।

जिस मनुष्य भव पाने के लिए लौकान्तिक देव, अनुत्तर विमानवासी अहमिन्द्र देव, संसार में सबसे अधिक सुखसम्पन्न सर्वार्थसिद्धि के देव भी तीव्र उत्कण्ठा रखते हैं, उस मनुष्य भव के प्राप्त करने में यदि कोई महत्वशाली बात है तो वह केवल इतनी ही है कि जिस तपश्चरण से पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा तथा आगामी कर्मों का संवर होते हुए अन्त में सर्वकर्मक्षय से मुक्ति प्राप्त हुआ करती है, वह तपश्चरण केवल मनुष्यभव में ही सुलभ है, देवगति में असंभव है।

यदि कोई देव उपवास करना चाहे तो वहां एक उपवास भी नहीं कर सकता, क्योंकि देवों को जिस समय भूख लगती है उसी समय उनके गले में से स्वयं अमृत झर कर उनकी भूख शान्त कर दिया करता है। इस तरह इच्छा न रहते हुए भी उनका भोजन स्वयमेव हो जाया करता है। मनुष्य शरीर में वह बात नहीं है-भोजन ग्रहण करना या न करना मनुष्य की अपनी इच्छानुसार है इसी कारण भगवान् ऋषभदेव ने ६ मास का उपवास स्व-इच्छा से और ६ मास का उपवास विधि पूर्वक आहार प्राप्त न होने के कारण किया। उनके द्वितीय पुत्र बाहुबली ने एकासन से खड़े रहकर आत्मध्यान लगाकर एक वर्ष का उपवास किया था।

इस तरह अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख प्राप्त करने का साधन भूत मनुष्य शरीर पाकर यदि इस शरीर से तपश्चरण करने का काम न लिया तो यह शरीर पाना व्यर्थ है। अतः जिस तरह घोड़े को खिलाते पिलाते रहो परन्तु उससे सवारी का काम न लो तो वह घोड़ा शैतान हो जाता है, उसी तरह यदि इस शरीर को खिलाते पिलाते रहे और इस से आत्मशुद्धि के लिये तप करने का कुछ काम न लिया जाय तो यह शरीर भी आत्मा के लिये लाभदायक सिद्ध नहीं होता। अथवा जिस तरह हाथी को अपनी इच्छानुसार चलाने के लिये हस्तिपाल के पास अंकुश न हो तो हाथी ठीक नहीं चलता, न ठीक इष्ट स्थान पर पहुँचता है इसी प्रकार जब तक इन्द्रियों पर अकुश (नियन्त्रण-कन्ट्रोल) न किया जावे तब तक इन्द्रियां भी आत्मा के लिये अशुभ कर्म-सचय करने वाली ही सिद्ध होती हैं। इस कारण शरीर और इन्द्रियों को तपश्चरण द्वारा आत्मा के लिये उपयोगी बनाना चाहिये।

इच्छानिरोधस्तपः। यानी—विषयभोगों की इच्छाओं का रोकना ही तप है। आत्मा में अशुद्धि विषयभोगों की इच्छाओं के अनुसार कर्म बन्ध होते रहने के कारण हुआ करती है, उस अशुद्धि को दूर करने के लिये सफल साधन तप ही है।

जिस तरह अग्नि पर अच्छी तरह तपा देने से सोने की अशुद्धि दूर होकर सोना पूर्ण शुद्ध हो जाता है, उसी तरह तपों से तपाकर आत्मा भी कर्ममल से पूर्ण शुद्ध हो जाता है।

विषय कषायों के त्याग के साथ आहार का त्याग करना उपवास है जो कि धर्मध्यान के लिये बहुत उपयोगी है। उपवास न हो सके तो अष्टमी चतुर्दशी को एकाशन करना चाहिये। भूख से थोड़ा भोजन करना भी तप का एक भेद है। घी, तेल, दूध, दही, नमक, मीठा इन रसों में से कोई रस कुछ समय के लिये या सदा के लिये छोड़ देना भी तप का अंश है। एकान्त शान्त स्थान में रहना, सोना, बैठना जहां पर कि चित्त विक्षेप का कोई साधन न हो, यह भी तप है। शरीर से मोह वासना कम करते हुए खड़े होकर ध्यान करना भी तप है।

किसी प्रकार आचरण संबंधी चूक हो जाने पर प्रायश्चित लेकर मन की शुद्धि कर लेना भी तप है। देव शास्त्र गुरु की तथा सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र की मन से विनय करना भी तप है। किसी रोगी वृद्ध तपस्वी, त्यागी की सेवा करना अथवा किसी दीन दुःखी की सेवा करना भी तप है। अपने ज्ञान को बढ़ाने के लिये शास्त्रों का स्वाध्याय करना, पढ़ना पढ़ाना आदि भी पवित्र तप है। बाहरी वस्तुओं से तथा शरीर से मोह ममता छोड़ना, या मोह कम करना भी एक तप है।

इसके सिवाय सबसे बड़ा और सबसे सरल या सबसे कठिन तप है—'अच्छे विचारों में मनको उलझाना' जिसका कि दूसरा नाम 'ध्यान' है। पाप ध्यान के द्वारा तो अशुभ कर्म बन्ध होता है और शुभ ध्यान द्वारा ही शुभ बन्ध होता है तथा शुद्ध ध्यान द्वारा कर्मों का क्षय होता है।

सो अपने शरीर की शक्ति के अनुसार आत्मा को शुद्ध करने के लिये पहले कहे हुए तपों में से अतरंग बहिरंग तपों को करना चाहिये। यदि उपवास शान्ति पूर्वक हो सकता हो तो अपना बल प्रकट करके उपवास, बेला, तेला, प्रोषधोपवास, सिंहनिष्क्रीडित आदि तप अवश्य करे, यदि उतनी सामर्थ्य न हो तो उससे कम करें। नीतिकार ने कहा है—

देखा देखी साधे योग, छीजै काया बाढ़े रोग।

यानी—अपनी शक्ति बिना विचारे जो मनुष्य उपवास आदि तप करने लगते हैं उनका शरीर क्षीण हो जाता है और उनके शरीर में अनेक रोग प्रगट हो जाते हैं। कहने का सारांश यह है कि जितने तपश्चरण से शरीर काम करता रहे और आत्मा में शान्ति उत्साह बना रहे उतना तप मनुष्य को अवश्य करना चाहिये। जिन मनुष्यों का समय तपश्चरण में व्यतीत होता है वे धन्य हैं। मुक्ति तपस्या के द्वारा ही प्राप्त होती है। कितना अच्छा कहा है—

तप करते जोवन गयो, द्रव्य गयो मुनि दान।
प्राण गये संन्यास में, तीनों गये न जान॥

यानी—तपस्या करते हुए युवावस्था व्यतीत हो जाय, मुनि तपस्वी त्यागियों को दान करते करते अपना धन खर्च हो जाए और समाधि के साथ प्राण चले जावें, तो उस युवावस्था, धन और प्राण का चला जाना लाभ दायक है, उसको हानिकारक मत समझो।

इस कारण जब तक शरीर में शक्ति है तब तक कुछ न कुछ तप अवश्य करते रहना चाहिये। शरीर निर्बल अशक्त हो जाने पर कुछ तप नहीं बन सकता।

इस प्रकार अपनी शक्ति न छिपा कर शक्ति के बाहर भी न जाकर जो तप आचरण किया जाता है उसको शक्तितस्तप या शक्ति-अनुसार तप भावना कहते हैं।

इन्द्रियों की इच्छाओं का दास बने रहना कायर पुरुषों का काम है। जिन व्यक्तियों में आत्मबल प्रकट होता है, वे इन्द्रियों को अपना दास बना कर इच्छाओं का नियन्त्रण करते हैं जिससे कि आत्मा विषय भोगों के कृत्रिम आनन्द से विमुख होकर आध्यात्मिक रस का आस्वादन करने के लिये प्रवृत्त होता है।

तपों का आचरण मुख्य रूप से गृह परिवार से सम्पर्क छूट जाने पर स्वाधीन अवस्था में होता है. परन्तु गृहस्थ भी यथा सम्भव तपश्चरण कर सकता है। कायोत्सर्ग (नग्न हो खड़े होकर ध्यान करना) प्रतिमायोग के सिवाय अन्य दशा में गृहस्थ नहीं कर सकता।

प्रवचन नं० ६६

स्थान— तिथि—

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर कूचा सेठ, दिल्ली द्वितीय भाद्रपद कृष्णा ११ सोमवार, १२ सितम्बर १९५५

साधु-समाधि

मुनि तपस्वियों पर आये हुए उपसर्ग का निवारण करना साधु समाधि है, अथवा समाधि से (धर्म ध्यान पूर्वक) शरीर का परित्याग करना साधु समाधि है।

महाव्रती साधु संसार के सब से अधिक उपकारी महात्मा हैं, वे अपने लिये संसार से कुछ नहीं लेते। जिस प्रकार मधु मक्खी फूलों को बिना कुछ कष्ट पहुँचाये उनसे रस लिया करती है इसी प्रकार महाव्रती मुनि भी अपनी शरीर स्थिति के लिये थोड़ा सा रूखा सूखा शुद्ध भोजन दाता को बिना कुछ कष्ट दिये ग्रहण करते हैं और अपना समस्त समय आत्म-शोधन और लोक-कल्याण में व्यतीत करते हैं।

ऐसे साधुओं की जीवन चर्या जगत् के लिये बहुत लाभदायक है, अतः किसी कष्ट या उपसर्ग से उनकी रक्षा करना धर्मप्रेमी सज्जन का मुख्य कर्तव्य है। संसार में अनेक दुष्ट पुरुष ऐसे भी हुआ करते हैं जो अकारण ऐसे शान्त निःस्पृह साधु महात्माओं को कष्ट पहुँचाते है, गालियां देते हैं, मारते हैं, उनके ऊपर प्राणनाशक उपद्रव करते हैं। जैसे कि प्राचीन समय में गजकुमार पर, पाचों पाण्डव भ्राताओं, आदि पर दुष्ट निर्दय मनुष्यों ने उपसर्ग किये। आये हुए उपसर्ग को मुनि तो अपनी परीक्षा का समय समझ कर शान्ति, धीरता तथा क्षमा से सहन करते हैं। शक्ति रहते हुए भी मुनि उस उपसर्ग का निवारण नहीं करते, न जरा भी मन में क्रोध, क्षोभ क्लेश की विकार भावना मन में आने देते हैं, अपितु उस समय आत्म-ध्यान में निमग्न हो जाते हैं। इस तरह अविकार रूप से उपसर्ग सह कर थोड़े ही समय में वे तो बहुत भारी लाभ (मुक्ति, सर्वार्थसिद्धि आदि) प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु उपसर्ग के कारण उनका अवसान हो जाने के कारण संसार को जो उनसे लाभ होना चाहिये था वह नहीं होने पाता।

इस कारण समाज हितैषी धार्मिक सज्जनों का कर्तव्य है कि यदि कभी कहीं मुनिराजों पर उपसर्ग आवे तो उसको ठीक तरह से दूर करने की पूर्ण चेष्टा अवश्य करें। धर्म गुरु से बढ़कर पूज्य व्यक्ति दूसरा नहीं होता इसलिये गुरु का उपसर्ग दूर करने के लिये तन मन धन सर्वस्व अर्पण कर देना चाहिये।

एक गुफा में बैठे हुए आत्मलीन मुनिराज की गंध पाकर सिंह जब उनको भक्षण करने के लिये गुफा की ओर झपटा तब वहीं बैठे हुए एक शूकर ने उस सिंह का अभिप्राय जान कर मुनि के प्राण बचाने के लिये सिंह को गुफा में जाने से रोका। सिंह अपने बल मद में चूर था अतः शूकर के रोकने पर भी गुफा में घुसने लगा, तब मुनि महाराज को जरा भी आंच न आने देने के अभिप्राय से सूअर सिंह के साथ भिड़ गया। इस तरह सिंह और सूअर का युद्ध प्रारम्भ हो गया। सिंह अपने पंजों से सूअर को घायल करने लगा और सूअर अपने खीसों (बाहर निकले हुए दाँतों) से सिंह का शरीर क्षत विक्षत करने लगा। इस तरह दोनों आपस में लड़ते भिड़ते मर गये। परन्तु सूअर ने मुनि महाराज की रक्षा के लिये प्राण दिये इस कारण वह मर कर देव हुआ और सिंह ने मुनि को मार कर खाने के भाव से प्राणों को छोड़ा इस कारण वह नरक गया।

इस तरह रत्नत्रय के भण्डार, शान्ति के पुञ्ज, परम दयालु मुनि महाराज पर आये हुए उपसर्ग को मिटाने के लिये यदि अपने प्राण भी अर्पण करने पड़ें तो धार्मिक पुरुष को उसमे भी पीछे न हटना चाहिये। साधु समाधि का एक अभिप्राय तो यह है।

दूसरा तात्पर्य समाधिमरण है। वैसे तो यह शरीर संसार में सब से अधिक घृणित अपवित्र पदार्थ है। रक्त, पीप, मांस, चर्बी, हड्डी, मल, मूत्र, कफ आदि सभी गंदे पदार्थ इस शरीर में भरे हुए हैं, यदि शरीर पर चमकदार चमड़े का खोल न चढ़ा हो तो कोई भी व्यक्ति क्षण भर भी इसकी ओर नहीं देख सकता। परन्तु इसी अपवित्र घृणित शरीर में ज्ञान दर्शन सुख आदि गुणों का धनी आत्मा निवास करता है, इस कारण इस शरीर को संसार पूजता है, मानता है, इसका आदर सत्कार होता है, लोग इसको नमस्कार करते है।

शरीर पुद्गलिक है, पुद्गल का स्वभाव पूरण और गलनरूप है तदनुसार शरीर प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है। क्षीण होते होते एक दिन ऐसा आता है कि शरीर का पूरा पतन हो जाता है उस समय आत्मा शरीर को अपने लिये अयोग्य समझ कर छोड़ देता है और नये बने हुये मकान मे जा ठहरता है। इधर आत्मा के बाहर निकलते ही शरीर अग्नि में भस्म कर दिया जाता है। क्योंकि आत्मा के निकलते ही उसका रूप रंग भयानक हो जाता है, उसमें से बहुत दुर्गन्ध आने लगती है।

इस तरह से कभी शरीर का जन्म होता है और कभी उसका मरण भी अवश्य होता है। शरीर की जीवित अवस्था में आत्मा भगवान् के दर्शन पूजन स्तवन करके, गुरु-वन्दना, गुरु उपदेश श्रवण करके, शास्त्र-स्वाध्याय करके, दान देकर, अनेक पुण्यकर्म उपार्जन करता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, क्षमा, शान्ति, धैर्य आदि अनेक सद्गुणों का विकास करता है। सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र रूप रत्नत्रय का संचय करता है। 'शरीर छोड़ते समय आत्मा की यह सब निधि उससे न छूट जावे' इस बात का विचार विचारशील मनुष्य अवश्य किया करते हैं।

यदि किसी मकान मे आग लगे तो पहले तो उस आग को बुझाने का उपाय किया जाता है, यदि आग बुझती हुई न दीखे तो उस समय मकान मे रक्खी हुई रत्न, सुवर्ण, चांदी आदि निधि को सुरक्षित निकाल लेने का प्रयत्न किया जाता है जिससे वह धन-भंडार अग्नि में नष्ट होने से बच जावे।

इसी तरह जब किसी रोग ने शरीर को आघेरा हो तब पहले तो उस रोग को शान्त करने के लिये अनेक उपचार किये जाते हैं, यदि औषध चिकित्सा से शरीर बचता न दीखे, अथवा अकस्मात् (अचानक) पानी में डूबने, आग में जलने या अन्य किसी दुर्घटना से शरीर छूटता हुआ दीखे उस समय बुद्धिमान् पुरुष को शरीर की ओर से दृष्टि हटाकर आत्मा की ओर ध्यान देना चाहिये। आत्मा में अशान्ति आकुलता, शोक, राग, मोह, ममता आदि के दुर्भाव विकाररूप परिणाम न जागृत होने पावें, शान्ति, क्षमा, ज्ञान, वैराग्य बना रहे, मुख से भगवान् का नाम निकल रहा हो, मन में भी भगवान् का चिन्तवन हो रहा हो, ऐसी व्यवस्था बुद्धिमान पुरुष बना लेते हैं।

इसका एक विशेष कारण यह है कि मृत्यु समय प्रायः आगामी भव की आयु बँधा करती है, अतः 'अन्त मति सो गति' यानी—मरण समय जैसे भाव होंगे वैसी ही गति मिलेगी।' यह कहावत

सत्य है। इस लिए मरण के समय भोजन पान कम करते हुए अन्त में सब कुछ खाना पीना छोड़ दे, शरीर पुत्र स्त्री भ्राता माता मित्र आदि से मोह ममता तोड़कर तथा शत्रु से द्वेष भाव त्याग करके भगवान् का ध्यान करते हुए शान्ति के साथ शरीर छोड़े जिससे अच्छी गति प्राप्त हो। इसी का नाम साधुसमाधि या समाधिमरण है।

वैसे तो संसार में अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए अनेक मित्र बन जाते हैं परन्तु सच्चा मित्र वही है जो कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग पर लगावे, अपने मित्र का अपयश न होने दे, अपने मित्र को पाप-पंक में न फंसने दे, अपने मित्र का पतन न होने दे, विपत्ति के समय अपने मित्र का साथ दे।

नीति शास्त्र में बतलाया है—

पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यं निगूहयति गुणान् प्रकटी करोति।
आपद्गतं न जहाति ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥

यानी—सच्चे मित्र के ये लक्षण हैं—जो अपने मित्र को पाप मार्ग से हटाता हो, हितमार्ग में लगाता हो, गुप्त बात को प्रगट न करे, मित्र के गुणों को प्रगट करे, आपत्ति के समय मित्र का साथ न छोड़े और आवश्यकता पड़ने पर सहायता प्रदान करे।

जीवित दशा में जब कि मनुष्य के हाथ पैर चलते हैं, शरीर काम करता है, उस समय कदाचित् मित्र की सहायता प्राप्त न होवे, तो उतनी हानि नहीं है जितनी कि मृत्यु निकट आने पर सहायता न मिलने से हानि होती है, अतः सच्चे मित्र को अपने मित्र के समाधिमरण में पूर्ण सहायता प्रदान करनी चाहिये। समाधि मरण कराने-जैसा उपकार जीव का और कोई नहीं है।

मुनि यदि किसी तीर्थ क्षेत्र की ओर विहार कर रहे हों, मार्ग में उनको कोई व्यक्ति समाधि मरण का इच्छुक मरणासन्न प्रतीत हो तो वे अपना विहार भी रोक करके पहले उस मृत्यु के निकट पहुँचे हुए व्यक्ति का समाधि पूर्वक मरण कराते हैं। उसको आत्महितकारी उपदेश देकर उसके चित्त में शान्ति, वैराग्य, आत्म भावना उत्पन्न करते हैं। उसके मन से सांसारिक मोह दूर कराने की चेष्टा करते हैं। उसके हृदय में धर्म का अंकुर उत्पन्न करते हैं, उसको णमोकार मन्त्र सुनाते हैं। हर तरह से उसके भाव निर्मल करने का प्रयत्न करते है, जिस से उसको शुभ आयु का बन्ध होकर शुभ गति प्राप्त हो।

जीवन्धर कुमार ने एक मरणोन्मुख कुत्ते को णमोकार मन्त्र सुनाया, कुत्ते ने शान्ति से णमोकार मन्त्र सुना, तत्काल उसके देव आयु का बन्ध होकर वह पशुपर्याय त्याग कर देव हो गया। भगवान् पार्श्वनाथ ने जले हुए नाग नागिनी का अन्त समय देखकर उनको समाधिमरण कराया जिससे वे मरकर धरणीन्द्र पद्मावती देव देवी हो गये।

इस तरह समाधिमरण में सहायक होना महान् उपकार है, अतः अपने मित्र को शुभ गवि प्राप्त

कराने के लिये समाधिमरण में अपने मित्र को अवश्य सहायता देनी चाहिये। मरते समय मनुष्य न बोल सकता है, न कुछ पाठ स्मरण कर सकता है इस लिये उसके हितैषी मित्रों का प्रधान कर्तव्य है कि उस समय उसको वैराग्यवर्द्धक श्लोक, पद्य, गद्य पाठ सुनावें।

प्रवचन नं० १००

स्थान— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली। तिथि— द्वितीय भाद्रपद कृष्णा १२ मंगलवार, १३ सितम्बर १९५५

वैयावृत्य

रोगग्रस्त, वृद्ध, थके हुए, बालक, मुनि, त्यागी व्रती की सेवा करना वैयावृत्य है।

मनमें जब धर्म-अनुराग जाग्रत होता है, अहिंसा और करुणा भाव जब लहराने लगता है, तब आत्मा किसी साधु मुनि आदि व्रती त्यागी की सेवा शुश्रूषा करने के लिये तत्पर होता है, उस समय यह उत्कट भावना होती है कि 'यह व्याधिग्रस्त व्रती स्वस्थ हो जावे' ऐसी पवित्र भावना के साथ सेवा में तत्पर होता है।

वैसे सेवावृत्ति प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि उसमें सेवा करके उसके बदले में रुपया पैसा वस्त्र आदि कोई पदार्थ लिया जाता है, वहां उपकार बुद्धि न होकर लोभमयी स्वार्थबुद्धि काम करती है। इसी लिये लोभी डाक्टर किसी की चिकित्सा (इलाज) करके रोगी की कुछ सेवा तो करता है परन्तु उसका ध्यान अपनी फीस की तरफ अधिक होता है। अनेक लोभी डाक्टर तो यहां तक विचार करते रहते हैं कि संसार में रोग बीमारियां खूब फैलें जिससे हमारा व्यापार चले। कई डाक्टर तो इलाज करते हुए यह भावना रखते हैं कि यह रोगी जल्दी स्वस्थ (तन्दुरुस्त) न हो जिससे कि अधिक दिनों तक मेरा स्वार्थ सधता रहे। इस स्वार्थ भावना के कारण उस डाक्टर की वह सेवा 'सेवावृत्ति' है, 'सेवाधर्म' नहीं है।

अपने छोटे बच्चों की टट्टी माता भी उठाती है और भंगी भी टट्टी साफ करता है, इस तरह टट्टी साफ करने की क्रिया दोनों की एक जैसी है किन्तु माता की सेवा पवित्र सेवाधर्म है, जब कि भंगी की सेवा सेवावृत्ति है। माता की सेवा अमूल्य है, चिरस्मरणीय है, प्रशंसनीय है, जब कि मेहतर अपनी सेवा का मूल्य लेकर प्रशंसा नहीं पाता।

इसका कारण यही है कि सेवाधर्म में परिणाम बहुत निर्मल उदार और निःस्पृह होते हैं जब कि सेवावृत्ति नौकरी के रूप में की जाती है। सेवा का उत्तम फल प्राप्त करने के लिये सेवा निःस्वार्थ भाव से करनी चाहिये, जिस सेवा में जरा भी स्वार्थ की भावना प्रगट हुई कि उस सेवा का महत्व जाता रहा।

तदनुसार यदि कोई व्रती त्यागी मुनि बीमार हो जाये तो उनकी प्रासुक चिकित्सा कराने का तुरन्त प्रबन्ध कर देना चाहिये, सेवा का जो कार्य स्वयं अपने हाथ से हो सकता हो उसे स्वयं अपने हाथ

से करे, जो सेवा किसी अन्य वैद्य आदि के द्वारा कराई जा सकती हो उसको उसके द्वारा करावे, यदि कोई औषधि देना आवश्यक हो तो वह शुद्ध रूप मे आहार के साथ दे देवे। जो औषध शरीर से लगाने की हो उसे शरीर से लगावे। इसके सिवाय उनका शिर दबाने, पैर दबाने आदि की जो भी सेवा हो उसे स्वयं अपने-हाथ से बड़ी भक्ति के साथ करे जिससे उसकी व्याधि शान्त हो जावे और वे अपने चारित्र-पालन तथा धर्म प्रचार में तत्पर हो सकें।

सेवा करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि ऐसा कोई कार्य न होना चाहिये जिससे उनकी चर्या में दूषण लगे, उनके व्रत, त्याग के अनुरूप ही उनकी चिकित्सा, औषधि और सेवा होनी चाहिये।

दीन दुखी की सेवा

बहुत से दीन दुःखी मनुष्य समय पर सहायता न मिलने से या तो अकाल में ही मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं अथवा पीड़ा से छटपटाते रहते हैं, अथवा कोई बड़ा भारी अनर्थ कर डालते हैं।

कुत्ती जिस समय बच्चे देती है उस समय उसको बहुत भारी भूख लगती है यदि उस समय उसको खाने के लिये रोटी न मिले तो वह अपने ही बच्चों को खा लेती है। इसी तरह भूखी माता अपने छोटे दुध मुंहे बच्चे को भी छोड़ कर भोजन की तलाश में चल देती है। ऐसे समय में सब से बड़ी सेवा यही है, कि उसको भोजन दिया जावे।

यदि कोई गरीब आदमी सर्दी में ठिठुरता हो तो उस समय उसको कपड़ा दे देना, उसकी ठंडक दूर करना बड़ी अमूल्य सेवा है। अगर कोई निर्धन व्यक्ति या उसका बच्चा, स्त्री बीमार हो तो दयालु धार्मिक पुरुष का कर्तव्य है कि उसको जाकर दवा देवे, वैद्य को दिखा दे, इसके सिवाय उसका दुःख दूर करने के लिये और भी जिस सेवा की आवश्यकता हो उसको स्वयं अपने हाथ से करे।

दीन दुखी व्यक्ति की सेवा करने के बराबर कोई अहिंसा धर्म नहीं है। दीन दुःखी जीव का जो शुभ आशीर्वाद होता है वह बड़ा महत्वपूर्ण होता है, इसलिये दीन दरिद्रों की सेवा करके उनकी आशीष लेनी चाहिए।

एक गरीब ब्राह्मण परिवार को कठिनाई से तीसरे दिन भोजन मिला, वे सब तीन दिन के भूखे थे, जब भोजन करने के बैठे तो उसी समय एक ८ दिन का भूखा भिखारी आगया, उसने दीन स्वर में कहा कि मै ८ दिन का भूखा हूँ मुझे कुछ खाने को भोजन दो। ब्राह्मण ने दया में आकर अपना भोजन उसको खिला दिया कि भाई! हम तो केवल ३ ही दिन से भूखे हैं तू तो आठ दिन का भूखा है, तू खा ले। उसी समय उसकेघर के सामने से एक न्योला निकला, तो उस ब्राह्मण के घर की कीचड़ में जाने से ही उसके पेट के बाल सुनहरी हो गये। उसी समय यह न्यौला भाग कर उस नगर के राजा के यहां गया जहां कि राजा एक हजार ब्राह्मणों को भोजन करा रहा था। उसके घर के सामने वह न्यौला बिखरे हुए पानी में बहुतेरा लेटा किन्तु उसका एक बाल भी सुनहरा न हो पाया। तब उस न्यौले ने राजा से कहा कि तूने एक हजार ब्राह्मणों को भी भोजन करा कर उतना पुण्य उपार्जन नहीं किया है जितना कि उस गरीब ब्राह्मण ने केवल एक भिखारी की सेवा से पुण्य कमाया है।

कभी ऐसा अवसर भी होता है कि मनुष्य स्वयं सेवा करने योग्य नहीं होता, उस समय उसको दूसरे व्यक्ति को उत्साहित करके वह सेवा कार्य करा देना चाहिये। यदि किसी कारण से ऐसा भी न हो सके तो अपने हृदय मे उसके दुःख दूर होने की भावना करनी चाहिये।

सेवा केवल धन से या शरीर से ही नहीं होती मन और वचन से भी होती है। मीठे वचनों से दूसरे दुखी जीव को समझाना, उसको सान्त्वना देना, उसका हृदय शान्त करना, उसे दुःख छूटने का मार्ग बताना आदि भी अच्छी उपयोगी सेवा है। मन की सहानुभूति भी सेवा का एक अग है।

इस तरह मन, वचन, काय तथा धन से दूसरों की सेवा करनी चाहिये, स्वयं न कर सके तो अन्य से करा देनी चाहिये, यदि ऐसा भी न हो सके तो अनुमोदना करनी चाहिये। यानी—जिस तरह भी हो, सेवा-कार्य में हाथ बटाना चाहिये। सेवा करके उसका बदला लेशमात्र भी न मांगना चाहिये।

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

यानी—सेवा धम बड़ा रहस्य मय गूढ़ है इसका पूरा रहस्य बड़े बड़े योगियों को भी मालम नहीं हो पाता।

कोई समय था जब कि दाता बहुत होते थे, दुखी जनता जिसकी सेवा की जावे, बहुत कम दिखाई देती थी। भरत चक्रवर्ती के पास छह खण्ड रूप समग्र भरत क्षेत्र विजय कर लेने के अनन्तर प्रचुर अपरिमित सम्पत्ति एकत्र हो गई, तब विरक्ति शील भरत ने विचार किया कि "मै इस सम्पत्ति का क्या सदुपयोग करूं ? जो व्यक्ति घर परिवार तथा विषय भोगों से विरक्त होकर साधु दीक्षा ले चुके हैं उनको तो धन-सम्पत्ति की कुछ आवश्यकता नहीं है, उनको तो केवल थोड़ा सा भोजन चाहिये जो कि उनको सब कहीं गृहस्थों के घर से मिल ही जाता है। और जो लोग गृहस्थ हैं वे अपनी अपनी आजीविका के साधनों से धन-उपार्जन कर ही रहे हैं, कोई मनुष्य निकम्मा दीन दुखी दरिद्र दिखाई नहीं देता, जिसको कि इस सम्पत्ति द्वारा कुछ सहायता प्रदान करूं। फिर इस संचित परिग्रह का क्या करूं ?"

तब चक्रवर्ती भरत सम्राट् ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की। उस वर्ण की आजीविका का प्रबन्ध अपनी (राज्य की) ओर से किया और उन ब्राह्मणों को धार्मिक प्रचार, विद्याप्रचाररूप जन सेवा के काय पर नियुक्त कर दिया।

परन्तु दुर्भाग्य से आज-समय उससे उलटा हो गया है, इस युग में दीन-दुखी स्त्री पुरुषों की संख्या इतनी अधिक हो गई है कि उनकी सहायता करने वाले दाता खोजने पर भी नहीं मिलते, जो मिलते हैं उनकी दान शक्ति बहुत सीमित होती है, इसके सिवाय बनावटी (कृत्रिम) दुखी व्यक्ति बहुत से निकल पड़े हैं जिन्होंने अनेक तरह से अपनी दयनीय दशा बना कर अपनी ओर उदार दयालु चित्त व्यक्तियों का हृदय आकर्षित करने के लिये अपने अनेक कुत्सित रूप बनाकर भिक्षा मांगना प्रारम्भ कर दिया है कोई गोशाला के नाम से, कोई मदिर के नाम पर तो कोई अनाथालय का नाम लेकर लोगों से द्रव्य एकत्र करने के लिये निकल पड़े है, जिससे कि वास्तविक दुखी व्यक्ति का समझना बहुत कठिन हो गया है।

फिर भी सच्ची दुखी जनता भी इस समय काफी है। इस भयानक कलियुग में दुखी जनता में ५ बातें साथ साथ दिखाई दे रही हैं—

सहोदयव्ययाः पंच दारिद्र्यस्याः नु जीविनः।
ऋणं दौर्भाग्यमालस्यं बुभुक्षाऽपत्यसन्ततिः॥

यानी—दरिद्रता के साथ ही पांच विपत्तियां मनुष्य के ऊपर और आ टूटती हैं—१—ऋण, (कर्जा) अपने परिवार के पालन पोषण, वस्त्र आदि के लिये गरीबों को कर्जदार तो बनना ही पड़ता है। २—दुर्भाग्य—गरीब मनुष्य दरिद्र दुर्भाग्य के कारण तो होता ही है किंतु फिर भी उसको कुछ सहायता दी जाती है तो दुर्भाग्य उससे भी अनेक विघ्न खड़े कर देता है। ३—आलस्य—दरिद्रताके साथ आलस्य भी अवश्य आता है, यदि आलस्य न हो तो दरिद्रता रहे कैसे ? उद्योगी कार्य न रहने से दरिद्रता और अधिक पनपती है। ४—भूख—दरिद्र व्यक्ति पेट भर भोजन न मिलने से प्रायः भूखा रहता है, इसके सिवाय गरीबी के समय,भूख सर्व साधारण जनता की अपेक्षा और अधिक भी लगती है। तथा ५—सन्तान की अधिकता—दरिद्र मनुष्य को जब अपना ही पेट भरना कठिन होता है तब दुर्भाग्य से उसके बाल बच्चे भी अधिक उत्पन्न होते है जिससे कि उसकी दरिद्रता में और भी अधिक वृद्धि होती जाती है। सारांश यह है कि दुखी मनुष्य का दुःख बढ़ाने के लिये और भी अनेक साधन अपने आप आकर जुड़ जाते हैं।

अनेक स्त्रियां अनेक पुत्र पुत्रियों के रहते गरीबी की दशा मे विधवा हो जाती हैं, अनेक गरीब लड़के लड़कियां माता पिता के मर जाने से अनाथ हो जाते हैं, अनेक व्यक्ति किसी रोग या दुर्घटना के कारण निकम्मे बन कर परमुखापेक्षी बन जाते है। अनेक स्त्रियों को उनके पति कुरूपता या बांझ होने के कारण निराश्रित छोड़ देते हैं, बहुत से बच्चों को सौतेली मां घर मे नहीं रहने देती। इस तरह आज कल संसार में अनेक तरह के कष्ट स्त्री पुरुषो पर आ रहे हैं।

आये हुए दुःखो से छुटकारा पाने के लिये बहुत से अपना धर्म कर्म छोड़ कर ईसाई आदि बन जाते हैं। बहुत सी स्त्रियां दुराचारिणी, वेश्या आदि बन जाती है, बहुत से आत्म हत्या कर लेते हैं, बहुतों को भीख मांगनी पड़ती है।

इस दशा में समाज-हितैषी पुरुषो का काम है कि ऐसे दीन दुःखी अनाथ, विधवा, अपांग स्त्री पुरुषों, बाल बच्चों की सेवा करने के लिये उनको अपने पैरों पर खड़ा करने के लिये समुचित सफल स्थायी प्रबन्ध करें।

औषधालय, अनाथालय, विधवाश्रम आदि की स्थापना करें और ऐसी संस्थाओ को ऐसे अच्छे ढंग से चलावें कि उनके चलाने के लिये द्रव्य मांगने की आवश्यकता न पड़े, उस संस्था के आदर्श कार्य से आकर्षित होकर जनता उस संस्था को स्वयं सहायता प्रदान करे।

तथा श्री-कर्वे ने जैसे महिलाश्रम चलाया है, उस तरह अपने आप अपना खर्च पूरा करने की क्षमता रखने वाली संस्थाओं की कार्य प्रणाली बनावें जिससे हस्त शिल्प आदि के कारण उस संस्था के उत्पादन से ही उस संस्था का सारा खर्च चलता रहे और उस संस्था में रहने वाले बच्चे, स्त्रियां अपनी आजीविका स्वयं चलाने योग्य शिल्पकला सीख ले।

ऐसे 'सेवामंडल' बनाने चाहिये जिनके द्वारा असहाय, निराश्रित, दु.खी, पीड़ित स्त्री पुरुषों को तन, मन, धन से सहायता पहुंचती रहे। जो व्यक्ति निर्धन होते हुए भी समाज में सन्मान से रहते हों, जो प्रगट में किसी की सहायता लेना अपने सन्मान के विरुद्ध समझते हों ऐसे सफेदपोश स्त्री पुरुषों को गुप्त रूप से सहायता प्रदान करनी चाहिये। सदा ऐसी पुनीत भावना रखनी चाहिये कि—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु कश्चिन्या दुःभाग्भवेत्॥

यानी—ससार के सभी जीव सुखी, नीरोग प्रसन्न हों, कोई भी दुःखी न हो।

प्रवचन नं० १०१

स्थान— श्री दिगम्बर जैन मंदिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि— द्वितीय भाद्रपद कृष्णा १३ बुधवार, १४ सितम्बर १९५५

अर्हन्त-भक्ति

चार घाति कर्म-रहित अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त बल संयुक्त जीवन्मुक्त अर्हन्त परमेष्ठी होते हैं, उन अर्हन्त परमेष्ठी की भक्ति करना अर्हन्तभक्ति भावना है।

यदि सूर्य न हो तो संसार में अन्धकार बना रहे, प्रकाश न हो। इसी तरह यदि अर्हन्त भगवान् न हों तो संसार में ज्ञान का प्रकाश न हो, और अज्ञान अन्धकार, मोह अन्धकार ससारी जीवों के आत्मा से दूर न हो सके। अर्हन्त भगवान् ने अपने तपोबल से आत्मा के सब से अधिक अहित करनेवाले घातिया कर्मों को क्षय किया, तभी वे पूर्णज्ञानी, पूर्णसुखी, अन्त शक्तिशाली और पूर्ण वीतराग बन गये। उस समय उन्होंने समस्त तत्वज्ञान, आत्मा को संसार जाल से छूटने का उपाय प्रतिपादन किया। सिद्ध भगवान आत्मशुद्धि में अधिक है किन्तु लोक-कल्याण में उनसे अधिक अर्हन्त हैं अतः वे पहले परमेष्ठी हैं।

वे पूर्ण ज्ञानी थे, इसलिये उनके जानने में कुछ गलती न थी और उनको रंचमात्र भी किसी के साथ न राग था, न द्वेष था, इस कारण निःस्पृह भाव से दिये गये उनके उपदेश मे कुछ विकार न था।

वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी होने के कारण वे समस्त ससार के पूज्य देव बन गये। ये तीनों विशेषताए संसार के किसी अन्य देव में नहीं पाई जाती। इसी कारण कोई स्त्री-प्रेमवश अपने साथ स्त्री रखता है और कोई अपने शत्रु को मारने के लिये अपने साथ तलवार, भाला, गदा, धनुष आदि हथियार लिये हुए है। ऐसे देवों की आराधना से आत्मा में राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, भय आदि की शिक्षा आराधक को मिल सकती है। राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि भाव संसारचक्र में ही डाले रखते है। अतः संसार से छूटकर अजर अमर बनने के लिये तो वैसा ही देव उपयोगी हो सकता है जो राग, द्वेष, क्रोध आदि से मुक्त हो, ऐसे देव तो अर्हन्त ही है। अतः जो ससार जाल से छूटकर अजर अमर बनना चाहे वह अर्हन्त भगवान् की आराधना करे।

श्री रामचन्द्र जी ने संसार से विरक्त होकर 'जिनेन्द्र' (अर्हन्त) की तरह अपनी आत्मा में शान्ति पाने की इच्छा प्रगट की, यह बात योगवाशिष्ठ के निम्नलिखित श्लोक से प्रगट होती है।

नाहं रामो न मे वांछा, विषयेषु च न मे मनः,
शान्ति प्राप्तुमिच्छामि स्वात्मन्येव 'जिनो' यथा।

इसके सिवाय संसार के जितने भी अन्य देव हैं वे अपने भक्त (सेवक) को सदा सेवक ही बनाये रखते हैं, कभी अपने समान नहीं बनाते। परन्तु अर्हन्त भगवान् की जो व्यक्ति सेवा भक्ति करता है वह कुछ समय बाद खुद अर्हन्त परमात्मा बन जाता है। यानी—अर्हन्त देव अपने भक्त को अपने-जैसा भगवान् बना देता है।

इस में भी विशेषता यह है कि अर्हन्त देव स्वयं ऐसा करता नहीं। यदि कोई मनुष्य अर्हन्त भगवान की निन्दा करे तो उससे अप्रसन्न (नाराज) होकर उस निन्दक का कुछ अहित (बुरा) नहीं करता और न अपनी भक्ति पूजा स्तुति करने वाले पर प्रसन्न होकर उसको कुछ पारितोषिक देता है क्योंकि वह तो पूर्ण वीतराग है। ऐसा होते हुए भी अर्हन्त भगवान् की निन्दा करने वाला व्यक्ति अपने बुरे परिणामों से अशुभकर्म बांध लेता है, जिससे उसको महान् संकट दुःख प्राप्त होता है और भक्ति करने वाला शुभ कर्म का उपार्जन करता है, इस कारण उसको सब तरह की सुख सामग्री स्वयमेव मिल जाती है। ऐसा अपूर्व महत्व संसार में और किसी देव में नहीं मिलता।

इस कारण सुख प्राप्त करने के लिये अर्हन्त भगवान् की भक्ति अवश्य करनी चाहिये क्योंकि जो जैसा बनना चाहता है वह वैसे ही व्यक्ति की सेवा भक्ति करता है और भक्ति करते करते वैसा ही बन जाता है। विद्या लेने के लिये विद्यागुरु की भक्ति की जाती है और जौहरी बनने के लिये जौहरी की सेवा की जाती है। तदनुसार अनन्त सुखी अनन्त ज्ञानी बनने के लिये अर्हन्त भगवान् की भक्ति आवश्यक है।

जैसे सिंह का ज्ञान कराने के लिये सिंह की मूर्ति से काम लिया जाता है, उसकी मूर्ति से बच्चों को सिंह की सारी बातें बतलादी जाती हैं, इसी तरह अर्हन्त भगवान् के पूर्णमुक्त (सिद्ध) हो जाने पर अर्हन्त भगवान् का बोध उनकी प्रतिमा से होता है। अर्हन्त भगवान् जिस तरह पूर्ण शान्त वीतराग थे ठीक वही बात उनकी प्रतिमा से प्रगट होती है। अर्हन्त प्रतिमा के मुख और नेत्रों से यह बात प्रगट होती है कि न इसको किसी पर क्रोध है, न अभिमान। अर्हन्त जिस तरह निर्भय निर्विकार वीतराग थे, वही मूक शिक्षा अर्हन्त भगवान् की मूर्ति से प्राप्त होती है। धीरता गम्भीरता का प्रभाव भी अर्हन्त की मूर्ति के दर्शन से आत्मा पर पड़ता है।

सारांश यह है कि अर्हन्त भगवान् की मूर्ति पर न कुछ भूषण है, न वस्त्र हैं, न कोई शस्त्र। स्वात्मलीनता तथा संसार से विरक्ति उस मूर्ति से झलकती है, दर्शन करते ही आत्मा में शान्ति की छाया पड़ती है, अतः निरञ्जन निर्विकार निर्भय बनने के लिये अर्हन्त प्रतिमा का दर्शन करना चाहिये।

जिस तरह किसी वेश्या का चित्र देखते ही आत्मा में कामवासना जाग उठती है और किसी

वीर पहलवान शूर योद्धा की मूर्ति देखते ही वीरता के भाव जाग्रत हो उठते हैं। देशभक्त धर्मात्मा का चित्र देखने पर मन में देशभक्ति और धर्म आचरण की लहर लहराने लगती है। इसी तरह अर्हन्त भगवान् की मूर्ति का दर्शन करने से वीतराग, शान्त भावना जाग्रत हो उठती है। संसार की मोहमाया से विराग भाव पैदा होने लगता है।

सिनेमा में स्त्री पुरुषों के नाटक के चित्र हैं, इस तरह फिल्म जड़ अचेतन वस्तु है किन्तु उसको देखने से दर्शकों के हृदय पर उस अजीव जड़ चित्र का कैसा गहरा असर पड़ता है। देखने वालों का चित्त कभी करुणाजनक नजारा देखकर करुणा से भर जाता है, कभी सिनेमा देखने वाले स्त्री पुरुष उन जड़ चित्रों को देखकर रोने लगते हैं, तो कभी हास्यजनक दृश्य से हसने लगते हैं। सिनेमा देखकर ही लड़ना, भिड़ना, चोरी करना आदि भी सीख लेते है।

इसी तरह अर्हन्त भगवान् की प्रतिमा वास्तव में अजीव जड़ पदार्थ होते हुए भी अपने दर्शक के हृदय पर अपनी शान्ति वीतरागता की छाप लगा ही देती है।

अर्हन्त भगवान् के दर्शन पूजा भक्ति से शान्ति वैराग्य प्राप्त होता है, आत्मा को आनन्द और तृप्ति इसी से मिला करती है, इसके साथ अतिशय पुण्य कर्म का समागम भी होता है जिस से कि स्वर्ग राज्य आदि सासारिक विभूति स्वयं मिल जाती हैं। इस कारण अर्हन्त भगवान् की भक्ति करके किसी सांसारिक वस्तु की इच्छा नहीं करनी चाहिये।

अर्हन्त भगवान् की भक्ति से तो अनन्त अविनाशी मुक्ति सुख पाने का उद्देश्य रखना चाहिये। संसार सुख तो अपने आप मिल ही जाता है। इस तरह अर्हन्त प्रतिमा को साक्षात् अर्हन्त भगवान् मान कर दर्शन पूजन भक्ति बड़े उत्साह के साथ सदा करना चाहिये तथा उनका ध्यान करना चाहिये। यह अर्हन्त भक्ति है।

इस युग की अपेक्षा श्री ऋषभनाथ भगवान् सबसे पहले अर्हन्त भगवान् हुए हैं, उन्होंने ही कैवल्य प्राप्त करके अर्हन्त अवस्था में सबसे प्रथम ससार के प्राणियों को मुक्ति मार्ग का उपदेश दिया था।

वैष्णव सम्प्रदाय में ईश्वर के २४ अवतार माने गये हैं उन में से भगवान् ऋषभनाथ को छठे अवतार के रूप में माना गया है। भागवत् पुराण में भगवान् ऋषभनाथ का वृतान्त जैन ग्रन्थों से मिलता जुलता लिखा हुआ है।

वैष्णव सम्प्रदाय मे एक बाल ब्रह्मचारी, परम तपस्वी, नग्न दिगम्बर 'शुकदेव जी, नामक साधु हुए हैं, उन्होने ईश्वर के २४ अवतारों में से केवल 'ऋषभ अवतार' को नमस्कार किया है।

जब लोगों ने श्री शुकदेव जी से इसका कारण पूछी कि आप अन्य अवतारों को नमस्कार क्यों नहीं करते ? तब उन्होंने बड़ी गम्भीरता के साथ उत्तर दिया कि—

'अन्य अवतारों ने संसार का मार्ग चलाया है, ऋषभदेव जी ने मुक्ति का मार्ग चलाया है, इस लिये मुक्ति की इच्छा से मैं ऋषभदेव जी को ही नमस्कार करता हूं।'

जो स्त्री पुरुष संसार सागर से पार होना चाहते हैं, कर्मबंधन काट कर सदा के लिये पूर्ण स्वतंत्र होना चाहते हैं, उनको संसार सागर से पारगामी, घाति कर्मबन्धन से मुक्त, मुक्ति-मार्ग के प्रदर्शक, परम-शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन, निर्विकार, सच्चिदानन्द अर्हन्त परमात्मा का श्रद्धालु भक्त बनना चाहिये।

इस कारण अर्हन्त भगवान् की भक्ति क्रमशः भक्त को एक दिन भगवान् बनाने का सुगम साधन है। उसके द्वारा तीर्थंकर बंध बँध जावे, इस में तो आश्चर्य ही क्या है ?

प्रवचन नं० १०२

स्थान— तिथि—

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली। द्वितीय भाद्रपद कृष्णा १४ बृहस्पतवार, १५ सितम्बर १९५५

आचार्य-भक्ति

साधु संघ के अधिनायक आचार्य कहलाते हैं, वे गुरुओं में मुख्य होते हैं उनकी भक्ति करना 'आचार्य भक्ति है'।

'आचार्य' एक पद है जो कि मुनि संघ के सबसे अधिक तपस्वी, अनुभवी, देश क्षेत्र काल भाव के ज्ञाता, पांच आचारों के पालक, प्रायश्चित शास्त्र के जानकार महान् मुनि को समस्त मुनियों की अनुमति से प्रदान किया जाता है। संघ के समस्त मुनि आचार्य की आज्ञानुसार चर्या करते हैं। नवीन मुनि-दीक्षा आचार्य ही देते हैं। मुनि जन आचार्य महाराज के समक्ष अपने दोषों की आलोचना करते हैं और उनको उनकी शक्ति-अनुसार प्रायश्चित भी आचार्य ही देते हैं। इसके सिवाय संघ में यदि कोई साधु बीमार हो जाय तो उसकी वैयावृत्य (सेवा) का प्रबन्ध भी आचार्य ही करते हैं। द्रव्य क्षेत्र काल भाव का अनुमान करके आचार्य ही अपने मुनि संघ को किसी स्थान पर ठहरने और कितने समय ठहरने तथा वहां से कब और किस ओर विहार करने का आदेश देते हैं। यदि किसी स्थान पर संघ के ऊपर आता हुआ कोई भीषण उपद्रव देखते हैं तो उस समय मुनि संघ में उस उपद्रव के समय समस्त मुनियों का कर्तव्य निर्द्धारण भी आचार्य ही करते हैं। तथा किसी मुनि को संघ से निकालना, किसी को अपने संघ में सम्मिलित करना भी आचार्य के ही अधिकार की बात है। यदि कोई मुनि समाधिमरण ग्रहण करना चाहे तो आचार्य महाराज ही उसकी शारीरिक योग्यता, उसकी परिषह सहन करने की क्षमता तथा उसके स्वास्थ्य आदि बातों का विचार करके उसको समाधिमरण की अनुमति देते हैं।

इस तरह आचार्य अपने मुनि संघ के नायक होते हैं। जिस तरह बिना नायक के घर की व्यवस्था, समाज की दशा और देश की अवस्था बिगड़ जाती है, छिन्न भिन्न हो जाती है, उसी तरह बिना आचार्य के मुनिसंघ में भी अनेक तरह की विषम समस्याएं आ खड़ी होती हैं उन्हें सुलझाकर पथ-प्रदर्शन करने के लिये मुनिसघ का नायक होना परम आवश्यक है।

आचार्य महाराज को मुनिसंघ की व्यवस्था के लिये अपना बहुतसा अमूल्य समय देना पड़ता

है जिसको कि वे आत्मध्यान, स्वाध्याय आदि स्वार्थ (आत्मशुद्धि) साधन मे लगा सकते हैं, इसके सिवाय नायक होने के कारण उनको अपने संघ के साधुओ की व्यवस्था के लिये थोड़ा बहुत चिन्तातुर भी होना पड़ता है जिससे कि राग द्वेष का अंश भी उनको लगा करता है इस कारण आचार्य पद पर रहते हुए उनको मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। वे जब अपने स्थान के योग्य किसी अन्य अनुभवी तपस्वी मुनि को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करके स्वयं साधु के रूप मे आकर निर्द्वन्द्व तपस्या नहीं करते तब तक उनको मुक्ति प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार आचार्य एक पद है जिसको कि किसी सुयोग्य व्यक्ति द्वारा सर्व संघ की अनुमति से परोपकार बुद्धि से ग्रहण किया जाता है और किसी समय आत्म-कल्याण की उत्कट भावना से परित्याग भी किया जाता है।

आचार्य महाराज वैसे तो अन्य साधुओं के समान २८ मूल गुणों का आचरण करते हैं, किन्तु उनके सिवाय उनके ३६ गुण उनमें और भी माने गये हैं। १२ तप, १० धर्म, ५ आचार, ६ आवश्यक और ३ गुप्ति।

६ प्रकार के बहिरंग और ६ प्रकार के अन्तरंग तपों को निर्दोष रूप में आचार्य अन्य मुनियों की अपेक्षा विशेष रूप से आचरण करते हैं।

इसी तरह उत्तम क्षमा आदि १० धर्मों का आचरण भी अन्य साधुओं की अपेक्षा आचार्य का श्रेष्ठ होता है।

छह आवश्यक यद्यपि अन्य मुनि भी पालते हैं, परन्तु आचार्य इनको आदर्श रूप में आचरण करते हैं।

आत्म-शुद्धि की विशेष कारणभूत ३ गुप्तियों का परिपालन भी आचार्य के विशेषता के साथ होता है।

आचार के ५ भेद हैं—१. दर्शनाचार, २. ज्ञानाचार, ३. चारित्राचार, ४. तपाचार, ५ वीर्याचार। इन पांचों आचारों का आचरण आचार्य पद की एक मुख्य विशेषता है। आचार्य नाम भी इन पांच आचारों के आचरण के कारण है।

सम्यग्दर्शन का निर्दोष, दृढ़ता के साथ आचरण करना दर्शनाचार है। सम्यग्दर्शन आत्म-शुद्धि की मूल भूमिका है, यदि इसमें जरा भी शिथिलता आजावे तो आचार्य अन्य साधुओं को मुक्ति-मार्ग पर किस प्रकार चला सकता है, अतः आचार्य का 'दर्शनाचार' आदर्श होता है।

जैन सिद्धान्त का पूर्ण ज्ञान तथा साथ ही अन्य सिद्धान्तों का परिज्ञान, तर्क, व्याकरण, साहित्य आदि का असाधारण ज्ञान होना ज्ञानाचार है। आचार्य महान् ज्ञानी होते हैं, जैन सिद्धान्त की सिद्धि और अन्यमत के खण्डन में अति निपुण होते हैं, अवसर आने पर शास्त्रार्थ करके जैनधर्म की प्रभावना करते है, शास्त्र निर्माण करते हैं। यह सब ज्ञानाचार की विशेषता है।

बारह प्रकार के तपो मे से वे कठोर तप करने के असाधारण अभ्यासी होते हैं। अतः तपाचार भी उनका श्रेष्ठ होता है।

कठोर परिषह, भयानक उपसर्ग सहन करने से, निर्जन भयानक स्थान में ध्यान लगाने से, दुर्द्धर विकट तपस्या करने से तथा और भी विकट परिस्थितियों से वे कतराते नहीं है, सिंह के समान उनकी मनोवृत्ति सदा निर्भय रहती है। इन विशेषताओं के कारण आचार्य में वीर्याचार माना जाता है।

उनका चारित्र निर्दोष होता है। पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति। इस तेरह प्रकार के चारित्र का जैसा अच्छा आचरण आचार्य महाराज के होता है, उतना अच्छा आचरण संघ के अन्य किसी साधु का नहीं होता। यही उनका चारित्राचार है।

गुरु के तीन भेद हैं—आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनमें आत्म-शुद्धि के साधन की दृष्टि से देखा जाय तो साधु श्रेष्ठ होते है क्योंकि ये समस्त संकल्प विकल्प से मुक्त होकर आत्मसाधना करते हैं, परन्तु लोक-कल्याण की दृष्टि से विचार किया जावे तो आचार्य का पद सबसे उच्च है। क्योंकि मुनि संघ की सुव्यवस्था करके वे मुनियों का ही नहीं, अपितु संसार का महान् उपकार करते है। अतएव अर्हन्त, सिद्ध भगवान् के बाद आचार्य परमेष्ठी का पद रक्खा गया है।

उन आचार्य महाराज की भक्ति करना आचार्यभक्ति है। अर्हन्त भगवान् के साक्षात् अभाव में मोक्षमार्ग का नेता आचार्य ही तो होता है। उनकी आज्ञा का पालन करना, उनका हृदय से सम्मान करना, उनको ऊंचे आसन पर बैठाना, उनको हाथ जोड़ कर, शिर झुकाकर नमस्कार करना, उनके पीछे-पीछे चलना, उनके आते ही खड़े हो जाना, उनके बैठ जाने पर उनकी अनुमति से बैठना, उनके चरण स्पर्श करना, उनके पैर दबाना, थकावट दूर करने के लिये उनके हाथ पैर, पीठ आदि दबाना आचार्य-भक्ति है।

प्रवचन नं० १०३

स्थान—	तिथि—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।	द्वितीय भाद्रपद कृष्णा १५ शुक्रवार, १६ सितम्बर १६५५

बहुश्रुतभक्ति

उपाध्याय की भक्ति करना बहुश्रुतभक्ति है।

मुनि संघ में आचार्य के पश्चात उपाध्याय का पद होता है। मुनियों में जो सबसे अधिक विद्वान् साधु होते हैं उनको उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है। ये समस्त मुनियों को पढ़ाते हैं। इनके २८ मूल-गुणों के सिवाय ११ अंग, १४ पूर्वों का ज्ञान रूप २५ गुण और भी माने गये हैं। यद्यपि ११ अग १४ पूर्वो का ज्ञान पूर्ण श्रुतज्ञानी को होता है जिनको कि श्रुतकेवली भी कहते हैं, अतः यथार्थ मे पूर्ण श्रुतज्ञानी ही उपाध्याय होने चाहिये किन्तु पूर्ण श्रुतज्ञानी न होने पर भी जो संघ में सबसे अधिक ज्ञानी साधु होते हैं उनको भी उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है।

द्रव्य श्रुतज्ञान के दो भेद हैं। अंग बाह्य, अंग प्रविष्ट।

अंग प्रविष्ट के १२ भेद हैं—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, धर्मकथांग, उपासकाध्ययन, अन्तःकृत्दशाङ्ग, अनुत्तरोपपातिकदशांग, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद।

अंगबाह्य के १४ भेद हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प व्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका।

१—आचारांग में ८ शुद्धि, पांच समिति, ३ गुप्ति, ५ महाव्रत आदि समस्त मुनि आचार का वर्णन है।

२—सूत्रकृतांग में ज्ञानविनय, कल्प्य अकल्प्य, छेदोपस्थापना आदि व्यवहार धर्म की क्रियाओं का वर्णन है।

३—स्थानांग में समस्त द्रव्यों के एक आदि संभाव्य समस्त भेदों का वर्णन है।

४—समवायांग में समस्त पदार्थों की समानता रूप से समवायका विवरण है। जैसे धर्म, अधर्म, द्रव्य तथा प्रत्येक जीव द्रव्य के असंख्यात प्रदेश एक समान होते हैं।

५—व्याख्याप्रज्ञप्ति में 'जीव है या नहीं' इत्यादि ६० हजार प्रश्नों के उत्तरों का विवरण होता है।

६—ज्ञातृकथांग में जीवादि का स्वभाव, तीर्थंकर का महत्व, दिव्यध्वनि का प्रभाव आदि की कथाए, उपकथाएं होती हैं।

७—उपासकाध्ययन में श्रावकों के आचार का विस्तार से वर्णन किया जाता है।

८—अन्तःकृत्दशांग-प्रत्येक तीर्थंकर के समय में महान् उपसर्ग सहन करते हुए जो दश मुनि मुक्ति प्राप्त करते हैं उनकी विस्तृत कथा होती है।

९—अनुत्तरोपपातिक दशांग-प्रत्येक तीर्थंकर के समय में जो १०-१० महान् उपसर्ग सहन करके समाधिमरण से अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होते हैं, उनकी कथाएं होती हैं।

१०—प्रश्नव्याकरणांग में नष्ट, मुष्टि, चिन्ता आदि अनेक प्रकार के प्रश्नों के अनुसार त्रिकाल सम्बन्धी लाभ अलाभ, जीवन मरण आदि आदि फलों का विवरण होता है।

११—विपाक सूत्र में शुभ अशुभ कर्मों के तीव्र मन्द मध्यम आदि अनेक प्रकार के विपाक यानी फल देने रूप अनुभाग का वर्णन विस्तार के साथ होता है।

१२—दृष्टिवादसूत्र में ३६३ मिथ्यामतों का तथा उनके निराकरण का वर्णन होता है।

दृष्टिवाद सूत्र के ५ भेद हैं— १—परिकर्म, २—सूत्र, ३—प्रथमानुयोग, ४—पूर्वगत, और ५—चूलिका।

परिकर्म में गणित के करण सूत्र बतलाये गये हैं। इसके ५ भेद हैं १—चन्द्रप्रज्ञप्ति (चन्द्र के विमान आदि का वर्णन), २—सूर्यप्रज्ञप्ति (सूर्य का विविध वर्णन), ३—जम्बद्वीप प्रज्ञप्ति (जम्बूद्वीप का विस्तृत विवेचन), ४—द्वीपसागर प्रज्ञप्ति (असंख्यात द्वीप समुद्रों का वर्णन) ५—व्याख्याप्रज्ञप्ति (भव्य अभव्य भेद, प्रमाण लक्षण, रूपी अरूपी द्रव्य आदि का वर्णन) सूत्र में ३६३ मिथ्यामतों का मंडन पूर्वक खण्डन का विवरण है। प्रथमानुयोग में ६३ शलाका के महा पुरुषों का वर्णन होता है।

पूर्व के १४ भेद हैं—

१—उत्पादपूर्व में द्रव्यों के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य उनके संयोगी धर्मों का वर्णन है।

२—अग्रायणीयपूर्व में सात सौ सुनय, दुर्नय, पंचास्तिकाय, षट् द्रव्य, सात तत्व आदि का वर्णन है।

३—वीर्यानुवाद में आत्मवीर्य, परवीर्य, कालवीर्य, तपवीर्य, गुणवीर्य आदि वीर्यों का वर्णन है।

४—अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व में स्यादस्ति, स्यान्नास्ति आदि सप्तभङ्गी का विवेचन है।

५—ज्ञानप्रवाद में मतिज्ञान आदिज्ञान, कुज्ञान, प्रमाण, नय का प्रतिपादन किया गया है।

६—सत्यप्रवाद पूर्व में सत्य असत्य भाषा शब्द उच्चारण के स्थान, प्रयत्न, मौन आदि का विस्तार से कथन किया गया है।

७—आत्मप्रवाद पूर्व में आत्मा के विषय में वर्णन है।

८—कर्मप्रवाद में—कर्मों की मूलप्रकृति, उत्तरप्रकृति, बन्ध, सत्ता, उदय, उदीरणा आदि का विवरण है।

९—प्रत्याख्यान पूर्व में सदोष वस्तु के त्याग, उपवास की विधि, समिति, गुप्ति आदि का विस्तार से व्याख्यान है।

१०—विद्यानुवाद में अंगुष्ठप्रसेना आदि सात सौ अल्प विद्या, तथा रोहिणी आदि ५०० महाविद्याओं का, मंत्र, यन्त्र, तन्त्र का, आठ महानिमित्त आदि का विस्तार से विवेचन किया गया है।

११—कल्याणवाद पूर्व मे तीर्थंकरों के पांच कल्याणक, षोडशकारण भावना आदि का वर्णन है।

१२—प्राणवाद पूर्व में शरीर की चिकित्सा आदि आठ प्रकार के आयुर्वेद का, प्राणों के उपकारक अपकारक द्रव्यों का प्रतिपादन किया है।

१३—क्रियाविशाल पूर्व में संगीत, छन्द, अलंकार आदि पुरुषों की ७२ कलाओं का तथा स्त्रियों के ६४ गुणों का, शिल्प आदि का वर्णन है।

१४—त्रिलोकबिन्दुसार में लोक का स्वरूप, ३६ परिकर्म, ८ व्यवहार, चार बीज, मोक्ष आदि का विस्तार से व्याख्यान है।

दृष्टिवाद के पांचवें भेद चूलिका के ५ भेद हैं। १—जलगता (जल स्तम्भन, अग्निस्तम्भन, अग्निभक्षण आदि के मंत्र तंत्र आदि का वर्णन) २—स्थलगता (पर्वत भूमि आदि में प्रवेश करने आदि के मंत्र तत्र आदि) ३—मायागता (इन्द्रजाल जादू सम्बन्धी मंत्र आदि का वर्णन) ४—आकाशगता (आकाश में गमन करने के मंत्र आदि का वर्णन), ५—रूपगता (सिंह हाथी आदि अनेक प्रकार के रूप बनाने के कारणभूत मंत्रों आदि का वर्णन करने वाला)

इस तरह अगवाह्य, अंगप्रविष्ट रूप पूर्ण श्रुतज्ञान है। अंगवाह्य का परिमाण बहुत थोड़ा है, इस कारण श्रुत मुख्य रूप से द्वादश (बारह) अंग रूप से कहा जाता है। तथा बारहवें दृष्टिवाद अग में १४ पूर्वों का मुख्य स्थान है उनका परिमाण भी बहुत बड़ा है, इस कारण द्रव्यश्रुत को ११ अग, १४ पूर्व प्रमाणरूप भी कह देते हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी ११ अग, १४ पूर्वों के ज्ञाता होते है इस कारण ११ अंग+१४ पूर्वों (=२५) की जानकारी के रूप में उनके २५ गुण कहे जाते है।

उपाध्याय बहुत श्रुतों यानी शास्त्रों के पारगत विद्वान् होते हैं, इस कारण उनका दूसरा नाम बहुश्रुत भी है। उपाध्याय की भक्ति करना, उनका विनय, आदर सत्कार करना बहुश्रुतभक्ति है।

बहुश्रुत भक्ति से विविध शास्त्रों का, अंग पूर्वों का ज्ञान प्राप्त होता है। यही बहुश्रुत भक्ति तीर्थंकर प्रकृति के वन्ध की कारण है।

प्रवचन नं० १०४

स्थान— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली। तिथि— द्वितीय भाद्रपद शुक्ला १ शनिवार, १७ सितम्बर १९५५

प्रवचन भक्ति

जिनवाणी के प्रतिपादक शास्त्रों की भक्ति करना प्रवचन भक्ति है।

पण्णवणिज्जा भावा अणंत भागो दु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंत भागो सुदणिवद्धो ॥ ३३३ ॥
(गोमटसार जीवकाण्ड)

यानी—केवलज्ञान द्वारा जितना कुछ तीर्थंकर जानते है, उसके अनन्तवें भाग उनकी ध्वनि से प्रतिपादन होता है और जितना उनकी दिव्यध्वनि से कहा जाता है, उसके अनन्तवें भाग विषय द्वादशांग श्रुत में गूथा जाता है। यानी—द्वादशांग से अनन्तगुणा पदार्थ केवल ज्ञान द्वारा जाना जाता है, तीर्थंकर की ध्वनि उस जाने हुए समस्त पदार्थ को नहीं कह सकती, उसके अनन्तवें भाग को ही कह सकती है।

और जितनी दिव्यध्वनि द्वारा कहा जाता है वह सब का सब द्वादशांग श्रुत में नहीं रचा जाता, अनन्तवें भाग प्रमाण ही श्रुत रचना में आता है।

द्वादशांग श्रुतज्ञान पहले कुछ समय तक मौखिक रूप से गुरु शिष्य परम्परा द्वारा चलता रहता है। गुरु अपने शिष्यों को मौखिक पढ़ा देते हैं और शिष्य उसको याद कर लेते हैं। लिखकर याद करने की पद्धति नहीं होती।

परन्तु जब क्रमशः मनुष्यों की स्मरण शक्ति, धारणा शक्ति क्षीण हो जाती है, पढ़ाया हुआ समस्त याद नहीं हो पाता, उस समय द्वादशांग श्रुत का कुछ भाग किसी को स्मरण रहता है, कुछ किसी को। पूर्ण श्रुतज्ञान किसी को स्मरण नहीं रहता उसका सारांश स्मरण रहता है। इस तरह बहुत सा श्रुत स्मरण शक्ति की निर्बलता के कारण विस्मृत (भूल) हो जाता है।

तीर्थंकर के मुख कमल से उदित, गणधर देव द्वारा द्वादश अंगों में गुम्फित, गुरु-शिष्य परम्परा से प्रवाहित जिनवाणी सर्वथा नष्ट न हो जावे, आगामी समय में भी जनता का हित-सम्पादन करती रहे इस पुनीत भावना से शेष बचे हुए श्रुतज्ञान को वे मुनिराज शास्त्रों के रूप मे लिख देते हैं। उन्हीं शास्त्रों को <u>प्रवचन</u> कहते हैं।

संसार में अन्य भी बहुत से शास्त्र हैं और वे भी अपने आप को <u>ईश्वर की वाणी</u> बतलाते हैं। परन्तु उनको निष्पक्ष रूप से देखने पर उन ग्रन्थों के मानने वालों की भी मान्यता यही होती है कि ये ग्रन्थ ईश्वर की वाणी नहीं हैं। वैदिक सम्प्रदाय वेदों को <u>ईश्वरीय वाणी</u> कहता है किन्तु वेद यदि सचमुच ईश्वर प्ररूप शास्त्र होते तो उनमें अपने शत्रुओं को मारने का, घोड़े आदि जीवों को मार कर अश्वमेध आदि यज्ञ करने का विधान न होता, क्योंकि ईश्वर तो सबका पिता कहा जाता है। गाय, घोड़े तथा शत्रु समझे जाने वाले मनुष्य आदि सभी उसके पुत्र तुल्य हैं फिर उनको मारने का उपदेश वह कैसे दे सकते हैं। सोऽहं शर्मा ने इस विषय में बहुत खुलासा लिखा है। स्व० ला० लाजपतराय जी आदि अनेक वैदिक विद्वान् भी वेदों को ईश्वरीय वाणी नहीं मानते। स्थानाभाव से हम इस विषय में उल्लिखित प्रमाण यहां नहीं दे रहे।

ईसाई इंजील को ईश्वरीय पुस्तक मानते हैं यह मानना भी गलत है क्योंकि इंजील में भी सिर्फ मनुष्य की रक्षा का उपदेश है। जानवरों की रक्षा का उपदेश वहां भी नहीं है। मुर्गी आदि जानवरों को मार कर ईश्वर को भेंट करने की बात वहां भी मिलती है। इस लिये इंजील का गोड (ईश्वर) कम से कम जानवरों का हितैषी पिता तो नहीं माना जा सकता।

मुसलमान लोग <u>कुरान</u> को खुदा का कलाम (ईश्वर का वचन) बतलाते हैं परन्तु कुरान में काफिरों (नास्तिकों-कुरान को न मानने वालों) को कत्ल कर देना अच्छा काम बतलाया गया है खुदा के नाम पर बकरा गाय आदि की कुर्बानी (मार कर भेंट) का विधान किया है। तो क्या कुरान का खुदा केवल मुसलमानों का ही खुदा (परमपिता ईश्वर) है जो मुसलमानों के सिवाय और हिन्दू, जैन, बौद्ध,

ईसाइयों का रक्षक खुदा नहीं है अन्यथा काफिरों को मारने की अनुमति (इजाजत) अपने कलाम में क्यों देता ?

जिनवाणी रूप जैनशास्त्र इस कारण ईश्वर की यथार्थ वाणी कहलाने के अधिकारी हैं कि उन में कहीं भी किसी भी जीव को, वह चाहे जैन हो जैनेतर, मनुष्य हो—पशु, छोटा हो या बड़ा, एकेन्द्रिय हो या पंचेन्द्रिय—मारने कूटने, सताने या मानसिक शारीरिक कोई भी कष्ट देने का रंचमात्र भी उपदेश आदेश या विधान नहीं है, जगत के प्राणीमात्र की रक्षा करने का हित उपदेश उनमें सब जगह दिया गया है।

जैन शास्त्रों में कहीं भी परस्पर-विरोधी कथन नहीं मिलता। जैन सिद्धान्त की कोई भी बात युक्ति से खण्डित नहीं होती। स्याद्वाद सिद्धान्त द्वारा पदार्थों का सत्य निर्णय किया जाता है। इस कारण जैन शास्त्र ही सर्वहितकारी यथार्थ में ईश्वर-वाणी माने जा सकते हैं।

जिनवाणी का कोई व्यक्ति स्वाध्याय करे, पढ़े, पढ़ावे, मनन करे उसके हृदय में शुभ विचार उत्पन्न होते हैं, हिंसक भावना, द्वेष भावना, अन्य व्यक्तियों से घृणा करने के परिणाम पैदा नहीं होते। इसीलिये जैन शास्त्रों के सुनने सुनाने से सबका कल्याण होता है।

शास्त्रों को विनय-पूर्वक, शुद्ध होकर चौकी आदि पर विराजमान करके स्वाध्याय करना चाहिये। सूतक पातक में अशुद्धि के समय शास्त्रों को स्पर्श न करना चाहिये। शास्त्रों का गत्ता पुट्ठा वेठन आदि अच्छी तरह बांधकर सावधानी से अलमारी में विराजमान करना चाहिये और समय समय पर उनको धूप दिखानी चाहिये जिस से उनको सील न लगने पावे। शास्त्रों के स्वाध्याय से ज्ञान के पर्दे खुल जाते हैं, बिना गुरु से पढ़े स्वाध्याय करने पर सिद्धान्त का ज्ञान हो जाता है। इस कारण प्रवचन भक्ति (शास्त्र भक्ति) बहुत उपयोगी भावना है।

जिनवाणी को चार भागों में विभक्त किया गया है— १—प्रथमानुयोग, २—करणानुयोग, ३—चरणानुयोग, ४—द्रव्यानुयोग।

जिन ग्रन्थों मे २४ तीर्थंकरों, १२ चक्रवर्तियों, ६ बलभद्रों, ६ नारायणों, ६ प्रतिनारायणों इन ६३ शलाका पुरुषों तथा नारद, कामदेव आदि अन्य विशेष पुरुषों का ऐतिहासिक वर्णन होता है जिसके द्वारा पुण्यकर्म, पापकर्म के परिणाम पर प्रकाश पड़ता है। शुद्धोपयोग द्वारा आत्मसिद्धि करके मुक्त प्राप्त करने वालों का विवरण जिन में पाया जाता है तथा प्रसंगानुसार जिनमें अन्य अनुयोगों की बातें भी पाई जाती हैं, वे ग्रन्थ प्रथमानुयोग के है। जैसे—आदिपुराण, उत्तरपुराण, हरिवंश पुराण, पद्मपुराण, पाण्डव पुराण, नेमिपुराण, पार्श्वपुराण, महावीर चरित, प्रद्युम्नचरित, जीवन्धर चरित्र आदि कथाग्रन्थ।

करण शब्द के दो अर्थ हैं—१. परिणाम, २. लोकस्थिति, तथा कालपरिवर्तन। जिन ग्रन्थों में गुणस्थानों के अनुसार जीव के परिणामों का वर्णन है जैसे लब्धिसार, क्षपणासार आदि वे करणानुयोग के ग्रन्थ हैं। तथा तिलोयपण्णति-त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थ भी करणानुयोग (श्री समन्तभद्र आचार्य के मतानुसार) के हैं। इनके स्वाध्याय से जीव के परिणामो के विषय में तथा लोकाकाश के विषय में, कालचक्र के परिवर्तन के विषय में परिज्ञान होता है।

जिन ग्रन्थों में मुनि आचार का, उपाध्याय, आचार्य परमेष्ठी की क्रियाओं का विस्तृत विवरण है, पाक्षिक, नैष्ठिक, साधक श्रावकों, उनकी ११ प्रतिमाओं के आचरण का विवरण दिया गया है वे ग्रन्थ चरणानुयोग के हैं। जैसे मूलाचार, भगवती आराधना, आचारसार, चारित्रसार, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, वसुनन्दि श्रावकाचार आदि ग्रन्थ।

जिन ग्रन्थों में ६ द्रव्य, ५ अस्तिकाय, ६ पदार्थ, ७ तत्व, ६ काय आदि का वर्णन होता है, वे ग्रन्थ द्रव्यानुयोग के हैं, जैसे षट्खण्ड आगम, तत्वार्थसूत्र (इसमें अन्य अनुयोग भी हैं) तत्वार्थसार, समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, द्रव्यसंग्रह आदि ग्रन्थ।

प्रत्येक आत्म-हितैषी को चारों अनुयोगों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जिन व्यक्तियों को सिद्धांत का ज्ञान नहीं है, उन्हें प्रथमानुयोग के ग्रन्थों का स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिये।

स्व० पंडिता भूरीबाई शास्त्रों का स्वाध्याय करते करते जैन सिद्धान्त में बहुत विदुषी बन गई थीं।

इस कारण प्रवचन भक्ति द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को अपना ज्ञान विकसित करना चाहिये। ज्ञान ही ऐसा महत्वशाली प्रकाश है जिस से स्व-पर पदार्थ स्पष्ट ज्ञात हो जाते हैं।

प्रवचन नं० १०५

स्थान—	तिथि—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।	द्वितीय भाद्रपद शुक्ला २, रविवार १८ सितम्बर १९५५

आवश्यकापरिहाणि

समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग ये ६ आवश्यक साधुओं के होते हैं, इन दैनिक कार्यों में लेशमात्र भी कमी न आने देना, यथासमय यथाविधि प्रत्येक आवश्यक का करना आवश्यकापरिहाणि भावना है।

समता

आत्मा में क्षोभ राग और द्वेष के कारण हुआ करता है। किसी अन्य वस्तु को अपनी प्रिय वस्तु मान कर उसके साथ मोही आत्मा राग भाव करता है। और किसी पदार्थ को अपने लिये हानिकारक कल्पना करके उस पदार्थ के साथ द्वेष या घृणा करता है। वास्तव में देखा जावे तो संसार में न कोई पदार्थ अच्छा है, न बुरा। सब अपने अपने रूप से परिणमन कर रहे हैं।

सूर्य उदय होता है, सब संसार में प्रकाश हो जाता है, कमल आदि अनेक पुष्प खिलते हैं, समस्त पुरुष स्त्री अपने अपने कार्य में लग जाते हैं, किन्तु सूर्य का प्रकाश चमगीदड़, उल्लू, चोरों को नहीं सुहाता, उनको बुरा लगता है। अब विचार कीजिये सूर्य का उदय होना या सूर्य का प्रकाश अच्छा है या बुरा?

ऐसी ही बात संसार के सभी पदार्थों की है। अतः किसी से प्रेम करना, किसी से द्वेष करना

आत्मा की अपनी गलत धारणा का परिणाम है। इसी लिये राग, द्वेष से आत्मा को परतन्त्र बनाने वाला कर्मबन्ध होता है। अतः आत्मा यदि स्वतन्त्र होना चाहे तो उसको अपने राग द्वेष पर नियन्त्रण (कन्ट्रोल) करके समता (न किसी से प्रेम, न किसी से द्वेष) भाव लाना पड़ेगा। इसी समताभाव के लाने की क्रिया का दूसरा नाम सामायिक है।

तदनुसार मुनिजन प्रतिदिन प्रातः दोपहर तथा सन्ध्या को संसार के समस्त पदार्थों से राग द्वेष का त्याग करके एक अचल आसन से आत्मचिन्तन करते हैं। यह समता या सामायिक नाम का आवश्यक है।

भगवान् जिनेन्द्र देव परमशुद्ध परमात्मा हैं, मुनिगण के लिये तथा समस्त विश्व के लिये परम-आदर्श हैं। मुनिगण की तपस्या का उद्देश्य अपने आपको कर्म-कषाय विजेता 'जिनेन्द्र' बनाना है। इस लिये वे प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान् को परम आराध्य देव मानकर उसको हाथ जोड़कर शिर झुकाते हुए विनय भाव के साथ नमस्कार करते हैं यह वन्दना नामक आवश्यक है।

अपने पूज्य व्यक्ति के गुणों को भक्ति के साथ कहना स्तुति या स्तवन है। साधुगण प्रतिदिन श्री जिनेन्द्रदेव की बड़े विनय और भक्ति के साथ स्तुति किया करते हैं। यह साधुओं का स्तुति नामक तीसरा आवश्यक कर्म है।

भोजन करने मे, मल-मूत्र करने में, आने-जाने में, बातचीत करने में जो अन्य जीवों को बाधा या कुछ सावद्य योग हो जाया करता है उससे शुद्ध होने के लिये मुनिजन जो प्रतिदिन 'मिच्छा मे दुक्कड' यानी मेरा दुष्कृत (परजीवों को बाधाकारक कार्य) मिथ्या हो जावे, मेरे साथ न रहे, छूट जावे। इस तरह पाठ करते हुए अपनी मनोवृत्ति का परिमार्जन (सशोधन) करते हैं उसको प्रतिक्रमण कहते हैं।

अपना ज्ञान विकसित करने के लिये शास्त्रों का अभ्यास, शंका समाधान, पाठ करना, मनन करना, पढ़ना पढ़ाना आदि आवश्यक है, क्योंकि बिना अभ्यास के ज्ञान की चमक फीकी हो जाती है। अतः मुनिराज प्रतिदिन शास्त्रों का स्वाध्याय किया करते हैं। शास्त्र चर्चा करते हैं, उपदेश देते हैं, पाठ करते हैं, पढ़ाते हैं। अनेक विषय का चिन्तवन करते हैं। यह मुनियों का स्वाध्याय नामक आवश्यक कर्म है।

शरीर से मोह ममता दूर करने के लिये तथा आत्म-शुद्धि के लिये खड़े होकर जो आत्मध्यान करते है उसे कायोत्सर्ग कहते हैं। अन्य वस्तुओं से ममता छोड़ देना तो फिर भी सरल है किन्तु अपने शरीर से मोह ममता छूटना बहुत कठिन है। परन्तु जब तक शरीर का मोह न छूटेगा तब तक आत्म-शुद्धि होना असम्भव है। इसी शरीर की ममता को दूर करने के लिये कायोत्सर्ग किया जाता है।

इन छह आवश्यक कार्यों को प्रतिदिन यथाविधि यथासमय करना उनमें लेशमात्र भी कमी न होने देना आवश्यकापरिहाणि भावना है।

श्रावक के भी दैनिक ६ आवश्यक कर्म हैं— १–देव पूजा, २–गुरु उपासना, ३–स्वाध्याय, ४–संयम, ५–तप, ६–दान।

जिनेन्द्र देव की बड़ी भक्ति से विधि अनुसार अष्ट द्रव्य से पूजन करना, अभिषेक करना, अर्घ देना देवपूजा है।

आचार्य उपाध्याय साधु धर्म-गुरु हैं, उनकी भक्ति पूजन करना, स्तुति करना गुरुउपासना है। यदि गुरु साक्षात् उपस्थित न हो तो बड़े आदर के साथ उनकी स्तुति वीनती पढ़ते हुए आल्हादचित्त होना चाहिये।

शास्त्रों का पढ़ना, शास्त्र सुनाना, शास्त्र सुनना, धर्मचर्चा करना, शंका समाधान करना, शास्त्रीय विषय अभ्यास (याद) करना आदि कार्य स्वाध्याय है।

इन्द्रियों को विषय भोगों की ओर से हटाकर अपने वश में करना, जीवरक्षा में सावधान रहना संयम है।

विषय भोगों की इच्छाओं को रोक कर अनशन (उपवास), एकाशन आदि करना तप है। मुनि आदि पात्रों को भक्ति के साथ तथा दीन दुखियों को करुणा के साथ भोजन आदि देना दान है। श्रावक को प्रतिदिन ये ६ कार्य अवश्य करना चाहिये।

मनुष्य जिस प्रकार सांसारिक कार्यों को परम आवश्यक समझ कर उनके लिये अपने जीवन का अमूल्य समय लगा देता है, परिवार के पालन पोषण मे, अपने शरीर के शृङ्गार करने में, इन्द्रियो को विविध विषयभोगों द्वारा तृप्त करने में तथा अनेक उपायो द्वारा धन संचय करने में अपनी आयु का प्रायः समस्त भाग खपा डालता है। किन्तु उससे लाभ क्या उठाता है—नरक तिर्यंच आदि दुर्गतियों मे ले जाने वाला पाप कर्मों का सचय। जिससे कि आत्मा को अनेक तरह की वेदनाएं भोगनी पड़ती हैं। यदि यह सांसारिक कार्यों के समान आध्यात्मिक कार्यों को भी आवश्यक समझ ले और उन्हें भी यथा समय प्रतिदिन अवश्य करता रहे उनमे भी कमी न आने दे तो इसका कम भार हलका होता जावे, पाप-संचय की जड़ सूखती जावे आत्मा प्रगतिशील, सुखी हो जावे। किन्तु खेद है कि अधिक लाभ देने वाली जिस आध्यात्मिक वार्ता की ओर इसे अधिक रुचि रखनी चाहिये उधर ही यह ध्यान नहीं देता। अतः बुद्धिमान मनुष्य वह है जो अपने आत्मा को सुखी सन्तोषी बनाने को अपने दैनिक धर्म आचरण के लिये यथेष्ट समय निकालता है तथा उन धार्मिक कार्यों को खूब मन लगाकर करता है।

दर्शन, पूजा, स्वाध्याय, संयम, तप, दान आदि धार्मिक कार्यों को करने के सिवाय पुत्र, स्त्री, माता, पिता आदि के पालन पोषण, सेवा शुश्रुषा करते समय भी हृदय में यह श्रद्धा रखनी चाहिये कि मेरे नहीं हैं, दैवयोग से कुछ दिनों के लिये उनका मेरे साथ सहयोग हो गया है, कुछ दिनों मे यह विघट जायगा, मेरा पिता मरकर मेरा पुत्र भी हो सकता है, माता मरकर पुत्री बन सकती है, ऐसा विचार करके उनसे गाढ़ा स्नेह न करे, उनसे ममता भाव थोड़ा रक्खे।

इसी तरह शरीर की सेवा केवल इतनी करे जिससे शरीर स्वस्थ बना रहे, धार्मिक तथा व्यवहारिक कार्य करने योग्य शरीर मे बल तथा स्फूर्ति बनी रही आवे। इन्द्रियों को भी विषय भोगों के साथ इतना ही सम्पर्क जोड़ने दे जिससे वे अपने नियन्त्रण से बाहर न जाने पावे, निरंकुश होकर आत्मा के लिये आफत न बनने पावें।

धन संचय करते समय सदा यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस तरह मधुमक्खी फूलों से रस लेते समय फूलों को कुछ कष्ट नहीं देती, इसी तरह मै भी धन नीति, न्याय तथा दया के साथ संचय करूं जिससे न तो मेरे मन मे कोई दुर्भावना उत्पन्न हो, न किसी अन्य व्यक्ति को दुःख पहुंचे। झूठ, (धोखा), चोरी, बेईमानी आदि न करना पड़े, किसी से विश्वासघात न करना पड़े।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक स्त्री पुरुष को प्रतिदिन आत्मशुद्धि भी करते रहना चाहिये, जिस तरह शरीर का मै ल उतारने के लिये प्रतिदिन स्नान करते हैं, इसी तरह मन का मैल दूर करने के लिये प्रतिदिन भगवान् के सामने आलोचना पाठ पढ़कर अपने दोषों की आलोचना करे। एकान्त में बैठकर दिन भर किये हुए पापों का पश्चाताप करे और आगामी को वैसे पाप न करने का संकल्प करे। ऐसा करने से मनुष्य का हृदय स्वच्छ होता रहता है, उसका मैल धुलता रहता है और वह भगवान् को अपने भीतर बिठाने योग्य बनता रहता है।

प्रवचन नं० १०६

स्थान—
श्री दिगम्बर जैन मंदिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि—
द्वितीय भाद्रपद शुक्ला, ३ सोमवार, १९ सितम्बर १९५५

मार्ग-प्रभावना

जैनधर्म का प्रभाव समस्त जनता में फैलाने का उद्यम करना मार्ग प्रभावना नामक पन्द्रहवीं भावना है।

संसार में सबसे अधिक प्रभावशाली पदार्थ आत्मा है। वैसे तो जड़ पदार्थों में भी अनन्त शक्ति पाई जाती है, परन्तु आत्मा की चैतन्यशक्ति के सामने जड़ पदार्थों की शक्तियां निष्प्रभ (फीकी) दीखती हैं। किन्तु आत्मा की वह प्रभावशालिनी शक्ति कर्म आवरण से छिपी हुई है जिस तरह बादलों के पटल से सूर्य का प्रकाश छिप जाता है। आत्मा ज्यों ज्यों उस कर्म पटल को आत्मा से हटाता जाता है त्यों त्यों आत्मा का प्रभाव भी प्रगट होता जाता है।

दीवान अमरचन्द्र जी को जयपुर नरेश ने अपने साथ शिकार खेलने के लिये चलने का आग्रह किया। दीवान अमरचन्द्र जी ने बहुत निषेध (इनकार) किया कि मैं अहिंसा धर्म का अनुयायी हूं 'मैं कैसे हिंसक कार्य में भाग ले सकता हूं, मुझे अपने साथ न ले चलिये।' परन्तु राजा ने कुछ न माना। अन्त में लाचार होकर दीवान जी को राजा के साथ घोड़े पर सवार होकर खेलने के लिये चलना पड़ा।

नगर के बाहर जाकर जंगल में हिरनों का झुण्ड दिखाई दिया। हिरनों के पीछे राजा ने अपना घोड़ा दौड़ाया, हिरन अपने प्राण बचाने के लिए बहुत जोर से भागे। हिरनों को भागता हुआ देखकर दीवान अमरचन्द्र जी ने उच्च स्वर में हिरनों को पुकार कर कहा कि—

'हिरनो ! तुम कहां भागे जा रहे हो, जबकि तुम्हारा रक्षक राजा ही तुम्हारे प्राण लेना चाहता है तब तुम भागकर कहां जाओगे ?'

दीवान अमरचन्द्र जी की वाणी में अहिंसा भाव का वह अद्भुत प्रभाव था कि हिरण सुनकर चुपचाप खड़े हो गये। तब अमरचन्द्र जी ने राजा को कहा कि राजन् ! लीजिये हिरन आपके सामने खड़े हैं जिसको चाहें पकड़ सकते हैं।

यह देखकर राजा बहुत लज्जित हुआ और उसने फिर शिकार खेलना छोड़ दिया।

इसी तरह वन में तपस्या करने वाले ऋषियों के पास आकर सिंह आदि हिंसक पशु अपनी निर्दय हिंसावृत्ति छोड़ देते हैं और पास में हिरन गाय के साथ प्रेम से बैठे रहते हैं।

इस प्रकार अपने गुणों से आत्मा को प्रभावशाली बनाना चाहिये। तपस्या तथा सच्चारित्र के आचरण से आत्मा में प्रभाव प्रगट होता है। अतः जैनधर्म की प्रभावना के लिये सबसे प्रथम तो अपने आत्मा में जैनधर्म को उतार कर अपने आपको प्रभावशाली बनाना चाहिये।

इसके बाद अपना ज्ञान गुण अच्छा विकसित करना चाहिये। जैन सिद्धान्त तथा अन्य सिद्धान्तों का और न्यायशास्त्र का परिज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जिससे कि अन्य जिज्ञासु (सत्यधर्म जानने के इच्छुक) व्यक्तियों के हृदय में जैनधर्म का महत्व अनेक सुन्दर युक्तियों के साथ प्रगट किया जा सके। स्वामी समन्तभद्राचार्य संस्कृत भाषा, दर्शन, न्याय, साहित्य के बड़े भारी विद्वान् थे, साथ ही वे बड़े भारी वक्ता, वाग्मी और वादी (शास्त्रार्थ करने वाले) थे। उन्होंने अपने समय में जैनधर्म की बहुत अधिक प्रभावना की है।

पटना, मालवा, सिन्धुप्रान्त, ढाका (बंगाल), कर्णाटक, भेलसा, कनाड़ा आदि प्रान्तों में जाकर वहां के बड़ बड़े नगरों में पहुंचकर डंके की चोट पर अन्य मती विद्वानों को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा और अकेले ही उनके साथ शास्त्रार्थ करके उनको हराकर जैनधर्म का भारतवर्ष में सर्वत्र प्रभाव फैलाया।

श्री अकलंक देव ने बालब्रह्मचारी रहकर, ऊपर से बौद्ध बनकर बौद्ध विद्यालय में अनेक संकट सहते हुए विद्या प्राप्त की, फिर बौद्ध विद्वान् संघश्री आदि के साथ राजा हिमशीतल आदि की राजसभाओं में बड़े बड़े शास्त्रार्थ किये, एक बार तो बौद्ध विद्वान् द्वारा घड़े में स्थापित बौद्धदेवी 'तारा' के साथ छह मास तक शास्त्रार्थ करते रहे अकलंक देव ने सभी शास्त्रार्थों में अच्छी विजय पाकर उस समय सर्वत्र फैले हुए बौद्धधर्म का प्रभाव क्षीण करते हुए जैनधर्म की बड़ी भारी प्रभावना की, इसके लिये उनको अपने लघु भ्राता का भी बलिदान करना पड़ा।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने समयसार, पंचास्तिकाय आदि आध्यात्मिक ग्रन्थ निर्माण करके जैन-धर्म की ऐसी सुन्दर प्रभावना की है कि अब तक हजारों अन्यमत-अनुयायी निष्पक्ष विद्वानों ने उनका स्वाध्याय करके जैनधर्म स्वीकार किया है। भविष्य में भी जो व्यक्ति समयसार आदि का स्वाध्याय करेगा वह भी प्रभावित हुए विना न रहेगा।

स्वामी विद्यानन्द कट्टर वैदिक विद्वान् थे, श्री समन्तभद्राचार्य विरचित आप्तमीमांसा (देवागम-स्तोत्र) को सुनकर जैन सिद्धान्त की सत्यता का अनुभव करके जैन धर्मानुयायी स्वयं बन गये, तदनन्तर

अपने आप्तपरीक्षा, अष्टसहस्त्री आदि जैनधर्म के प्रभावशाली अनेक तार्किक ग्रन्थों की रचना की।

इस प्रकार अपने ज्ञान के प्रभाव से उपदेश देकर, शास्त्रार्थ करके तथा ग्रन्थ रचना द्वारा जैनधर्म की प्रभावना करनी चाहिये।

इसके सिवाय लोक-उपकारक कार्य करके जैनधर्म का प्रभाव साधारण जनता में फैलाना चाहिये जिस तरह कि जयपुर के दीवान अमरचन्द्र जी ने प्रजा के अनेक मनुष्यों के प्राण बचाने के लिये अंग्रेज अफसर को भ्रमवश लोगों द्वारा मार डालने का अपराध अपने ऊपर ले लिया और अपने प्राण देकर अन्य सैंकड़ों मनुष्यों के प्राण बचाये।

इसी तरह दान, महान् उत्सव करके, दर्शनीय भव्य मंदिर बनवाकर, प्रचार करके आदि अनेक साधनों से जैनधर्म की प्रभावना संसार में फैलानी चाहिये। जिससे अन्य मतानुयायी जनता जैनधर्म की ओर स्वयं खिंच कर आवे।

दीन दुखी दरिद्र जनता की सेवा करके उनके हृदय में जैनधर्म का प्रभाव उत्पन्न करना चाहिये। असहाय विधवाओं, अनाथ बच्चों की रक्षा करके उनको जैनधर्म का कल्याणकारी उपदेश देना चाहिये।

शारीरिक बल द्वारा पराक्रम दिखाकर भी प्रभावना की जा सकती है जैसे कि राजा खारवेल, चामुण्डराय आदि ने बड़े बड़े युद्धों में विजय प्राप्त करके जैनधर्म को राजधर्म बनाया था। चामुण्डराय ने बड़ा धन खर्च करके श्रवणबेलगोला में ५७ फीट ऊंची बाहुबली की मनोज्ञ प्रतिमा का निर्माण कराकर जैनधर्म की बड़ी भारी प्रभावना की है।

इसी तरह यंत्र मंत्र द्वारा श्री मानतुङ्ग, वादिराज, कुमुदचन्द्र आदि आचार्यों ने तथा ग्वालियर, उदयपुर आदि के अनेक भट्टारकों ने अपने अपने समय में जैनधर्म की प्रभावना की थी, वैसी अब भी की जा सकती है।

साराश यह है कि 'सर्व जगत् का कल्याण करने वाला जैनधर्म संसार में सब जगह फैले' इसके लिये जो भी अच्छे उपाय हों उनको काम में लेना चाहिये। तीर्थंकर प्रकृति बन्ध की कारणभूत यह प्रभावना नामक पन्द्रहवीं भावना है।

आत्मा प्रभावशाली दृढ़निष्ठा, निर्मलज्ञान तथा पवित्र आचरण के द्वारा बना करता है, जो मनुष्य अटल श्रद्धालु, ज्ञानवान सदाचारी होते है उनके मुखपर आत्मतेज झलकता है, उनकी वाणी मे महान् बल होता है, उनका एक एक शब्द अन्य व्यक्तियों के हृदय पर अंकित हो जाता है। उनका हृदय अनुपम शक्ति का केन्द्र बन जाता है, अतः ऐसे व्यक्तियों को ससार मे कोई अन्य व्यक्ति महान् बनाने के लिये नहीं आया करते, वे स्वयं संसार मे महान् बन जाया करते हैं। उस दशा में वे धार्मिक प्रभावना का केन्द्र हो जाते हैं। प्रभावना सदा उनके चारों ओर घूमती रहती है।

इसी बात को लक्ष्य मे रखकर श्री अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ग्रन्थ मे 'प्रभावना' के विषय में लिखा है—

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दान तपो जिन पूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥

अर्थात्—निर्मल रत्नत्रय (सम्यक् श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् आचरण) द्वारा आत्मा का सदा प्रभाव बढ़ाना चाहिये। और दीन दुखी जनता का दुःख दूर करने के लिये महान् आवश्यक दान देकर, यथेष्ट प्रभावशाली तपश्चरण करके, उत्कट भक्ति भाव से स्वर, ताल, भाव भंगिमा के साथ जिनेन्द्र देव का पूजन करके तथा शास्त्रार्थ, व्याख्यान आदि द्वारा अपने प्रखर ज्ञान से एवं मन्त्रो के चमत्कार दिखलाकर इस जगत् में जैनधर्म की प्रभावना प्रकट करनी चाहिये।

अतः प्रभावना का मूल आधार सबसे प्रथम अपना आत्मा है।

अर्हन्त भगवान् का शरीर तथा उनकी वाणी इसी कारण प्रभावशाली होते हैं कि उनका आत्मा सर्वोच्च सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का भंडार होता है। उनके दर्शन करते ही बिना किसी प्रेरणा के मनुष्यों का हृदय निर्मल हो जाता है, मस्तक उनके चरणों में झुक जाता है और पापक्रिया से घृणा हो जाती है। तथा उनका उपदेश सुनकर असंख्य प्राणी आत्म श्रद्धालु बनकर उच्च-आचार आचरण करके मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। एवं उन अर्हन्त भगवान् की प्रतिमा के दर्शन, पूजन, चिन्तवन से भी असंख्य नर-नारी आत्मबोध प्राप्त करते हैं। इस तरह अर्हन्त देव संसार मे सबसे अधिक प्रभावना करते हैं। उनसे कम उनके पद-चिन्हों पर चलने वाले अनेक अतिशय ज्ञानी ध्यानी महाव्रती साधु अपने सदाचार तथा प्रचार द्वारा धार्मिक प्रभावना करते है।

उनसे भी कम प्रभावना गृहस्थ श्रावकों के द्वारा होती है क्यों कि उनकी श्रद्धा, ज्ञान, आचरण महाव्रती साधुओं की अपेक्षा थोड़ा होता है तथा गृहस्थाश्रम के कार्यों में रत रहने के कारण उनको उतना समय भी नहीं मिलता। फिर भी जैन गृहस्थ को अपना खान पान, लेन देन, रहन सहन, व्यवहार बहुत शुद्ध रखना चाहिये जिससे दूसरे मनुष्य उसको देखकर प्रभावित हों।

इसके सिवाय गृहस्थों को समय समय पर जनता में अच्छा दान करते रहना चाहिये। बड़ी बड़ी सभाओं की योजना करके जैनधर्म के प्रभावशाली भाषण कराने चाहियें, प्रभावशाली साहित्य-वितरण करना चाहिये।

प्रवचन नं० १०७

स्थान—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि—
द्वितीय भाद्रपद शुक्ला ४ मंगलवार, २० सितम्बर १९५५

वात्सल्य

प्रवचन वात्सल्य सोहलवीं भावना है। यह षोडश कारण भावना की मूल जड़ है जिस प्रकार वृक्ष की जड़ भूमि के अन्दर होती है और उस पर सब वृक्ष खड़ा होता है फलता है फूलता है उसी प्रकार

इन सब भावनाओं की मूल जड़ यह वात्सल्य भावना है। इस भावना की जड़ पर ही सभी भावनायें खड़ी रह कर फलती फूलती है। जिस वृक्ष की जड़ मजबूत होती है उस वृक्ष की सब प्रकार से मजबूती होती है। जिस भव्य जीव के चित्त की भूमि में यह भावना आ जाती है वह प्राणी संसार में दुःख नहीं पाता। उत्तम गति में उत्तम स्थान में वह जन्म पाता है और कालान्तर में जल्दी ही अनन्त सुख स्वरूप स्वात्मोपलब्धि को प्राप्त कर शिवपद को प्राप्त कर लेता है। वत्स गाय के बछड़े को कहते हैं गाय का और बछड़े का जैसा परस्पर में स्वच्छ निष्कपट प्रेम होता है भव्य जीव धर्मात्मा जन भी वैसा ही निर्मल पवित्र प्रेम जिनधर्म और जिनधर्मी जनों से जिनधर्म के आयतनों से हृदय से करते हैं इसी को प्रवचन वात्सल्य कहते हैं।

श्रीमान् विद्यानंदि स्वामी आचार्य महाराज कहते हैं कि—

वत्सलत्वं पुनर्वत्से धेनुवत्सं प्रकीर्त्तितं। जैने प्रवचने सम्यक् श्रद्धाज्ञानवत्स्वपि ॥१६॥

इसका भी वही अर्थ है जो ऊपर बताया गया है अर्थात् बछड़े व गाय के प्रेम को वत्सल कहते हैं वैसे प्रेम भाव का होना वात्सल्य है। यह प्रेम भाव प्राणीमात्र में होना चाहिये परन्तु विशेष रूप से जिन प्रवचन में (जिनवाणी में) सम्यग्दृष्टी जीवों में, सम्यग्ज्ञानियों में और सम्यक् चारित्रवान जीवों में अवश्य होना चाहिये।

धर्म का लाभ इस जीव को कर्मभूमि में धर्मात्मा जीवों के उपदेश से, संसर्ग से, जिनवाणी के पठन से, सम्यक्चारित्र की निधि साधुओं के चरणारविन्द की सेवा से ही होता है। धर्मात्मा जीवों में जितनी प्रीति इस जीवकी होती है उतनी पापकी क्षति व पुण्यकी प्राप्ति होती है और उससे चित्त की स्थिरता तथा निर्मलता प्राप्त होती है। पापरत जीवों की संगति यहां भी दुखदायी है और आगे भव भव में दुख देती है कारण पापी जीवों की सगति से पापास्रव होकर पाप के बन्ध होते हैं और वे कुगति में ले जाते हैं। जो प्राणी सुख चाहते हैं वे धर्मात्मा जीवों की सेवा भक्ति हृदय से करें। निष्कपट भावों से धर्मात्मा जीवों का पूर्ण आदर सन्मान करें, उनको दोनों हाथों को जोड़ कर प्रणाम करें, उनको देखते ही आनन्द की धारा से सारा शरीर रोमांचित कर ले, वाणी गद्गद हो जावे, धर्मात्मा जीव के दर्शन को भी परम भाग्योदय समझें। ये सब बातें जीव को धर्म लाभ के लिये मूल कारण हैं। जिस प्रकार व्यसनी जीव शराबी, जुवारी, मास भक्षी, परदारा तथा वेश्यारत जीवों से बड़े प्रसन्न रहते हैं उसी प्रकार धर्मात्मा जीव धर्मात्माओं से प्रसन्न रहते हैं। परन्तु वस्तु का परिणमन का स्वभाव ऐसा है कि निर्मल मीठा जल मैले की संगति पाकर मैला हो जाता है उसी प्रकार धर्मी जीव यदि पापी की संगति कर लेता है तो स्वयं भी पापाचारी हो जाता है। जो वेश्या से, व व्यभिचारिणी परदारा से प्रीति करेगा वह अवश्य एक दिन डूब जावेगा। उसी तरह जो मिथ्याधर्मी जनों से प्रीति व्यवहार करेगा वह भी धीरे २ सम्यक् रत्नत्रय धर्म को खो देगा। यहां दो बाते जानने की हैं कि प्रीति का अर्थ क्या है और वह प्रीति कहां किससे करनी चाहिये। आज के समय के अनभिज्ञ प्राणियों ने वात्सल्य का अर्थ ऐसा समझा है कि सर्वत्र सब में भेद भाव को उठा कर एकपने को धारण करना ही सच्ची प्रीति है। परन्तु ऐसा समझना उनकी भूल है। संसार में दोनों ही प्रकार के पदार्थ हैं एक पदार्थ निर्मल है और एक समल है। अगर निर्मल, समल का भेद उठाकर दोनों एकत्व को प्राप्त करें तो इसका अर्थ यह होगा कि निर्मल वस्तु उठाकर केवल समल (मैला) वस्तु ही रह जावेगी उसी प्रकार धर्मी और पापी (अनाचारी) दोनों एकत्व को प्राप्त करें तो

उसका परिणाम क्या होगा कि धर्मी (सदाचारी) न रह कर केवल अनाचारी जीव ही रह जावेंगे। धर्म की परिणति भिन्न है यह त्यागवृत्ति को लिए हुए है। अधर्म की प्रवृत्ति में अग्राह्य अभक्ष्य वस्तु का त्याग नहीं है। जो मद्य, मांस नहीं खाते हैं उनको सारा संसार अच्छा कहता है परन्तु जिन में मद्य, मांस की त्यागवृत्ति नहीं है उनको आचार विचार विहीन कहा जाता है। इन दोनों भिन्न प्रकार की परणति को बिना समझे एकपने की भावना बनाने वाला गलती करता है और वह अपने निर्मल धर्म को खो देता है। आचार विचार को खो देने का अर्थ जो एकता समझते हैं यह उनकी बुद्धि की मलिनता है। वास्तव मे एकता यह है कि सब प्राणी मात्र को अपने समान जानते हुए किसी को नहीं सताना, दुख नहीं पहुँचाना, उनके दुख दूर करना, उनको शिक्षा देकर यथायोग्य धर्म का लाभ कराना, मगर अपने चारित्र-रत्न को खो देना एकता नहीं है। खान पान में एक होने का नाम ही अगर एकता है तो जर्मन, फ्रांस, लन्दन, रूस इत्यादि देशों के प्राणियों में खान पान मे एकता होते हुए भी एकता का अंश भी नहीं है। दरअसल द्वेष भाव छोड़कर स्वार्थ को त्याग किये, एकता होती है। यहां घर में एक बाप के चार बेटे एक थाली में एक साथ खाते हैं परन्तु अपने अपने स्वार्थ के खातिर एक दूसरे से घृणा करते हैं, द्वेष करते हैं, एकता बिल्कुल नहीं रखते हैं, यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं। इसलिये ज्ञान नेत्र को खोलकर एकता को समझना चाहिये और केवल अनाचारी लोगों के साथ खान पान में एक हो जाने को एकता नहीं समझना चाहिये। काल दोष से जीवों के भाव गिरते चले गये हैं और गिरते जा रहे है। संसार धन का उपासक विशेष रूप से हो गया है और इस धन लोभ की उग्रता 'एकता' को भक्षण करती चली जा रही है। उपदेश एकता के दिये जा रहे हैं मगर वे एक पंक्ति में बैठकर भोजन करने वाले ही एकता से नाराज हैं। देश में नाना प्रकार की पार्टियां बन रही हैं, सब को राज्यभोग की लिलिप्सा ने घेर लिया है और आज देश में एकता की हानि होती चली जा रही है। परस्पर में एक पार्टी दूसरी पार्टी को पछाड़ देने की फिक्र में लगी हुई है। हाय धन, हाय धन की चौतरफा से आवाज उठ रही है। अब आप स्वयं ही सोच लेवें कि एकता का अर्थ भोजन पान की एकता है या स्वार्थ त्याग की भावना का नाम एकता है। वस्तु के स्वरूप को समझें। अपने धर्म की रक्षा करते हुए उज्ज्वल परोपकार के भावों का धारण करना तथा यथायोग्य परोपकार करना ही एकता का मार्ग है, खान पान की एकता, एकता का मार्ग नहीं है। इसका अर्थ किसी जीव से घृणा करना व अपमान करना नहीं है। मद्य, मांस का त्यागी मद्य, मांस के भक्षी के साथ खान पान में यदि शामिल नहीं होवे तो इसमें उसका अपमान नहीं है। किन्तु मद्य, मांस का त्याग करना चाहिये यह उस मद्यपी के लिये उपदेश है। आचार्यों ने कहा है कि मद्य, मांस का त्याग तो सबको अवश्य ही करना चाहिये। जब आप संसार के प्राणी मात्र से प्रीतिभाव करना चाहते हैं तो कम से कम उनका खाना तो अवश्य छोड़ देना चाहिये। किसी भी धर्म में किसी जीव को खाने का उपदेश नहीं है। जीवमात्र में दया करना असल में सच्ची प्रीति है।

इस ऊपर के कथन से समझ में आ गया होगा कि प्रीति-वात्सल्य क्या वस्तु है। अब उसके तीन भेद जो बनते हैं वे बताये जाते हैं। संसार के प्राणी मात्र की हित की भावना बनाना, उनके दुःखों को दूर करने का भाव बनाना, दुःखी जीवों के प्रति दया भाव बनाना, किसी जीव को नहीं सताना यह जीव मात्र के प्रति प्रथम प्रीति है। तथा अपने पूज्य गृहजनों में भक्ति धारण करना, अपने पूज्य गृहजनों की, कुटुम्बीजनों की, सेवा करना दूसरी व्यवहार प्रीति है। और जिन प्रवचन और चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव से लेकर ऊपर के गुणस्थानवर्ती तथा गुणस्थानातीत जीवों की भक्ति तथा धर्म, और धर्मायतनों

की भक्ति तीसरी धार्मिक प्रीति है। यह रत्नत्रय के भेदों के तर तम भेद की अपेक्षा से नाना भेद रूप है।

यहां गृहस्थ जीव के तीनों प्रकार की ही प्रीति हो सकती है परन्तु गृह त्यागी जीवों के प्रथम और तृतीय प्रीति होती है। यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि राग भाव मोहनी कर्म का कार्य है उसका उपदेश क्यों दिया गया है इसका ऐसा जवाब जानना कि राग भाव के २ भेद हैं। एक शुभ राग भाव दूसरा अशुभ रागभाव। यहां अशुभ रागभाव जो अनन्त संसार का कारण है उसको छुड़ाने का ही प्रयोजन है इस प्रकार प्रीति को बताकर प्रीति किस में करनी चाहिये इसको बताते हैं।

सुख क्या है सुख का मार्ग क्या है इसको बताने वाले जिन प्रवचन (शास्त्र) ही हैं इस जीव का सच्चा कल्याण करने वाले जिन प्रवचन ही हैं। बुद्धिमान की बुद्धिमत्ता वास्तविक में यही है कि वह अपने कल्याण करने वाले जिन वचन का आश्रय लेवे और उसकी भक्ति-प्रीति हृदय में धारण कर कल्याण के मार्ग को अपनावे। ससार में सभी शास्त्र अपने को सच्चे शास्त्र कहते हैं परन्तु शास्त्र वे ही सच्चे हैं जो वीतराग देव की वाणी हैं। जिन ने जिनवाणी की भक्ति की है इसमें प्रीति धारण की है उन ने ही मोक्ष की प्राप्ति की है। इसलिये जिनवचन की भक्ति प्रीति सदा हृदय में धारण करनी चाहिये। इसी प्रकार संसार में धर्म तो बहुत हैं परन्तु सच्चा धर्म भगवान् अर्हन्त देव का कहा हुवा ही है। अन्य धर्म संसार में भ्रमावने वाले हैं, हिंसा मार्ग के पोषक हैं, आत्मा का हित करने वाला एक वीतराग धम ही है। इसलिये जिनधर्म में अटूट श्रद्धा भक्ति को धारण करना भव्य जीव का कर्तव्य है। और इसके साथ में ही जिनधर्मी जीवों के साथ प्रीति-भक्ति का होना परम श्रेय और परम कल्याणकारी है। तथा जिन-धर्म के आयतन मसलन कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालय, जिनालय, अर्हद् बिम्ब, सिद्धबिम्ब, आचार्यादि के बिम्ब तथा तीर्थक्षेत्र, अतिशय क्षेत्र, सिद्ध क्षेत्र, निर्वाण क्षेत्र मे सब परम पूज्य हैं इनका दर्शन, वन्दन, स्तवन, गुण गायनादि अनुराग युत करना सब परम वात्सल्य है। तथा सम्यग्दृष्टी जीव, अणुव्रती जीव, महाव्रती जीवों में परम अनुराग सहित भक्ति का होना परम कल्याणकारी वात्सल्य है।

जिस प्रकार ससारी जीव की संसार के कार्यों में अटूट प्रीति होती है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टी जीव की देव, गुरु, शास्त्र मे अटूट भक्ति व प्रीति होती है। इसमें जीव का सम्यक्त्व गुण ही कारण है। सम्यग्दृष्टी की प्रीति जो धर्म में होती है वह अन्य वस्तु में नहीं होती, कारण वह असली बात को समझता है। मिथ्यादृष्टी जीव को बारम्बार समझाने पर भी धर्म में रुचि नहीं होती, मिथ्यात्व मोहनी बड़ी बलवान् है। सम्यग्दृष्टी जीव व्रती धर्मात्मा तथा महाव्रती को देखकर अधिक से अधिक प्रसन्न होता है परन्तु जिसके मिथ्यात्व का उदय होता है वह धर्मात्मा व्रती जीव को देखकर चित्त में दुःखी होता है और महाव्रती को आया देखकर तो परम दुःखी हो जाता है और कहने लगता है कि यह नंगा कहां से आ गया। यह बड़ा निर्लज्ज है इसके दर्शन अकल्याणकारी हैं ऐसा मिथ्यात्व के उदय से बकने लग जाता है।

यह षोडश कारण भावना सम्यग्दृष्टी जीव ही धारता है अतः यह प्रवचन वात्सल्य भी सम्यक्त्वी जीव ही उत्तम रीति से धारण करता है। परन्तु उपदेश प्राणी मात्र के लिये है यथाशक्ति सभी जीव धारण करें। जितनी प्रीति यह जीव संसार के पदार्थों में धारता है उसके शतांश भाग भी अगर यह धर्म से प्रीति करे तो मोह कर्म को स्वल्पकाल में ही नाश कर केवल ज्ञान लक्ष्मी को प्राप्त कर सकता है।

इस तरह प्रवचन वात्सल्य के स्वरूप को समझकर इसको धारण करना चाहिये और इसकी भावना भावनी चाहिये तथा "ॐ ह्रीं प्रवचन वात्सल्याय नमः" इस मन्त्र का जाप्य करना चाहिये अष्ट द्रव्य से पूजा करना चाहिये। स्तवन गुण गान करना चाहिये। जो भी प्राणी इस भावना को भावेंगे वे अवश्य निर्वाण के पात्र होवेंगे।

इस प्रकार षोडश भावना का थोड़ा स्वरूप हमने जयपुर (राजस्थान) में चातुर्मास के समय में जो भाद्रपद में जीवों को उपदेश दिया था उसको लिखित रूप में भव्य जीवों के हित के लिये यहाँ लिखा है। भव्य जीव इसे पढ़कर धर्म का लाभ प्राप्त करें, यह ही हमारी अन्तिम भावना है।

प्रवचन नं० १०८

स्थान— तिथि—

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली। भाद्रपद शुक्ला ५ बुधवार, २१ सितम्बर १९५५

उत्तम-क्षमा

संसार में प्रत्येक मानव प्राणीमात्र के लिये क्षमा रूपी शस्त्र इतना आवश्यक है कि जिनके पास यह क्षमा नहीं होती वह मनुष्य संसार में अपने इष्ट कार्य की सिद्धि नहीं कर सकता है।

क्षमा यह आत्मा का धर्म है, इसलिये जो मानव अपना कल्याण चाहता है उसे हमेशा इस भावना की रक्षा करनी चाहिये, क्षमावान् मनुष्य का इस लोक और परलोक में कोई शत्रु नहीं होता है। क्षमा ही सर्व धर्म का सार है। क्षमा ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप आत्मा का मुख्य सच्चा भण्डार है। जैसे कि—

उत्तम क्षमा गुण गण सहयारी।
उत्तम खम मुणि विंद पयारी॥
उत्तम खम बहुयन चिन्तामणि।
उत्तम खम संपं जइ मणि॥

उत्तम क्षमा गुणों के समूह के साथ रहने वाली है अर्थात् उत्तम क्षमा के होने से अनेक गुण प्रगट हो जाते हैं। यह उत्तम क्षमा मुनियों को बड़ी प्यारी है। श्रेष्ठ मुनिजन इसका पालन करते हैं। यह उत्तम क्षमा विद्वानों के लिये चिन्तामणि है अर्थात् चिन्तामणि रत्न के समान है इच्छित पदार्थों के देने वाली है। इसी तरह विद्वानों को उत्तम क्षमा से इच्छित ज्ञानादिक प्राप्त होते हैं, ऐसी यह उत्तम क्षमा चित्त की एकाग्रता होने से उत्पन्न हो जाती है।

क्षमा वीरस्य भूषणम्—

अर्थात् क्षमा धर्म वीर पुरुष का भूषण है। जिनके पास क्षमारूपी शस्त्र है, उनका शत्रु क्या कर सकता है? बैरी को जीतने में देर नहीं लगती है। क्षमावान् मनुष्य हमेशा सुखी रहता है। क्षमा वाले पुरुष का संसार में कोई भी शत्रु नहीं है।

क्षमावान् पुरुष हमेशा गम्भीर रहता है, क्रोधी मनुष्य हमेशा दुबला-पतला रहता है, क्रोधी मनुष्य का कोई भी विश्वास नहीं करता है। क्रोधी अपने और पर का भी घात कर डालता है। क्रोधी

मनुष्य की आँख हमेशा लाल रहती है, जिस समय उनको क्रोध आता है तब उनका सारा शरीर कांप उठता है और उनको सुध-बुध नहीं रहता है अनेक अनर्थों को कर बैठता है। और धर्म कर्म आदि सभी बातों को भूल जाता है।

धृति समन्वित

सात्विक प्रवृत्तिका मनुष्य धृतियुक्त होता है। अनेक विघ्न आने पर भी भीतर की अंतःकरण प्रवृत्ति में तिलमात्र भी अंतर नहीं पड़ता है, और खेद खिन्न नहीं होता है, शान्ति पूर्वक सह लेता है इस प्रकार शांति पाने के लिये संयम का अभ्यास करना पड़ता है। इसका अभ्यास तभी हो सकता है जब अपनी इन्द्रियों के काबू में लाने के लिये बाहरी विषय लोलुपता को घटाना और अपने संयम में लोलुपता को बढ़ाना, इन्द्रिय वासना कम होते भी पर द्रव्य के प्रति लालसा घटती जाती है, तब क्रोध मात्रा कम होती जाती है। अपनी आत्मा में उत्सुकता और शरीरादि परद्रव्य में निरुत्सुकता होती है, तब संपूर्ण प्राणी मात्र को आप समान मानता है, और पर को पर वस्तु। अपने आत्मा को आप मानता है। जब मन में शत्रु मित्र के प्रति समानता है तब दूसरे जीवों के प्रति क्रोध या द्वेष अहंकार भावना नहीं करता है। क्रोध ही महान् शत्रु है यह क्रोध चारों गतियों में भ्रमण कराने वाले कौन कौन से अनर्थ नहीं करता है ? सब कुछ कर डालता है। इसलिये सज्जन पुरुष क्रोध से दूर रहता है। ज्ञानी सज्जन पुरुष पर कदाचित् कोई शत्रु दुष्टता से मार दे या अनेक उपद्रव खड़े कर दे तो भी अपनी क्षमावृत्ति को कभी त्याग नहीं करता है। जैसे कहा भी है कि—

दग्धं दग्धं त्यजति न पुनः कांचनं दिव्यवर्णम्।
घृष्टं घृष्टं त्यजति न पुनश्चंदनं चारुगन्धम्॥
खंडं खंडं त्यजति न पुनः स्वादुता मिक्षुदंडम्।
प्राणान्तेऽपि प्रकृति विंकृतिर्जायते नोत्तमानाम्॥

बार बार जलाये और तपाये जाने पर भी सोना अपने सौन्दर्य को नहीं छोडता बल्कि जितना तपाया जाता है उतना ही चमकता है। बार बार घिसने पर भी चन्दन अपना स्वभाव न छोड़कर सुगन्ध को ही फैला देता है। ईख (गन्ना) टुकड़े टुकड़े करने पर भी अपने मीठेपने को नहीं छोड़ता है, उसी प्रकार उत्तम पुरुषों की प्रकृति किसी भी अवस्था में विकारमय नहीं होती है।

अर्थात् कैसी भी आपत्ति आने पर भी क्षमावान् मनुष्य अपने स्वभाव से च्युत नहीं होता और शान्ति पूर्वक अपने ऊपर आई हुई आपत्ति को सहन कर धैर्यशाली या बलशाली बनजाता है, उसीको लोग

शूरवीर कहते हैं। पूर्व जन्म में किये हुए कर्म का बदला यह मनुष्य मुझ से ले रहा है सो कोई बात नहीं। क्योंकि मैंने पूर्व जन्म मे इसके साथ क्रोध किया होगा इसलिए मुझसे बदला ले रहा है। यदि कोई मुझे पापी, चांडाल, अन्यायी, अत्याचारी, असभ्य, कुवचन बोलता है तो कोई हर्ज नहीं है। इससे मेरे कर्म की निर्जरा होती है।

यदि सज्जन क्षमावान् मनुष्य को कोई दुर्वचन कहे या अकुलीन कहे तो अपने मन में ऐसा विचार करता है कि ये तो मेरा नाम ही नहीं है, और जाति नहीं है, मैं तो परम पवित्र स्वरूप आत्म-ज्योतिरूप परमानन्द अविनाशी परब्रह्मस्वरूप परमात्मा वही मैं हूँ, वही मेरा आत्मा है। आत्मा का नाम तो नहीं है। फिर मुझे गाली से, निंदा से, दुर्वचनों से उन पर क्रोध करना उचित नहीं है। फिर अपने आत्मा को समझाता है कि हे आत्मन्! तुम अनेक जन्म में चोर, जार, जुगार तथा कूकर, सूकरादि योनियों में तिर्यंच पापी व अधर्मी आदि नीच पर्याय को धारण करके आये हो, तो कूकर सूकर व चांडालादि कहने से दुःखी क्यों होते हो? क्योंकि जीव इस प्रकार के कुवचन कहने से संक्लेशित होता है उसे पुनः चतुर्गति में पड़कर नाना प्रकार के दुःख उठाने पड़ते हैं। अतः जब हम सब उपरोक्त नीच-ऊँच योनि में जन्म ले चुके हैं तब हम शोक क्यों करें? निन्दक लोगों को हमारे प्रति ऐसा समझना चाहिये कि वे हमारे भीतर के मैल को बिना रुपया पैसा व साबुन के ही साफ कर रहे हैं। ऐसे उपकारियों के साथ यदि हम ईर्ष्या द्वेष करें तो हमारे जैसा अधम कौन।

इस प्रकार क्षमावान पुरुष अपनी आत्मा को समझाकर अपने क्षमा-भाव से च्युत नहीं होता है। आज के युग में इस भारत भूमि में इस भारतवर्ष को महात्मा गांधी ने केवल निःशस्त्र अर्थात् क्षमारूपी शस्त्र से भारत भूमि को हस्तगत कर भारतवासियों को स्वतन्त्र करा दिया है और जिन जिन महान् ऋषि मुनियों ने आत्म-सिद्ध कर लिया उन्होंने केवल क्षमारूपी शस्त्र से कर्म वैरी को जीतकर अखंड मोक्षरूपी साम्राज्य को हस्तगत कर लिया है। अगर मानव प्राणी सम्पूर्ण विश्व को हस्तगत करना चाहता है तो उसके वश करने के लिये क्षमा मन्त्र ही एक महामन्त्र है अन्य कोई साधन नहीं। इससे दुर्जन भी सज्जन बन जाता है। इसलिये मानव प्राणी को अपने और पर-हित के लिये क्षमा भाव का साधन भी करते रहना चाहिये।

नीतिकार ने भी कहा है कि

जो धीर वीर पुरुष है वह क्षमा से नहीं डिगता है—

कदर्थिं तस्यापि हि धैर्य्य वृत्ते बुद्धे र्विनाशो नहि शंकनीयो।

अधः कृतस्यापि तनूनपातो नाधः शिखा याति कदाचिदेव॥

धीर वीर मनुष्य की प्रकृति या बुद्धि उत्पीड़ित होने पर भी किसी प्रकार से विकृत हो सकती है इस प्रकार की आशंका करना व्यर्थ है। अग्नि को कितना ही नीचे की ओर क्यों न दबाइये उसकी लपट सदा ऊपर को ही जायगी।

ऐसे ही महापुरुषों की वृत्ति (भीतर का क्षमारूपी तेज) हमेशा शत्रु से न डरकर शत्रु से दबाये जाने पर भी उनकी शान्तवृत्ति दूसरों के उपकार के प्रति ही दौड़ती है।

क्रोधी क्या क्या नहीं करता? सब कुछ कर डालता है। क्रोधी सम्पूर्ण धर्म को लोप कर देता है, और माता, पिता, स्त्री, पुत्र, बालक, स्वामी, सेवक तथा अन्य मित्र, कुटुम्ब इत्यादि किसी को भी नहीं छोड़ता, सभी को मार डालता है। तीव्र क्रोधी स्वतः ही विष खाकर शस्त्र से या छुरी या चाकू इत्यादि से अपनी आत्म हत्या कर लेने में पीछे नहीं हटता है। पर्वतादि से नीचे गिरकर प्राण भी दे देता है, अगर कोई अन्य मनुष्य उसको समझाने भी जाय तो उनका भी घात करता है। जिनकी क्रोध प्रकृति है वे मनुष्य किसी का उपकार, दया या अन्य सेवा सुश्रुषा भी नहीं करते हैं। क्रोध ऐसा है कि ये अग्नि के समान मनुष्य के भीतर से उत्पन्न होकर शरीर तक को पूरा जला देता है। बड़े बड़े महान् तप से युक्त तपस्वियों को भी इस क्रोध ने नहीं छोड़ा है। जिन्होंने क्रोध को जीता वह अपने कर्म शत्रुओं को जीतकर निर्वाण पद प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं।

क्षमावान् पुरुष को पृथ्वी की उपमा दी गई है, जैसे पृथ्वी सम्पूर्ण महान् २ पहाड़, पत्थर, वृक्ष, नदी, सरोवर, नीचे ऊँचे मनुष्य, पशु-पक्षी इत्यादि का सम्पूर्ण भार अपने आप सह लेती है। उसी प्रकार क्षमावान् मनुष्य पृथ्वी के समान ऊँच नीच लोगों के द्वारा होने वाले असह्य उपसर्ग, निंदा, गाली, तिरस्कार इत्यादि को सहन करते हुए अपने क्षमा भाव को नहीं छोड़ता है। शायद क्षमावान् पुरुष यह विचारता है कि मैंने पूर्व भव में इसका कुछ अपकार किया है। यह उसका बदला चुका रहा है। इसे शान्ति पूर्वक सह लेने से मेरे अशुभ कर्मों की निर्जरा होगी। फिर मैं क्रोध क्यों करूँ।

स्थान— तिथि—
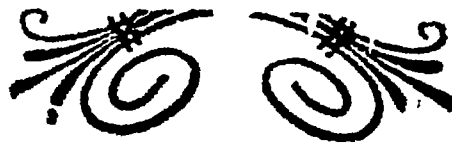
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली। भाद्रपद शुक्ला ६ बृहस्पतिवार २२ सितम्बर

प्रवचन नं० १०६

उत्तम मार्दव धर्म

मृदुभाव आत्मा का स्वभाव है, मृदुता आत्मा के सरल परिणाम को कहते हैं। जैसे कि—

मृदुत्वं सर्व भूतेषु कार्यं जीवेन सर्वदा।
काठिन्यं त्यज्यते नित्यं धर्म बुद्धिं विजानता॥

जो जीव धर्म बुद्धि को जानते हैं। ऐसे जीवों को उचित है कि समस्त जीवों में हमेशा मृदुभाव अर्थात् सरल भाव रखना चाहिये, कठोर भाव का त्याग करना चाहिये।

उत्तम णाण पहाणो, उत्तमतवयरण करण सीलोवि।
अप्पाणं जो हीलदि, मद्दवरयणं भवे तस्स॥३९५॥

—कीर्ति

जो ज्ञानी पंडित हो तो भी ज्ञान मद नहीं करना चाहिये। यह विचारना चाहिये कि मेरे से बड़े बड़े और भी बहुत से ज्ञानी लोग हैं, बड़े २ ऋषि मुनि केवली भगवान् यह सभी विद्यात्मज्ञानी हैं, ज्ञान मद करना मेरी भारी मूर्खता है। मैं एक अल्पज्ञानी हूँ व्यर्थ ज्ञान मद करना मुझे शोभा नहीं देता है, इस प्रकार ज्ञानी को विचार कर कभी भी ज्ञान का मद नहीं करना चाहिये।

धनमद—ये मामूली सी पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से कुछ संपत्ति मुझे मिली है यह सभी पूर्व जन्म के पुण्य के प्रताप से मिली हुई है परन्तु यह क्षणिक और इंद्रियजनित होकर संसार में अनेक इंद्रिय वासनाओं को बढ़ाने वाली है। जब बड़े २ सम्पत्ति शाली तीर्थंकर, चक्रवर्ती तथा स्वर्ग में कुबेर इत्यादि की सम्पत्ति स्थिर नहीं रही, एक दिन पुण्य खतम होते ही उनको छोड़कर जाना पड़ा, फिर मैं क्षणिक सम्पत्ति के पीछे गर्व करूँ तो मेरे समान अधम या मूर्ख कौन होगा? इसी तरह जातिमद, कुलमद रूपमद, तपमद, पूजामद इत्यादि मद हैं। यह मद स्थिर रहने वाले नहीं हैं और ये संसार में आपस में विरोध पैदा कर क्रोध को बढ़ाने वाले और मान अपमान इत्यादि को उत्पन्न कर मानहानि के अलावा और कुछ नहीं हैं। ऐसे विचार कर ज्ञानी लोग कभी भी गर्व नहीं करते हैं। सम्पूर्ण मानव प्राणी के साथ नम्रता का व्यवहार करते हैं। जो नम्रता का व्यवहार करते हैं उनके इस संसार में कोई भी शत्रु नहीं होते हैं।

मार्दव धर्म आत्मा अर्थात् निजात्म स्व स्वरूप का धर्म है। जहां मृदु भाव या नम्रता नहीं है वहाँ धर्म भी नहीं है। और वहां नियम व्रत, तप, दान, पूजा इत्यादि जो मानव करता है विनय भाव के बिना सभी व्यर्थ गिनाया जाता है। और कहता है कि मैंने ऐसा किया जो भी किया मैंने किया अन्य कोई भी मेरे समान किया नहीं, इस तरह कह कर जो मान कषाय करता है वह अपनी आत्मा को ठगताहै और दुनियां को भी ठगाया समझना चाहिये। अहंकारी पुरुष मान कषाय के कारण दूसरे के प्रति झुकता नहीं और आपस में जुहार इत्यादि भी अहंकार के वजह से नहीं करता है। सूखे बांस के समान सीधा ही रहता है। जैसे सूखा बांस नम्र नहीं होता है अगर उसको ज्यादा जोर से झुकाया जाय तो बीच में से ही टूट जाता है उसी प्रकार अहंकारी मनुष्य अन्दर नम्रता न होने के कारण अहंकार से किसी के साथ नम्रता न कर आपस में बैर होने से खुद का नाश कर लेता है और लोग मानी पुरुष के साथ हमेशा द्वेष भाव रखते हैं और बार बार उसका अपमान करने के लिये प्रयत्न करते हैं तब मानी पुरुष को अपमान होने की महान् चिन्ता होती है और रात दिन आर्त ध्यान करता रहता है। जो हमेशा विनम्र रहता है उसकी सभी लोग विनय करते हैं। कदाचित् विनयी मनुष्य पर शत्रु आक्रमण भी करने आए तो उनके सामने विनम्र होकर वह खड़ा होजाता है, तब उसकी विनम्रता को देखकर शत्रु भी मित्र बन जाता है, जैसे नदी में छोटा सा घास होता है, उस घास के ऊपर से जब जोर से पानी का वेग चलता है तब वह घास अपने को बचाने के लिये पानी में विनम्र हो जाता है तब अपना बचाव कर लेता है, इसी प्रकार विनम्र सज्जन पुरुष की वृत्ति रहती है। ज्यादा मान करने वाले की गर्दन बहुत ऊँची होती है उसे मान कषाय की वजह से मर कर ऊंट की योनि में जाकर जन्म लेना पड़ता है। जैसे ऊंट हमेशा ऊपर को देखता है और कहता है मेरे समान कोई भी ऊँचा नहीं है। जब पर्वत सामने आता है तब उसको देखकर, उसको लज्जित होकर अपनी गर्दन को नीचा कर लेना पड़ता है।

यह आत्मा अनादि काल से क्षणिक इन्द्रिय सुख के प्रति गर्व करके नरक में चला गया था तब तेरा मद या अहंकार कहाँ चला गया? रावण अहंकार के कारण लक्ष्मण द्वारा मारा गया और अन्त में उनको नरक में जाना पड़ा। तब वहां बड़प्पन कहां गया। वहां से फिर नीच कुल में जन्म लिया तब इस जीव का बड़प्पन कहां चला गया। एकेन्द्रिय, द्विइंद्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय इत्यादिकों में जब तू ने जन्म लिया और वहाँ नीच जीवों के द्वारा पांव के नीचे तुझे ठुकराया जाता था तब तुम्हारा बड़प्पन कहां चला गया था। इसलिये जीव को क्षणिक वस्तु के प्रति अहंकार करना महा मूर्खता का कारण है और अन्त में नीच गति का कारण है।

ज्ञानी पुरुष कभी भी सांसारिक क्षणिक वस्तु के प्रति कभी भी गर्व नहीं करता है। सच्चा पुरुष हमेशा नम्र होता है। विद्या इत्यादि का घमंड या श्रीमानी का घमंड न करके हमेशा छोटे बड़े जीवों के

प्रति उपकार की दृष्टि रखता है, जैसे नारियल का झाड़ स्वयमेव ऊँचा रहता है और अपने शिर पर श्रीफल का बोझा लेकर आप स्वयमेव न खाकर दूसरे जीवों के प्रति नम्र होकर गर्मी के दिनों में मीठे २ पानी पिलाने की याचना करता है। आम का झाड बहुत से फल अपने से उत्पन्न करता है परन्तु उन फलों को स्वयमेव न खा कर गर्मी में नम्र होकर अर्थात् झुककर दूसरों को दे देता है।

आजकाल के अहंकारी लोग—थोड़ी सी क्षणिक सम्पत्ति मिल जाय तो वे आसमान से ज्यादा ऊँचे बन जाते हैं और किसी मामूली या धर्मात्मा तथा सज्जन पुरुष को देखकर उनकी कभी विनय या आपस में जुहार इत्यादि करना तथा हाथ जोड़ने में अपना अपमान समझते हैं। इसलिये दूसरे लोग भी बात-बातों में उनका तिरस्कार करते हैं। यानी मनुष्य देव शास्त्र गुरु के प्रति विनय करनेमें भी हिचक जाता है। कदाचित् मन्दिर में भगवान् के दर्शन करने जाय तो मस्तक झुकाकर नमस्कार करना भी अनिवार्य होता है। इसलिये मन्दिर या साधु सत्पुरुषों के पास भी नहीं जाता है।

विनय रहित मनुष्य हमेशा धोका ही खाता है। इसलिये आत्म-कल्याण-पिपासी भव्य मानव को हमेशा विनय रखना चाहिये। विनय बिना मोक्ष की प्राप्ति भी दुर्लभ है। कहा भी है कि—

विद्या विनेयोपेता, हरति न चेतांसि कस्य मनुजस्य।
काञ्चन मणि संयोगो, नो जनयति कस्य लोचनानंदम् ॥

विद्या विनय सहित हो तो किसके मन को हरण नहीं करती, जिस प्रकार स्वर्ण में मणि का संयोग हो तो किसके मन को हरण करने वाला नहीं होता अर्थात् सभी के मन को आकर्षित करने वाला होता है। इसलिये मनुष्य को हमेशा विनय गुण प्रत्येक बड़े छोटे के साथ रखना चाहिये।

अहंकार का त्याग भी अपना कल्याण है—

अहंकार त्यागने का अर्थ यह है कि मनुष्य अपने को दूसरों से श्रेष्ठ एवं बुद्धिमान् और दूसरों को अपने से तुच्छ एवं मूर्ख समझकर उनको अपमानित न करे, अधिकारी तथा धन-सम्पन्न होकर भी स्वामित्व का गर्व प्रदर्शित न करे। अल्पज्ञ होकर ज्ञान दुर्विदग्ध न बने, छोटे मुँह बड़ी बात न करे और बड़प्पन न कर मोह त्याग दे। किसी को यह न सोचना चाहिये कि जो कुछ वह करता है वही ठीक है। प्रत्येक को यह मानना चाहिये कि भूल उससे भी होती है। किसी की साधारण आलोचना को अपने व्यक्तित्व पर आक्रमण नहीं समझना चाहिये। आलोचना से लाभ लेकर अपने दोषों को सुधारना चाहिये। छोटे-छोटे व्यक्ति का उपहास नहीं करना चाहिये। और आवश्यकता पड़ने पर सत्कार्य की सिद्धि के लिये उसी प्रकार झुक जाना चाहिये। अपने से बड़े या गुणवान् धर्मात्मा को देखकर उनका सत्कार करना बड़ों की आज्ञा को मानना, उनके बोलते समय बीच में नहीं बोलना, बड़ों के पीछे पीछे चलना, गुरु के आगे न चलकर उनके पीछे चलना, उनके वचन को पालना, इत्यादि विनय की बातें हमेशा याद रखना और उसी के अनुसार चलना तभी विनय कहा जाता है। अर्थात् लोक-लज्जा का ध्यान रखना शिष्टाचार का एक आवश्यक अंग है। लज्जावान् होना प्रत्येक मानव प्राणी का कर्तव्य है? ये ही मानवता का कल्याण-मार्ग है, इसलिये हमेशा अपने भाव को नरम रखना प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है।

स्थान— तिथि—
श्री दिगम्बर जैन मंदिर, कूचा सेठ, दिल्ली। भाद्रपद शुक्ला ७ शुक्रवार २३ सितम्बर १९५५

प्रवचन नं० ११०

उत्तम आर्जव धर्म

"ऋजोर्भावः इति आर्जवः" अर्थात्—आत्मा का स्वभाव ही सरल स्वभाव है, इसलिये प्रत्येक प्राणी को सरल स्वभाव रखना चाहिये। यह आत्मा अपने सरल स्वभाव से च्युत होकर पर-स्वभाव में रमते हुए कुटिलता से युक्त ऐसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चारों गतियों में भ्रमण करते हुए टेढेपने को प्राप्त हुआ है। इसके इस स्वभाव के निमित्त से यह आत्मा दिखावट, बनावट, छल, कपट और पापाचार इत्यादि को प्राप्त होकर आप दूसरों के द्वारा ठगाने वाला हुआ है।

जब यह आत्मा मन, वचन, काय से सम्पूर्ण परवस्तु से विरक्त होकर आप आप में रत होता है तब यह जीवात्मा अपने सरल स्वभाव को प्राप्त होकर पर-वस्तु से भिन्न माना जाता है तभी यह सुखी हो जाता है।

मायाचार से युक्त पुरुष प्रायः ऊपर से हितमित वचन बोलता है और सौम्य आकृति बनता है। अपने आचरणों से लोगों को विश्वास उत्पन्न कराता है। अपने प्रयोजन साधने के लिये विपक्षी की हां में हाँ मिला देता है किन्तु अवसर पाते ही वह मनमानी घात कर बैठता है। मायावी पुरुष का स्वभाव बगुले के समान बहुत कुछ मिलता जुलता है। अर्थात् जैसे बगुला पानी में एक पांव से खड़े होकर नाशादृष्टि लगाता है और मछली उसे साधु समझकर ज्यों ही उसके पास जाती हैं त्यों ही वह छद्मवेषी बगुला झट से उन मछलियों को खाजाता है। बिल्ली चुपचाप दबे पांव मौन धारण किये हुये बैठी रहती है, परन्तु जैसे ही कोई मूसा उसके निकट पहुँचता है वैसे ही वह चट से खा लेती है। इस पर एक बहुत सुन्दर दृष्टान्त दिया जाता है। एक बार एक बिल्ली किसी के घर में घुसकर दूध की हांडी में मुँह डालकर दूध पी रही थी कि इतने में मालिक आ पहुँचा। उसके भय से बिल्ली अपना मुँह शीघ्रता से निकालने लगी कि हांडी का घेरा टूटकर गले में एक अद्भुत हार बन गया। गले में हांडी का घेरा टँगा रहने के कारण वह बिल्ली अधिक दौड़ कूद नहीं सकती थी और इसी कारण वह किसी मूसे को न पकड़ सकने के कारण भूखी मरने लगी। अन्त में उसने एक ऐसा षड्यन्त्र रचना प्रारम्भ किया कि वह मूसों के एक बिल के सामने जाकर बैठ गई। उस रास्ते से उस विशाल बिल में हजारों चूहे जाया करते थे। परन्तु बिल के पास बैठी हुई बिल्ली को देखकर सभी चूहे डर गये और बिल में न जाकर

वापिस लौटने लगे। पास में आये हुये शिकार को वापिस लौटता हुआ देखकर बिल्ली बोल उठी कि भाई तुम लोग क्यों वापिस लौट पड़े ? चूहों ने कहा कि हमारी तुम्हारी शत्रुता अनादि काल से चली आरही है और तुम हमारे वंशजों को खाते चली आ रही हो। इसलिये हम तुम्हारा विश्वास कैसे करें ? बिल्ली कहने लगी कि भाई ! तुम्हारा कहना बिल्कुल सत्य है; परन्तु हम एक बात तुम लोगों से कहना चाहती हैं। उसे तुम ध्यान से सुनो और उसके बाद तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो। यद्यपि हम अभी तक तुम्हारे वंशजों का नाश करती हुई चली आ रही हैं, तथापि अभी २ हाल में हम बनारस तीर्थयात्रा करने के लिये गई थीं। वहाँ पर जाकर हमने हिंसा त्याग करने का व्रत लिया था यदि विश्वास न हो तो देख लो हमारे गले में माला लटक रही है। अभी तक तो हमने अनेक जीवों की हिंसा करके तमाम पाप कमाये हैं, अतः अब वृद्धावस्था में कुछ धर्म ध्यान करना चाहिये। उस बिल्ली की बातों में आकर सभी चूहे निर्भय होकर बिल में प्रवेश करने लगे। पहले तो उसने दश पांच चूहों को छोड़ दिया, किन्तु बाद में वह अनेक चूहों को चट कर गई। जब सभी चूहे बिल में जा पहुंचे तब उनमें से जो सबसे प्रधान था वह मिला ही नहीं। उस प्रधान की पूंछ कटी हुई थी अतः उसे न देखकर सभी चूहे परस्पर में शंका करने लगे कि इसमें कुछ कारण अवश्य है। अतः इसकी गणना करनी चाहिये। जब वे लोग गिनने लगे तब उनमें से काफी चूहे घट गये। यह परिणाम जानकर चूहों ने निश्चय किया कि हो न हो यह छद्म वेषधारी बिल्ली की करामात है। इसलिये वे चूहे बिल के दरवाजे तक जाकर अपने शरीर को बिल में ही छिपाकर यह श्लोक पढ़ने लगे कि—

ब्रह्मचारिन्नमस्तुभ्यं कण्ठे केदारिकंकड़म्।
सहस्त्रेषु शतन्नास्ति छिन्न पुच्छो न दृश्यते ॥

कंठ में केदारि कंकड़ धारण करने वाले हे धूर्त ब्रह्मचारी, तुम्हारे लिये नमस्कार है। हमारे हजारों चूहों में से सैकड़ों तूने नष्ट कर दिये और उसके साथ २ कटे हुये पूंछ वाला हमारा नेता भी नहीं दिखाई दे रहा है। इस तरह बिल्ली का मायाचार जानकर चूहों ने उसका साथ सदा के लिये छोड़ दिया। विश्वास के ऊपर ही सारे संसार का कार्य चल रहा है। विश्वास समाप्त हो जाने पर आदमी चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, पर उसकी कदर कोई नहीं करता। कपटी मनुष्य किसी न किसी को फंसाने की चेष्टा किया करता है जिससे वह सदैव दुःखी रहता है और तिर्यंचगति में जाकर अनेक प्रकार के दुःखों को भोगता है। इन दुःखों से उसका छुटकारा तभी हो सकता है जबकि वह अपनी कुटिलता को त्याग देता है। मन, वचन, काय पूर्वक कुटिलता का त्याग करना ही आर्जव धर्म है। इस आर्जव धर्म के धारण करने से कर्मों का क्षय हो जाता है और इससे पारलौकिक सुख की प्राप्ति के साथ साथ

इहलौकिक सुख की भी प्राप्ति होती है। कुछ लोगों का कहना है कि बिना कपट किये व्यापार नहीं चल सकता, किन्तु उनका यह कहना बिल्कुल झूठ है। सच्चे व्यौपारी की दुकान प्रारम्भिक अवस्था में भले ही कुछ शिथिलता से चलती है किन्तु उसकी सत्यता प्रगट होते ही सभी लोग दूर २ से उसका नाम पूछते हुए बेरोक टोक उसकी दुकान पर पहुँच जाया करते हैं। परन्तु जो व्यापारी इसके विपरीत बेईमानी करने लगता है। उसकी पोल थोड़े ही दिनों में खुल जाती है और उसके बाद कोई उसके पास नहीं जाता। इस प्रकार धीरे २ उसकी दुकान एकदम ठप होजाती है, जबकि एक ईमानदार साधारण व्यापारी की दुकान दिन-रात बढ़ती रहती है और एक दिन वही छोटा-सा व्यापारी बहुत बड़ा प्रतिष्ठित आदमी बन जाता है। सत्यवादी और मिथ्यावादी के ऊपर एक दृष्टान्त दिया जाता है। एक ग्वाला दूध का व्यापार करने लगा। उसके पास प्रारम्भकाल में केवल डेढ़ (१।।)) रुपया ही था, किन्तु वह ग्वाला बेईमानी से दूध में आधा पानी मिला मिलाकर प्रतिदिन बेचने लगा। इस प्रकार करते करते उस ग्वाले ने थोड़े ही दिनों में बहुत-सा धन प्राप्त कर लिया। उसकी दुकान के सामने ही एक सदाचारी सत्यवादी की दुकान थी; किन्तु काफी दिनों तक सत्यता से दुकान करने पर भी जब उसकी दुकान न चल सकी तब वह सत्यवादी अपने मन में सोचने लगा कि देखो मायाचारी ग्वाला थोड़े ही दिनों में धनवान बन गया, पर मैं सत्यता करता २ निर्धन ही रहा। अन्त में एक साधु के पास जाकर नमस्कार करके उसने प्रश्न किया कि महाराज ! क्या कारण है कि हमारे मायाचारी पड़ौसी ने थोड़े ही दिनों में बहुत धन प्राप्त कर लिया और हम सत्य के पीछे पीछे चलने पर दरिद्री के दरिद्री ही बने रहे। क्या मायाचार करने से ही धन की वृद्धि होती है ? महात्माजी बड़े दूरदर्शी, तत्वज्ञानी, बुद्धिमान् व विद्वान् थे। उन्होंने युक्ति से इस प्रकार उसको उत्तर दिया कि आदमी के डूबने तक एक गड्ढा खुदवाकर उस आदमी को उसमें खड़ा कर दिया और घुटने बराबर पानी डलवाकर साधु ने पूछा कि भाई ! तुम्हें कुछ कष्ट है ? उसने कहा कुछ नहीं। साधुजी ने पुनः कमर तक पानी डलवाकर प्रश्न किया कि कोई कष्ट है ? उसने उत्तर दिया कुछ नहीं। पुनः गले पर्यन्त पानी डलवाकर पूछा कि कोई कष्ट है ? उसने कहा कि यह तो गर्मी का मौसम है और गले पर्यन्त पानी भरे रहने से खूब अच्छा लगता है। परन्तु जैसे ही साधु बाबा ने मुँह तक आने के लिये पानी डलवाया तैसे ही वह डूबते हुए शोर मचाने लगा कि शीघ्र बचाओ। साधु बाबा ने उसे शीघ्र निकाल लिया और पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा कि बेटा ! इसी प्रकार मायावियों का धन क्षणिक समझना चाहिये। जब तक पापरूपी गड्ढा खाली रहता है तब तक धनिकों का धन अच्छा प्रतीत होता है, परन्तु उसके भरते ही तुम्हारे समान नष्ट हो जाता है। कहा भी है कि—

अन्यायेनोपार्जितं द्रव्यं दश वर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते तु एकादशे वर्षे समूलं हि विनश्यति ।।

अन्याय से उपार्जन किया हुआ धन केवल-दश वर्ष तक साथ रहता है; परन्तु ग्यारहवाँ वर्ष लगते ही वह समूल नष्ट होजाता है। मायाचारी का धन बिजली के समान क्षणिक है। सदाचारी की कमाई से उसकी तुलना किसी अंश में भी नहीं हो सकती। अतएव ऐसे कल्याणकारी आर्जव धर्म को सदा धारण करना चाहिये।

स्थान— तिथि—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली। भाद्रपद शुक्ला ८ शनिवार २४ सितम्बर १६५५

प्रवचन नं० १११

शौच धर्म

शौच का अर्थ शुचिभूत होना अर्थात् अनादि काल से आत्मा सप्तधातु मय शरीर के संसर्ग से अपवित्र कहलाता है। इस अपवित्र शरीर से भिन्न जो शुद्धात्मा का ध्यान करके उसी में रत रहता है तथा जो मैं सदा शुद्ध बुद्ध हूँ, निर्मल हूँ, स्फटिक के समान हूँ, मेरा आत्मा अनादि काल से शुद्ध है इस तरह हमेशा अपने अन्दर ही ध्यान करता है वह शुचित्व है। आत्मा का स्वरूप ही शौच धर्म है। इसी लिए ज्ञानी महामुनि इसीका ध्यान करते हैं। बाह्य शरीरादि की शुद्धि करना, स्नान करना, गंगा यमुना आदि नदी तालाब या समुद्र इत्यादि में स्नान करके जो लोग अपने को शुचि मानते हैं वे केवल बाह्य शुचि से शुद्ध हैं, परन्तु वह शरीर की शुचि अधिक देर तक कहां टिक सकती है? अगर इसको सदा किसी नदी या तालाब में डुबोकर रक्खोगे तो भी यह सप्तधातु मय महान् अपवित्र दुर्गन्धमय शरीर कभी शुद्ध नहीं हो सकता।

आजकल के बहुत से लोग शरीर को पवित्र करने के लिए कई घण्टे तक आठ २ दस २ बाल्टी तक पानी से स्नान करने में लगे रहते हैं, साबुन से खूब रगड़ २ कर स्नान करते हैं और खूब तेल फुलेल, चन्दन के उबटन, सुगन्धित गुलाब, चम्पा, चमेली, केवड़ा एवं और भी अन्य अनेक प्रकार के फूलों के हार इत्यादि से शरीर की सजावट करते हैं, परन्तु पांच मिनट या दस मिनट में ही उन सुगन्धित फूलों के हार, अच्छे २ कपड़े तथा सोने के जेवर इत्यादि को खराब कर देता है और फूल माला इत्यादि तुरन्त ही अपवित्र शरीर के स्पर्श से निर्गन्ध हो जाते हैं। जिस प्रकार हजारों मन साबुन लगाकर कोयले को धुलवाया जाय तो भी वह कोयला कभी भी अपने कालेपन को छोड़कर सफेदपन को प्राप्त नहीं हो सकता उसी तरह यह शरीर भी दुनियां भर के साबुन, तेल, फुलेल, अतर, चंदनादि से कभी भी सुगन्धित नहीं हो सकता अर्थात् पवित्र नहीं होसकता। यह शरीर सदा अमगल ही रहता है। इसीलिए ज्ञानी महान् महात्मा मुनियों ने शरीर को शुचि न मानकर उस अमंगलमय शरीर में स्थित मंगलमय शुद्ध आत्म-तत्त्व को ही शुचि माना है। इस अमंगलमय अर्थात् अशुचिमय शरीर की रक्षा इसलिए की जाती है कि—जैसे किसान अपने खेत में से उत्तम धान की पैदावारी के लिए खेत में खूब हल चलाकर उसकी मरम्मत करता है और उस खेत में महान् दुर्गन्धित तथा अपवित्र जानवरों की विष्टा, मनुष्य की विष्टा तथा और भी अमंगल मय वस्तुओं को खेत में डालकर उन अमंगल वस्तुओं से ही अपनी जिन्दगी को मंगलमय तथा सुखमय बनाने के लिए बहुत बढ़िया गेहूँ की पैदावार अच्छी तरह कर लेता है और उमर

भर बैठे २ खाता है उसी तरह आत्मज्ञानी महान् साधु लोग इस शरीर के अमंगल होने पर भी इससे घृणा न करते हुए जब तक इसके भीतर छिपे हुए सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूपी रत्नत्रयात्मक आत्मसुख की प्राप्ति नहीं कर लेते तब तक इसकी रक्षा करते हैं। परन्तु इस शरीर को कभी भी अच्छा मानकर इसके प्रति प्रेम नहीं करते और इसकी खुशामद भी अधिक नहीं करते, पर यदि दूसरे के शरीर से घृणा करेंगे तो इसके भीतर छिपी हुई परमात्म पद अर्थात् आत्मस्वरूप की प्राप्ति हस्तगत होना अत्यन्त दुर्लभ है।

जैसे किसी गन्दी नाली में यदि अमूल्य रत्न गिर जाय तो कौन बुद्धिमान् उसे छोड़कर आगे बढ़ेगा ? अर्थात् कोई नहीं। अमूल्य रत्न के लोभ के कारण उस गन्दी नाली में हाथ डालने से उसके मन में लेशमात्र भी ग्लानि नहीं आवेगी। अगर उसके मन में ग्लानि आवेगी तो उसमें गिरा हुआ रत्न भी उसको प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ समझना चाहिए। इसी से सम्यग्दृष्टी जीव शरीरस्थ आत्मस्वरूप की प्राप्ति जब तक न हो तब तक उस शरीर के प्रति घृणा न कर के बाह्योपचार करते हुए शरीरस्थ शुद्धात्मा की प्राप्ति कर लेते हैं। सत्पुरुष ज्ञानी किसी रोगी या कोढ़ी (कुष्टि) लोगों के शरीरादि को देखकर उनके प्रति घृणा नहीं करते। अगर वे घृणा करेंगे तो शुद्धात्म पद की प्राप्ति उनको अत्यन्त दूर है, ऐसा समझना चाहिये।

अनादि काल से आत्मा के साथ लगे हुए क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि तथा इंद्रिय जन्य दुष्ट वासनाओं को बढ़ानेवाले विषय रूपी विष को वैराग्य या ज्ञान ध्यान रूपी पानी से आत्मा के ऊपर लगे हुए कर्म मल को बारम्बार धोना चाहिये और उसमें पुनः बाह्य विषयादि खोटी भावनाओं तथा शुद्धात्म भावना को मलिन करने वाली मायाचार आदि भीतरी कुभावनाओं को त्यागकर शुद्धता का प्रयत्न करना ही उत्तम शौच धर्म है।

बहुत से लोग भीतरी कुवासनाओं को न धोकर बाहर शरीर की शुद्धि मानते हैं, पर जब तक अन्तरंग शुद्धि नहीं होगी तब तक शरीर की शुद्धि काम नहीं कर सकती।

कहा भी है कि:—

एवं विहं पि देहं, पिच्छंता विय कुणन्ति अनुरायं।

सेवंति आयरेण य, अलद्धपुव्वत्ति मण्णंता ॥ ८६ ॥

इस तरह पहले कहे हुए के अनुसार अशुचि शरीर को प्रत्यक्ष देखता हुआ भी यह मनुष्य उसमें अनुराग करता है। जैसे ऐसा शरीर पहले कभी न पाया हो, ऐसा मानकर आदर पूर्वक इसकी सेवा रात-

दिन करते हुए अज्ञानी संसारी प्राणी उसी को सुख व अपना आत्मा मानते हुए संसार में परिभ्रमण करते हुए अनन्त दुःख उठा रहे हैं।

परन्तु जो ज्ञानी हैं वे अशुचिमय क्षणिक परदेह से विरक्त होकर अपने शरीर से प्रेम नहीं करते। वे सदा अपने आत्मस्वरूप में अनुरक्त रहते हैं, उनकी ही अशुचि भावना सफल है। अन्यथा शरीर में अनुरक्त रहनेवाले अज्ञानी प्राणी क्या सफलता को प्राप्त हो सकते हैं? कदापि नहीं।

शरीर से बढ़कर संसार में कोई भी वस्तु अपवित्र नहीं है। उदाहरण के लिए एक सुन्दर दृष्टांत दिया जाता है। किसी एक सद्गुरु के पास कोई एक मनुष्य संसार से विरक्त होकर दीक्षा लेने आया और गुरु से प्रार्थना कर अपने को संसार रूपी समुद्र से पार होने के लिए कहा कि मुनिवर! मुझे अपना चेला बनाकर साधु बना लीजिए। गुरु ने उस चेले से कहा कि बेटा! सबसे पहले तुम समस्त संसार में घूमकर देख आओ कि इस दुनिया में सबसे बुरी और अपवित्र कौनसी वस्तु है? तब आपको बाद में दीक्षा दी जायगी। गुरु की आज्ञानुसार चेले ने सारे संसार में घूम कर देखा परन्तु कोई भी वस्तु उसको बुरी या अपवित्र नहीं दीख पड़ी। बाद में लौट कर गुरु के पास आने लगा तब किसी गांव के बाहर खेतों खेत पगदंडी के रास्ते चला आ रहा था कि रास्ते के किनारे टट्टी पर बैठी भिनभिनाती हुई मक्खियों को देखा और उससे निकलती हुई दुर्गन्ध को जान कर कहने लगा कि अहा, सारे संसार में अगर दुर्गन्ध है तो यह है, अन्य कोई भी वस्तु बुरी अमंगल या अपवित्र नहीं है।

इस बात को सुनकर विष्टा ने उस मनुष्य से कहा कि ऐ निंद्य शरीरधारी मानव! तेरे शरीर के क्षणमात्र स्पर्श से ही मेरी यह निंदनीय दशा हुई और मैं गांव के बाहर आकर निंद्य जगह में फैंका गया हूँ।

उसने फिर मैले से पूछा कि मेरा शरीर कैसे अमंगल है? तब मैले ने कहा कि जिस समय मैं बाजार में संतरा, मुसंबी, केले, बर्फी, हलवा इत्यादि उत्तमोत्तम पदार्थ के रूप में दूकान में था उस समय राजे महाराजे तथा सेठ साहूकार आदि बड़े २ आदमी हमारी बड़ी कदर करते थे तथा हाथों से उठा लेते थे और हमारी खूब प्रशंसा करते थे। परन्तु जिस समय दुष्ट मानव का संसर्ग हुआ उसी क्षण से हमारी दशा फल रूप से बदल कर महान् निंद्य तथा अपवित्र दुर्गन्धमय विष्टा को प्राप्त हो गई। इस लिये हम अपवित्र या दुर्गन्धमय नहीं हैं। सारे संसार में यह शरीर ही अत्यन्त दुर्गन्धमय तथा निंद्य है। अन्त में यह किसी काम का नहीं रह जाता।

इस बात का निश्चय कर वह चेला गुरु के पास जाकर प्रणाम कर खड़ा हुआ। तब गुरु ने उससे पूछा कि बेटा! देखा? हाँ गुरु जी, देखा। गुरु ने पूछा कौनसी वस्तु अमंगल या अपवित्र है? तब

चेले ने कहा गुरुदेव ! सब में अमंगल व बुरा शरीर ही है। तब गुरु ने पूछा तेरा शरीर ही बुरा है तो तुझे वैराग्य शरीर से हुआ है या अन्य किसी सांसारिक वस्तु से ? तब चेले ने कहा कि शरीर से। गुरु ने कहा कि तब बेटा ? तू शरीर से विरक्त होकर शरीर को अमंगल तथा क्षणिक समझकर शरीर में स्थित शुद्ध तथा पवित्र शुचिमय आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति करलो, क्योंकि उसकी प्राप्ति इसी क्षणिक शरीर के द्वारा ही हो सकती है, अन्य से नहीं।

इसलिए अब शुद्धात्मा का साधन कर लेना ही शरीर की सफलता है, अन्यथा केवल शरीर शुद्धि से आत्मा की शुद्धि नहीं हो सकती। केवल स्नान करने से बाह्य शरीर मात्र की ही शुद्धि है। इसलिए ज्ञानी मानव को इसी नश्वर शरीर के द्वारा आत्महित कर लेना उचित है।

प्रवचन नं० ११२

स्थान—
श्री दिगम्बर जैन मंदिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि—
द्वितीय भाद्रपद शुक्ला ६ रविवार, २५ सितम्बर १६५५

सत्य धर्म

प्रामाणिक हितकारक सद् वचन बोलना 'सत्य' है।
असत्य भाषण के त्याग करने से सत्य वचन प्रगट होता है।

मनुष्य अनेक कारणों से असत्य बोला करता है, उनमें से एक तो झूठ बोलने का प्रधान कारण लोभ है। लोभ में आकर मनुष्य अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये असत्य बोला करता है।

असत्य भाषण करने का दूसरा कारण भय है। मनुष्य को सत्य बोलने से जब अपने ऊपर कोई आपत्ति आती हुई दिखाई देती है, अथवा अपनी कोई हानि होती दीखती है, उस समय वह डरकर झूठ बोल देता है, झूठ बोलकर वह उस विपत्ति या हानि से बचने का प्रयत्न करता है।

असत्य बोलने का तीसरा कारण मनोरंजन भी है। बहुत से मनुष्य हंसी मजाक में कौतूहल के लिये भी झूठ बोल देते हैं। दूसरे व्यक्ति को भ्रम में डालकर या हैरान करके अथवा किसी को भय उत्पन्न कराने के लिये या दूसरे को व्याकुलता पैदा करने के लिये झूठ बोल देते हैं। इसी में उनका मनोरंजन होता है।

इसके सिवाय कुछ झूठ अज्ञानता के कारण भी बोला जाता है। जिस बात को मनुष्य न जानता हो उस विषय में चुप रह जाना तो अच्छा है, परन्तु अपना महत्व (बड़प्पन) या सन्मान रखने के विचार से, न जानते हुए भी उस बात को कुछ का कुछ बतला देना तो हानिकारक है।

इसके सिवाय क्रोध में आकर मनुष्य ऐसे कुवचन, गाली गलौज मुख से निकाल बैठता है जिनको सुनकर जनता में क्षोभ फैल जाता है, निर्बल मनुष्य का हृदय तड़फ उठता है, बलवान मनुष्य को वैसे दुर्वचन सुनकर क्रोध उत्पन्न हो जाता है जिससे कि बहुत भारी दंगाफसाद हो जाता है, मारपीट हो जाती है, यहां तक कि मरने मारने की भी तैयारी हो जाती है।

अभिमान में आकर भी मनुष्य दूसरों को अपमानकारक असह्य वचन कह डालता है जिससे सुनने वाला यदि शक्तिशाली मनुष्य होता है तो वह भी उत्तर मे उनसे भी अधिक अपमानकारक वचन कह डालता है। यदि सुनने वाला व्यक्ति कमजोर दीन दुखी होता है तो उसका हृदय टुकड़े टुकड़े हो जाता है, उसको मार पीट से भी अधिक दुःख होता है। तलवार का घाव तो मरहम पट्टी से अच्छा हो जाता है किन्तु वचन का घाव अच्छा नहीं होता।

द्रौपदी ने दुर्योधन को व्यङ्गरूप से इतना कह दिया था कि 'अन्धे (धृतराष्ट्र राजा दुर्योधन का पिता) का पुत्र भी अन्धा है।' यह बात दुर्योधन को लग गई और इसका बदला लेने के लिये उसने जुए में

में पांडवों से द्रौपदी को जीतकर अपनी सभा में अपमानित किया, उसकी साड़ी उतार कर सबके सामने उसने द्रौपदी को नंगा करना चाहा। इसी असह्य अपमान का बदला लेने के लिये कौरव पांडवों का महा-युद्ध हुआ जिसमें दोनों ओर की बहुत हानि हुई, सभी कौरव योद्धा मारे गये।

इस तरह के अन्य व्यक्ति को दुखकारक, निन्दाजनक पापवचन भी असत्य में सम्मिलित हैं, इस कारण सत्यवादी मनुष्य को ऐसे वचन भी मुख से उच्चारण न करने चाहियें।

आचार्यों ने असत्य वचन ६ छह प्रकार के बतलाये हैं—

१—मौजूद चीज को गैर मौजूद कहना। जैसे घर में नेमिचन्द बैठा है, फिर भी बाहर द्वार पर किसी ने पूछा कि 'नेमिचन्द है ?' तो उत्तर में कह दिया कि 'वह यहां नहीं है।'

२—गैर मौजूद वस्तु को मौजूद बतला देना। जैसे कि नेमिचन्द घर में नहीं था फिर भी किसी ने पूछा कि नेमिचन्द घर में हैं क्या ? तो उत्तर में कह दिया कि 'हां घर में है।'

३—कुछ का कुछ कह देना। जैसे घर में विमलचन्द था। किसी ने पूछा कि घर में कौन है तो उत्तर में कह दिया कि यहां नेमिचन्द है।

४—गर्हित—दूसरे को दुखदायक हंसी मजाक करना, चुगली खाना, गाली गलौज देना, निन्दा-कारक बात कहना। जैसे-तेरे कुल में बुद्धिमान कोई हुआ ही नहीं, फिर तू मूर्ख है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

५—सावद्य—पाप सूचक या पापजनक शब्द उच्चारण करना। जैसे—तेरा शिर धड़ से अलग कर दूंगा, तुझे कच्चा खा जाऊंगा। तेरे घर बार को आग लगा कर तुझे जीवित जला दूंगा। इत्यादि।

६—अप्रिय—दूसरे जीवों को डराने वाले, द्वेष उत्पन्न करने वाले, क्लेश बढ़ाने वाले, विवाद बढ़ाने वाले, क्षोभजनक शब्द कहना। जैसे—निर्दय डाकुओं का दल इधर आ रहा है, वह सारे गांव को लूट मार कर जला देगा।

ऐसे वचनों से कभी कभी बड़ी अशान्ति और महान् अनर्थ फैल जाता है। झूठ बोलने वाले मनुष्य के वचन पर किसी को विश्वास नहीं रहता, अतः वह कभी सत्य भी बोले तो भी सुनने वाले उसे असत्य ही समझते हैं।

एक गांव में एक धनवान बुड्ढा रहता था, उसके परिवार में उसके सिवाय और कोई न था। एक समय रात को वह झूठ मूठ चिल्लाया कि 'मेरे घर में चोर आ गये हैं, जल्दी आकर मुझे बचाओ।'

पड़ोस के आदमी उसका चिल्लाना सुनकर उसके घर पर दौड़े आये, तो उनको देखकर बूढ़ा हंस कर बोला कि मैं आप लोगों की परीक्षा लेने के लिये झूठ मूठ चिल्लाया था, चोर मोर कोई नहीं आया।

कुछ दिन पीछे फिर उसने ऐसा ही किया, दूसरी बार भी लोगों ने बूढ़े की बात सत्य समझी और इसी विचार से वे उसे बचाने के लिये उसके घर पर दौड़े आये, किन्तु वहां आकर वही बात देखी

कि बुड्ढे ने अपना जी बहलाने के लिये उन सब को व्यर्थ हैरान किया है। यह देखकर लोगों को बहुत बुरा मालूम हुआ। सब चुपचाप अपने घर लौट गये।

संयोग से एक रात को सचमुच ४-५ चोर उस धनी बूढ़े के घर घुस आये। उनको देखकर बूढ़ा अपनी रक्षा के लिए बहुतेरा गला फाड़ कर चिल्लाता रहा परन्तु सब पड़ोसियों ने उसकी बात झूठ ही समझी इस कारण एक भी पड़ोसी उसकी रक्षा करने के लिये उसके घर नहीं पहुँचा।

चोरों ने बुड्ढे को मार पीट कर उसका सारा धन उससे मालूम कर लिया और सब धन लेकर बूढ़े का भी गला घोंट कर वहां से चले गये।

एक झूठी बात को सत्य सिद्ध करने के लिये मनुष्य को और बीसों असत्य बातें बनानी पड़ती हैं, जिससे एक असत्य पाप के साथ अन्य अनेक पाप स्वयं हो जाते हैं और यदि असत्य का त्याग कर दिया जाय तो मनुष्य से अन्य अनेक पाप भी स्वयमेव छूट जाते हैं। इस कारण सत्य धर्म आत्म हित के लिये बहुत उपयोगी है।

एक बार एक नगर के बाहर एक साधु आये, नगर के सभी स्त्री पुरुष उनका दर्शन करने के लिये तथा उपदेश सुनने के लिये उनके निकट गये। उपदेश सुन कर प्रायः सभी ने मुनि महाराज से यथाशक्ति व्रत नियम ग्रहण किये।

जब सब स्त्री पुरुष वहां से चले गये तब वहां जो एक मनुष्य रह गया था बड़े संकोच के साथ वह मुनि महाराज के पास आया और नम्रता के साथ बोला कि महाराज मुझे भी कुछ व्रत दीजिये। मुनि महाराज ने उससे पूछा कि तू क्या काम करता है?

उसने उत्तर दिया कि मैं चोर हूं, चोरी करना ही मेरा काम है।

साधु ने कहा कि फिर तू चोरी करना छोड़ दे।

चोर ने विनय के साथ कहा कि गुरुदेव! चोरी मुझ से नहीं छूट सकती क्योंकि चोरी के सिवाय मुझे और कोई काम करना नहीं आता।

मुनिराज ने कहा कि अच्छा भाई! तू चोरी नहीं छोड़ सकता तो झूठ बोलना तो छोड़ सकता है?

चोर ने प्रसन्नता के साथ उत्तर दिया कि हां महाराज असत्य बोलना मैं छोड़ सकता हूं। मुनि ने कहा कि बस, तू झूठ बोलना ही छोड़ दे। कैसी ही विपत्ति आवे परन्तु तू कभी असत्य न बोलना।

चोर हर्ष के साथ हाथ जोड़ कर मुनि महाराज के सामने असत्य बोलने का त्याग करके अपने घर चला गया।

रात को वह चोर राजा की अश्वशाला (घुड़सार) में चोरी करने के लिये गया। घुड़सार के बाहर सईस सो रहे थे, चोर को घुड़सार में घुसते देखकर उन्होंने पूछा कि तू कौन है?

चोर ने उत्तर दिया कि मैं चोर हूँ। सईसों ने समझा कि यह मजाक से कह रहा है, घुड़सार का ही कोई नौकर होगा, इसलिये चोर को किसी ने न रोका। चोर ने घुड़सार में जाकर राजा की सवारी का सफेद घोड़ा खोल लिया और उस पर सवार होकर चल दिया।

बाहर सोते हुए सईसों ने फिर पूछा कि घोड़ा कहां लिये जा रहा है। चोर ने सत्य बोलने का नियम ले रक्खा था इस कारण उसने उत्तर दिया कि—

मैं घोड़ा चुरा कर ले जा रहा हूं। सईसो ने इस बात को भी हंसी मजाक समझा, यह विचार किया कि दिन मे घोड़े को पानी पिलाना भूल गया होगा सो अब पानी पिलाने के लिये घोड़ा ले जा रहा है। ऐसा विचार कर उन्होंने उसे चला जाने दिया।

चोर घोड़ा लेकर एक बड़े जंगल में पहुँचा और घोड़े को एक पेड़ से बांध कर आप एक पेड़ के नीचे सो गया।

जब प्रभात हुआ तब घुड़सार के नौकरों ने देखा कि घुड़सार का मुख्य सफेद घोड़ा नहीं है। नौकर बहुत घबड़ाये। उनको रात की बात याद आ गई और वे कहने लगे सचमुच रात वाला आदमी चोर ही था और सचमुच वह घोड़ा चुरा ले गया।

अन्त में यह बात राजा के कानों तक पहुँची, राजा ने घोड़े को खोजने के लिये चारों ओर सवार दौड़ाये। कुछ सवार उस जंगल में जा पहुँचे। उन्होंने चोर को सोता देखकर उठाया और पूछा कि तू कौन है?

सत्यवादी चोर ने उत्तर दिया कि मैं चोर हूँ।

राजा के नौकरों ने पूछा कि रात को तूने कहीं से कुछ चोरी की थी?

चोर ने कहा कि 'हां' राजा की घुड़सार से घोड़ा चुराया था।

नौकरों ने पूछा कि घोड़ा किस रंग का है और कहां है?

चोर ने कहा 'घोड़े का रंग सफेद है' और वह उस पेड़ के साथ बंधा हुआ है।

देवों ने चोर के सत्य की परीक्षा लेने के लिये घोड़े का रंग लाल कर दिया अतः राजकर्मचारियो ने जब वह घोड़ा देखा तो वह लाल था, उन्होंने चोर से पूछा कि भाई! वह घोड़ा तो लाल है।

चोर ने दृढ़ता के साथ उत्तर दिया कि मैं तो सफेद घोड़ा ही चुरा कर लाया हूँ।

देवों ने उस चोर के सत्यव्रत से प्रसन्न होकर चोर के ऊपर फूल बरसाये और घोड़े का रग फिर सफेद कर दिया। यह चमत्कार देखकर राजा के नौकरों को आश्चर्य हुआ। वे चोर को अपने साथ ले जाकर राजा के पास पहुँचे।

राजा ने चोर से सब समाचार पूछे, चोर ने साधु महाराज से सत्य व्रत लेने से लेकर अब तक की सब बात सच सच कह डाली।

राजा चोर की सत्य वादिता पर बहुत प्रसन्न हुआ और पारितोषिक में उसको बहुत सा धन देकर उससे चोरी करना छुड़ा दिया। इस तरह एक झूठ के छोड़ देने से चोर का इतना राज सन्मान हुआ और उसका चोरी करना भी छूट गया।

बहुत से लोग अपने छोटे बच्चों के साथ झूठ बोल कर अपना चित्त बहलाया करते हैं परन्तु बच्चों का हृदय कोमल स्वच्छ निर्मल होता है उस पर जैसे संस्कार माता पिता जमाना चाहें वैसे जमा सकते हैं। तदनुसार जो बात मनोरंजन के लिये बच्चों से की जाती है बच्चे उसको सत्य समझ कर अपने हृदय में धारण कर लेते हैं। इस कारण मनोरंजन के लिये भी बच्चों से झूठ न बोलना चाहिये।

एक मारवाड़ी सेठ अपने परिवार के साथ रेलगाड़ी से कलकत्ता जा रहा था। मार्ग में अपने छोटे बच्चे से वह मनोरंजन करने लगा। उसने अपने बच्चे की जरी की टोपी उसके शिर से उतार ली और उसे दूसरे हाथ से गाड़ी के बाहर फेंकने की बनावटी चेष्टा की, बच्चा जब अपनी टोपी के लिये रोने लगा तब सेठ ने कहा कि अच्छा, टोपी फिर बुला दूँ ? लड़के ने कहा कि मंगा दो। सेठ ने झट खिड़की से बाहर वाला हाथ अन्दर करके टोपी उसे दे दी, लड़का प्रसन्न होकर हँसने लगा।

थोड़ी देर पीछे सेठ ने फिर टोपी बाहर फेंक देने का बहाना किया। लड़के ने फिर कहा अब फेंकी हुई मेरी टोपी बुलादो, सेठ ने दूसरी बार भी टोपी उसे दे दी। लड़का प्रसन्न होगया। इस तरह सेठ ने ३-४ बार किया, उस छोटे बच्चे ने इस मनोरंजन को सत्य घटना समझ लिया।

कुछ देर पीछे उस छोटे लड़के ने अपने हाथ से वह १०-१२ रुपये की जरी की टोपी खिड़की से बाहर फेंक दी यह देखकर सेठ को बहुत दुःख हुआ किन्तु चुप रह गया।

परन्तु बच्चा रोने लगा और अपने पिता से आग्रह पूर्वक कहने लगा कि पहले की तरह मेरी टोपी फिर गाड़ी के बाहर से मंगादो, सेठ वह टोपी कैसे मंगा देता। बड़ी कठिनता से उसने बच्चे को चुप किया। बच्चे के साथ झूठ बोलने का बुरा परिणाम उसे अनुभव हुआ।

सत्यभाषी मनुष्य यदि धनहीन हो तो भी सब कोई उसका विश्वास करता है और असत्यवादी बहुत बड़ा धनिक हो तब भी कोई उसका विश्वास नहीं करता। संसार का व्यवहार, व्यापार सत्य के आधार पर ही चलता है। सत्यवादी मनुष्य बिना हस्ताक्षर किये तथा बिना साक्षी या लिखा पढ़ी के लाखों करोड़ों रुपयों का लेन देन किया करते हैं, जबकि असत्यवादी के साथ बिना पक्की लिखा पढ़ी के कोई भी व्यवहार नहीं करता। अतः अपना विश्वास फैलाने के लिए सदा सत्य बोलना चाहिये।

परन्तु ऐसा सत्य नहीं बोलना चाहिये जिससे किसी को दुःख पहुँचे। जिस तरह नेत्रांध पुरुष को अन्धा कहना अथवा एकाक्षी को काना कहना असत्य नहीं है परन्तु उन अन्धे काने पुरुषों को अन्धा काना शब्द बहुत बुरा मालूम होता है अतः उनको अन्धा काना नहीं कहना चाहिये।

इसके सिवाय जिस सत्य बोलने से किसी का प्राण नाश होता हो अथवा धर्म के विनाश होने की आशंका हो तो वैसा सत्य वचन भी न कहना चाहिये।

एक जंगल मे एक मुनि बैठे हुए स्वाध्याय कर रहे थे, इतने में एक हिरण भागता हुआ उनके सामने से एक ओर निकल गया। कुछ देर पीछे एक शिकारी धनुषबाण लिये वहां आया, उसने मुनिराज से पूछा कि—

महाराज! हिरण किधर गया है?

मुनिराज ने विचार किया यदि मैं सत्य कहता हूं तो इसके हाथ हिरण मारा जायगा और यदि हिरण को बचाता हूं तो मुझे असत्य भाषण करना पड़ता है।

इसके लिये उन्होंने उत्तर दिया कि भाई! मेरी आंखों ने हिरण देखा है परन्तु आंखें कुछ कह नहीं सकतीं, और जीभ कह सकती है किन्तु उसने कुछ देखा नहीं, इसलिए मैं तुझे क्या बताऊं।

इस ढग से उन्होंने हिरण के प्राण बचा दिये।

तथा—कोई भी बात सिद्धान्त विरुद्ध नहीं कहनी चाहिये यदि कोई बात मालूम न हो तो सरलता के साथ कह देना चाहिए कि 'यह बात हमको मालूम नहीं'। उस विषय में अंट-संट उत्तर देना उचित नहीं।

इस तरह मुख से प्रमाणिक, सत्य, स्व-परहितकारी मीठे वचन बोलने चाहियें, अपने नौकर-चाकरों से, भिखारी, दीन दरिद्र, व्यक्तियों से सान्त्वना तथा शान्तिकारक मीठे वचन कहने चाहियें। पीड़ाकारक कठोर बात न कहनी चाहिये क्योंकि उनका हृदय पहले ही दुःखी होता है तुम्हारे कठोर वचनों से और भी अधिक दुखेगा। यह जीभ यदि अच्छे वचन बोलती है तो वह अमूल्य है। अगर यह झूठे, भ्रमकारक, भय उत्पादक, पीड़ादायक, कलहकारी, क्षोभकारक, निन्दनीय वचन कहती है तो यह जीभ चमड़े का अशुद्ध टुकड़ा है।

प्रवचन नं० ११३

स्थान— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली। तिथि— द्वितीय भाद्रपद शुक्ला १० सोमवार, २६ सितम्बर १९५५

संयम धर्म

प्राणी-रक्षण और इन्द्रिय दमन करना संयम है।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र, कर्ण और मन पर नियन्त्रण (दमन कन्ट्रोल) करना इन्द्रिय-संयम है। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय जीवों की रक्षा करना प्राणी संयम है। इन दोनों संयमों में इन्द्रिय संयम मुख्य है क्योंकि इन्द्रिय संयम प्राणी संयम का कारण है, इन्द्रिय संयम होने पर ही प्राणी संयम होता है, विना इन्द्रिय संयम के प्राणी संयम नहीं हो सकता।

इन्द्रियां बाह्य पदार्थों का ज्ञान कराने में कारण हैं, इस कारण तो वे आत्मा के लिये लाभदायक हैं क्योंकि संसारी आत्मा इन्द्रियों के बिना पदार्थों को जान नहीं सकता। पंचेन्द्रिय जीव की यदि नेत्र-इन्द्रिय बिगड़ जावे तो देखने की शक्ति रखने वाला भी आत्मा किसी वस्तु को देख नहीं सकता।

परन्तु इन्द्रियां अपने अपने विषयों की ओर आत्मा को आकृष्ट (खींच) करके पथभ्रष्ट कर देती हैं, आत्मविमुख करके आत्मा को अन्य सांसारिक भोगों में तन्मय कर देती हैं, मोहित करके विवेक शून्य कर डालती हैं, जिससे कि सांसारिक आत्मा बाह्य-दृष्टि बन कर अपने फंसने के लिये स्वयं कर्मजाल बनाया करता है। इन्द्रियों का यह कार्य आत्मा के लिये दुःखदायक है।

सारा संसार इन्द्रियों का दास बना हुआ है। बड़े बड़े बलवान योद्धा और विचारशील विद्वान् भी इन्द्रियों के गुलाम बने हुए हैं, अपना अधिकतर समय इन्द्रियों को तृप्त करने में लगाया करते हैं।

हाथी कितना बलवान प्राणी है किन्तु कामातुर होकर स्पर्शन इन्द्रियों को तृप्त करने के लिये मनुष्य के जाल में फंस जाता है।

हाथी पकड़ने वाले मनुष्य हाथियों के जंगल में एक बहुत बड़ा गढ्ढ़ा खोदते हैं, उसको बहुत पतली लकड़ियों से पाटकर उस पर हरी घास फैला देते हैं। और उसके ऊपर कागज की एक सुन्दर हथिनी बनाकर खड़ी कर देते हैं। हाथी उस हथिनी को सच्ची हथिनी समझकर कामातुर होकर उससे मैथुन करने के लिए उस खड्ढ़े की ओर झपटता है जिससे पतली लकड़ियां टूट जाती हैं और हाथी उस खड्डे में गिर जाता है, वहां से निकल नहीं सकता तब मनुष्यों द्वारा पकड़ लिया जाता है।

इस तरह स्पर्शन इन्द्रिय के वश में होकर कामातुर मनुष्य भी आत्म गौरव, धन, कीर्ति, बल पराक्रम नष्ट भ्रष्ट करके सर्वस्व गंवा देते हैं, प्राण तक अर्पण कर देते हैं।

रसना इन्द्रिय की लोलुपता में फंस कर अगाध जल मे विचरण करने वाली मछली अपने प्राण दे बैठती है।

मछलियां पकड़ने वाले लोहे के कांटे की नोक पर आटा या कोई खाने का अन्य पदार्थ लगाकर पानी मे डाल देते हैं मछली जैसे ही उसे खाने के लिए अपना मुख फाड़ती है कि तत्काल वह लोहे का कांटा उसके गले मे फंस जाता है और मछली मरकर पकड़ में आ जाती है।

इसी प्रकार रसना इन्द्रिय के वश में होकर मनुष्य भी अनेक तरह के स्वादिष्ट भोजनों के लोलुपी बन जाते है। उस समय उनका भक्ष्य अभक्ष्य पदार्थों का विवेक शिथिल हो जाता है, भोजन भट्ट बनकर अपनी धनहानि तथा शारीरिक हानि कर बैठते हैं। मद्य, मांस, मधु आदि पदार्थ रसना इन्द्रिय को प्रसन्न करने के लिए ही खाये पिये जाते है। बहुत से लोलुपी मनुष्य ऐसे ही खान पान में अपना सर्वस्व स्वाहा कर देते हैं।

संयमी-व्रती त्यागी पुरुष यदि रसना इन्द्रिय पर विजय प्राप्त न करे तो अपने संयम को सुरक्षित नहीं रख सकता, वह अनशन, ऊनोदर, व्रतपरिसंख्यान, रस परित्याग आदि तपों का ठीक समुचित आचरण नहीं कर सकता। इस कारण रसना इन्द्रिय का विषय भी स्पर्शन इन्द्रिय के समान महान् प्रबल है।

घ्राण इन्द्रिय के विषय में अचेत होकर भौंरा अपने प्राण खो बैठता है।

भौंरा अपने डक से बांस में भी छेद कर देता है, किन्तु कमल की सुगन्धि का लोभी भ्रमर कमल मे बन्द होकर उसमें से बाहर निकलने के लिये कमल मे डंक नहीं मारता।

एक भौंरा दिन के समय खिले हुए कमल के फूल में जा बैठा और दिन भर उसकी सुगन्धि में मस्त रहकर वहीं पर बैठा रहा। सूर्यास्त होते समय जब कमल की खिली हुई पंखुड़ियां मुंदने लगीं तब भी भौंरा वहां से न उड़ा, यहां तक कि कमल मुकुलित हो गया और उसी कमल में कैद हो गया। फिर भी उसने कमल की गन्ध में मस्त रहकर उससे बाहर निकलने की कोशिश नहीं की, और कमल के भीतर बैठा हुआ विचारने लगा कि—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं,
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचियन्तयति कोशगते द्विरेफे।
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार।

यानी—कुछ समय पीछे रात बीत जायेगी, प्रभात हो जायगा, तब पूर्व दिशा से सूर्य का उदय होगा, सूर्य उदय होते ही यह कमल भी खिलेगा। कमल के खिलते ही मै यहां से उड़ जाऊंगा।

भौंरा ऐसा सोच ही रहा था कि जिस तालाब में वह कमल का फूल था वहां पर एक हाथी पानी पीने के लिये आया। पानी पीकर हाथी ने उस कमल को अपनी सूंड द्वारा तोड़कर अपने मुख में रख लिया। इस तरह कमल की गन्ध का लोलुपी भौंरा जान से मारा गया।

सगर चक्रवर्ती को भी एक ऐसा ही कमल देखकर, जिसमें कि भौंरा मरा हुआ था, वैराग्य हो गया था।

मनुष्य भी नाक की इच्छा पूर्ण करने के लिये सुगन्धित फूल, कपूर, तेल, इत्र आदि का प्रयोग किया करते हैं। लखनऊ के नवाब इत्र का छिड़काव करके महफिल लगाया करते थे।

नेत्र इन्द्रिय सदा सुन्दर वस्तुएं, अच्छे प्रकाश और खेल तमाशे देखना चाहती है।

वर्षा ऋतु में असंख्य पतंगे उत्पन्न होते हैं, और वे दीपक, लालटेन, बिजली का प्रकाश देखने के लिये दीपक, लालटेन या बिजली के लट्टू पर झपटते हैं और उसी की लौ में अथवा बल्ब के तपे हुए शीशे पर जल कर मर जाते हैं।

खेल तमाशों तथा नृत्य आदि देखने के शौकीन मनुष्य इस चक्षु इन्द्रिय को प्रसन्न करने के लिये बर्बाद हो जाते हैं।

कानों को तृप्त करने के लिये हिरन सुरीले बाजों तथा गायन को सुनने के लिये शिकारी के हाथ पड़ जाता है।

लखनऊ के अन्तिम नवाब वाजिदअलीशाह को यह बता दिया गया कि तुमको गिरफ्तार करने के लिये अंग्रेजों की सेना आरही है, परन्तु नवाब गाने सुनने में ऐसा मस्त था कि गिरफ्तारी से बचने के लिये उसने कुछ भी यत्न नहीं किया। अंग्रेज जब उसको पकड़कर ले जाने लगे तब भी वाजिदअली ने कहा कि ठहरो, एक गाना और सुन लेने दो।

यशोधरा राजा की रानी हाथी के हस्तिपाल (महावत) के गाने पर मुग्ध होकर उस बदसूरत कुबड़े पर आसक्त होकर प्रेम करने लगी थी।

इस तरह कर्णरस के लोलुपी मनुष्य भी अपना सर्वस्व खो देते हैं। जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण नहीं रखते इन्द्रियों के दास बने रहते है। वे अपना कोई भी कार्य ठीक नियमानुसार नहीं कर पाते। उनकी आत्म-शक्ति कुण्ठित हो जाती है, उनसे पराक्रमी कार्य नहीं हो पाते, इसी कारण वे बलवान होकर भी बलहीन दीन बने रहते हैं।

जो मनुष्य इन्द्रिय-विजयी होते है वे इन्द्रियों से आत्महित का कार्य-ध्यान, अध्ययन, स्वाध्याय, दर्शन, पूजन, तीर्थयात्रा, परिश्रम आदि यथेष्ट काम लेते हैं। जिस तरह रईस लोग घोड़े पर सवारी करके घोड़े से मनमाना काम लेते है, जबकि इन्द्रिय लोलुपी मनुष्य इन्द्रियों की सेवा में लगे रहते हैं, जिस तरह सईस घोड़े की सेवा तो किया करता है किन्तु उसके ऊपर कभी सवारी नहीं कर पाता।

घोड़े को यदि लगाम न लगी हो तो घोड़ा बेकाबू होकर अपने सवार को किसी खड्डे में गिरा देता है, इसी तरह इन्द्रियों पर आत्मा यदि अंकश न लगावे तो इन्द्रियां भी आत्मा को दुर्गति मे डाल देती हैं। इस कारण अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण लगाकर इन्द्रियों को अपने वश में रखना आवश्यक है।

प्राणी संयम

जिस प्रकार अपना आत्मा है उसी प्रकार अन्य जीवो का भी आत्मा है, जिस तरह हमको शारीरिक दुःख होता है उसी प्रकार अन्य जीवों को भी शरीर की पीड़ा होती है। एकेन्द्रिय जीव पृथ्वी पर्वत आदि पृथ्वीकायिक जीव, पानी, ओला, ओस आदि जलकायिक जीव। आग, दीपक, बिजली आदि अग्निकायिक जीव। हवा, आंधी आदि वायुकायिक जीव, वृत्त, वेल, घास, झाड़ी, पौदे, फल-फूल पत्ते आदि वनस्पतिकायिक जीव एकेन्द्रिय होते है, वे बोल नहीं सकते परन्तु उनको भी दुःख तो होता ही है। स्व० डा० जगदीशचन्द्र बोस प्रयोग करके बतलाते थे कि किसी पेड़ मे यदि कील आदि नुकीली चीज चुभाई जाय तो वह पीड़ा से कांपता है। इस कारण बिना किसी प्रयोजन के न पृथ्वी, पहाड़ खोदना चाहिए, न पानी बखेरना चाहिये, न आग जलानी चाहिये, न हवा करनी चाहिये और न फूल, पत्ते, घास डाली आदि तोड़नी चाहिये।

लट, केंचुआ, जोंक आदि दो इन्द्रिय जीव हैं। चींटी, खटमल, जूं आदि कीड़े मकोड़े तीन इन्द्रिय जीव हैं। मक्खी, मच्छर, भौंरा, पतंगा आदि चार इद्रिय जीव होते हैं, और पशु पक्षी, मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय जीव हैं इन सब को त्रसकाय कहते है। इन सब जीवों की रक्षा भी उसी तरह करनी चाहिये जिस तरह कि अपने प्राणों की की जाती है। इसको ही प्राणि-संयम कहते हैं।

महाव्रती मुनि अपनी समस्त इंद्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखते हैं, मन को उग्र नहीं होने देते, राग-द्वेष की कीचड़ से बचाकर निर्मल रखते हैं तथा समस्त जीवों की रक्षा करते हैं। इस कारण उनके उत्तम संयम होता है। गृहस्थों को भी अधिक से अधिक जितना हो सके उतना अपनी इंद्रियों पर अंकुश लगा कर त्रस स्थावर जीवों पर दया भाव का आचरण करते रहना चाहिये।

प्रवचन नं० ११४

स्थान— श्री दिगम्बर जैन मंदिर कूचा सेठ, दिल्ली। तिथि— द्वितीय भाद्रपद शुक्ला ११ मंगलवार, २७ सितम्बर १६५५

तप धर्म

आत्म शुद्धि के लिये इच्छाओं का रोकना तप है।

मानसिक इच्छायें सांसारिक बाहरी पदार्थों में चक्कर लगाया करती हैं अथवा शरीर की सुख साधना में केन्द्रित रहती हैं, अतः शरीर को प्रमादी न बनने देने के लिये बहिरङ्ग तप किये जाते हैं और मन की वृत्ति आत्म-मुख करने के लिये अन्तरङ्ग तपों का विधान किया गया है। दोनों प्रकार के तप आत्म शुद्धि के अमोघ साधन हैं।

बहिरंग तप

शरीर को प्रमाद से दूर रखने के लिये जो बहिरंग तप बतलाये गये हैं वे ६ हैं—१. अनशन, २. ऊनोदर, ३. व्रतपरिसंख्यान, ४. रस परित्याग, ५. विविक्तशयनासन, ६. कायक्लेश।

अनशन

पांच इन्द्रियों के विषयों के भोगने का तथा क्रोध आदि कषाय भावों के त्याग के साथ जो आठ पहर के लिये सब प्रकार के भोजन का त्याग किया जाता है उसको अनशन या उपवास कहते हैं।

उपवास के लिये घर व्यापार के कार्यों का त्याग, पांचों इन्द्रियों के विषयों का त्याग तथा क्रोध, मान आदि कषाय-कलुषित भावों का त्याग होना आवश्यक है, यानी-उस दिन अपने परिणाम शान्त नियंत्रित रक्खे और सामायिक, स्वाध्याय आदि धर्म साधन के कार्य करता रहे, कोई सांसारिक कार्य न करे। यदि विषय और कषाय का त्याग न किया जाय तो वह उपवास नहीं है, वह तो केवल लंघन समझना चाहिये।

यों तो आन्त्रज्वर, मोतीज्वरा (टाईफाइड) आदि रोग की दशा में मनुष्य अनेक दिन भोजन नहीं लेता अथवा घर में क्लेश हो जाने पर क्रोध आदि के कारण कभी कभी मनुष्य भोजन करना छोड़ देते हैं तो वह भी उपवास हो जायगा, इस कारण श्री समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरंड में कहा है—

कषाय विषयाहार त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेय शेषं लंघनकं विदुः॥

यानी—जब कषाय विषय और आहार का त्याग किया जाता है तब उपवास होता है। यदि केवल खाना पीना ही छोड़ा जावे तो वह उपवास नहीं है, वह तो केवल लंघन समझना चाहिये।

उपवास करने से शरीर में प्रमाद नहीं आता क्योंकि भोजन के बाद शरीर में सुस्ती आती है, सोने के लिये जी चाहता है, सामायिक स्वाध्याय करते समय नींद के झोंके आते हैं, यदि भोजन न किया जावे तो यह बातें नहीं होने पातीं, अतः उपवास करना आत्मशुद्धि करने के लिये बहुत कार्यकारी है।

ऊनोदर

भूख से कम भोजन करना यानी—अल्प आहार करना ऊनोदर तप है।

भोजन शरीर की स्थिति बनाये रखने के लिये किया जाता है, इसके लिये भोजन यदि भूख से कुछ कम किया जावे तो उससे शरीर में स्फूर्ति रहती है, सुस्ती नहीं आने पाती। भोजन अधिक खा लेने से शरीर की पाचन शक्ति पर अधिक दबाव पड़ता है और भोजन के बाद आलस्य आ घेरता है, जिससे कि शरीर सो जाने के लिये तैयार हो जाता है।

यदि सामायिक करने के लिये भर पेट भोजन करने वाला बैठे तो बैठे बैठे ऊंघ आने लगती है जिससे सामायिक का क्रम बीच में ही भंग हो जाता है, यदि वह स्वाध्याय करने के लिये तैयार हो तो स्वाध्याय में भी सुस्ती आने लगती है। इस तरह पेट भर कर भोजन कर लेने पर शरीर धर्म साधन के योग्य नहीं रह पाता, प्रमादी बन जाता है।

इन दोषों से बचने के लिये, जितनी भूख हो उससे कम खाना चाहिये। आधा पेट रोटी दाल आदि भोज्य पदार्थ से भरे और चौथाई पेट पानी से भरे, चौथाई पेट खाली रक्खे।

मुनि ३२ ग्रास भोजन करते हैं। धर्म-साधक को सदा ऊनोदर तप करना चाहिये जिससे शरीर स्वस्थ रहे और धर्म साधन करते समय शरीर में स्फूर्ति रहे।

ये गुणा लंघने प्रोक्ताः ते गुणा लघु भोजने।

यानी—जो गुण उपवास करने में होते हैं वे ही गुण ऊनोदर यानी थोड़ा भोजन करने में होते हैं।

वृत्तिपरिसंख्यान

भोजन करने के लिये मुनि गृद्धता (लोलुपता) दूर करने के विचार से जो घर, दाता आदि के विषय में प्रति दिन उलटते पलटते नियम करते हैं—कि मैं आज इतने घर भोजन के लिये जाऊंगा यदि भोजन की विधि मिल गई तो भोजन करूंगा अन्यथा न करूंगा। प्रतिग्रह करने वाला (पड़गाहने वाला) दाता अमुक ढंग से मिलेगा तो भोजन करूंगा, अन्यथा नहीं। इत्यादि रूप से जो नियम करते हैं, वह वृत्तिपरिसंख्यान तप है।

महाव्रती मुनि भोजन ग्रहण करने में भी अधिक इच्छुक नहीं होते, भोजन भी निःस्पृहता के साथ लिया करते है इसी निःस्पृहता का पालन तथा प्रदर्शन वे इस तप द्वारा करते हैं।

वे अपने इस दैनिक व्रत को किसी को बतलाते नहीं हैं, गुप्त रखते हैं। भोजन चर्या के लिये विचरण करते समय यदि उन्हे अपनी की हुई आंखड़ी के अनुसार भोजन ग्रहण करने का समागम मिल जाता है तो भोजन कर लेते हैं, अन्यथा अपने स्थान पर वापिस आ जाते हैं, और शान्ति तथा धैर्य पूर्वक अपनी सामायिक, स्वाध्याय आदि क्रिया में लग जाते हैं।

रस-परित्याग

शरीर पोपण के लिये मुख्य रूप से ६ प्रकार के रस माने गये हैं। घी, तेल, दूध, दही, खांड (गुड़ मिश्री आदि मीठा) और नमक। मुनिराज इन रसों में से कभी किसी रस का, कभी किसी रस का त्याग कर देते हैं, इसको रस परित्याग तप कहते हैं। जिस रस को वे छोड़ देते हैं उस रसका भोजन वे नहीं लेते। कभी कभी कोई रस जन्म भर के लिये छोड देते हैं, शेष रसों में से भी कभी किसो रस का, कभी किसी रस का त्याग करते रहते हैं। कभी कभी तो वे समस्त रसों का त्याग करके बिलकुल नीरस भोजन लेते हैं।

मुनियों को शरीर से मोह नहीं होता है। वे शरीर को अपने संयम का साधन मात्र समझ कर उसकी स्थिति के लिये थोडा सा आहार देना आवश्यक समझते हैं किन्तु वे आहार इस तरह का देना चाहते हैं जो कि शरीर को अधिक पोषक या उसमें मद उत्पन्न करने वाला न हो। क्योंकि गरिष्ठ (भारी पोपक) भोजन करने से इन्द्रियों में विकार जाग्रत होता है, जिससे विषय भोगों की ओर मनोवृत्ति जाया करती है। महाव्रती साधु इन्द्रियों के विषय भोगों के त्यागी होते हैं, वे भोगी न होकर योगी होते है। इस कारण ऐसा रसदार गरिष्ठ भोजन लेना अपने लिये उचित नहीं समझते, जिससे जिह्वा इन्द्रिय की लालसा बढ़े, चित्त योग की ओर न जाकर भोग की ओर उन्मुख हो।

इसी अभिप्राय से वे रस परित्याग तप का आचरण किया करते हैं।

विविक्त शयन-आसन

एकान्त स्थान मे सोना, बैठना, रहना विविक्त शयनासन तप है।

आत्म-साधना के लिये शान्त वातावरण की आवश्यकता है, क्योंकि जहां पर कोलाहल, विविध शब्द या हल्ला गुल्ला हो रहा है वहां चित्तवृत्ति उस ओर चली जाती है। इसके सिवाय जहां पर अनेक पुरुष, स्त्री, बालक आदि हों वहाँ पर उनको देखने के लिये, कारणवश उनसे बातचीत करने तथा अन्य प्रकार से उस ओर चित्त आकृष्ट हो जाता है, इस कारण मनोवृत्ति आत्मध्यान की ओर से हट कर सांसारिक बातों की ओर खिंच जाया करती है, आत्मध्यान नहीं होता।

इन विघ्न बाधाओं से दूर रहने के लिये मुनि जन-सम्पर्क से दूर एकान्त निर्जन स्थान में रहते है। कभी किसी वन में रहने लगते हैं, कभी किसी पर्वत पर जा विराजते हैं और कभी किसी गुफा, मठ

आदि में रहते हैं। भोजन के लिये निकटवर्ती गांव नगर में आते है और भोजन करके फिर अपने उसी एकान्त स्थान पर लौट जाते हैं।

यदि कभी कुछ दिनों के लिये किसी गांव या नगर मे रहना पड़े तो वहां भी मन्दिर, चैत्यालय, धर्मशाला आदि किसी एकान्त स्थान मे ही ठहरते हैं। जिससे उनके ध्यान, सामायिक, स्वाध्याय में विघ्न न पड़ने पावे।

इस तरह निर्विघ्न योग साधना के लिये समुचित वातावरण बनाने के उद्देश्य से यह तप पालन किया जाता है।

कायक्लेश

साधुजन संसार, शरीर तथा भोगों से विरक्त होकर साधु-दीक्षा लेते हैं। अतः वे अपना समस्त समय आत्मशुद्धि के लिये लगाया करते है। किन्तु आत्म-शुद्धि के अनुकूल जो भी ध्यान, सामायिक आदि कार्य किये जाते हैं, उन कार्यों के लिये शरीर की सहायता आवश्यक है क्योंकि ध्यान आसन स्वाध्याय में शरीर को भी कार्य करना पड़ता है।

आत्मशुद्धि के मार्ग में शरीर को सुख नहीं मिल सकता। सहन करने योग्य कष्ट शान्ति से सहन करना ही कायक्लेश तप है।

शरीर आराम पाने के लिये खूब खाना पीना चाहता है और कुछ काम नहीं करना चाहता, पड़ा रहना चाहता है। संसार में विषय भोगी मनुष्य शरीर की सेवा उसकी रुचि अनुसार करते हैं। परन्तु मुनि-जन शरीर को स्वल्प आहार देकर उससे धर्म-साधन का अधिक से अधिक काम लेना चाहते हैं, इस कारण अपने शरीर को सुख का अभ्यासी, प्रमादी नहीं बनाना चाहते। अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये पृथ्वी पर, शिला पर या तख्ते पर सोते हैं, खड़े होकर भोजन लेते हैं, केश लोंच करते है, नंगे पैर चलते है, एक ही आसन से अचल आत्म-ध्यान करते हैं।

आहार, नीहार (मूत्र मल करने) के बाद कायोत्सर्ग (खड़े होकर कुछ देर ध्यान) करते हैं। ये समस्त क्रियाएं कायक्लेश का ही अंग हैं। इस तरह यह तप भी आत्म साधना का सहायक तप है। खड़े होकर ध्यान करना भी कायक्लेश माना है।

इन छहों तपों का प्रभाव शरीर पर पड़ता है अतः इनको बहिरङ्ग तप कहते हैं। बहिरङ्ग तप अन्तरङ्ग तपों के कारण हैं। अतः मुनि-जन इनका सदा आचरण करते हैं। गृहस्थ भी कायक्लेश के सिवाय शेष ५ तपों को अपनी शक्ति अनुसार कर सकता है।

अन्तरंग तप

अन्तरङ्ग तप जिनका प्रभाव मनोनिग्रह के ऊपर पड़ता है छह प्रकार का है। १-प्रायश्चित, २-विनय, ३-वैयावृत्य, ४-स्वाध्याय, ५-व्युत्सर्ग और ६-ध्यान।

आत्म शुद्धि के प्रतिकूल यदि मुनि से कोई त्रुटि-अपराध हो जावे तो मुनि उस त्रुटि का दण्ड लेने के लिये जो क्रिया करते हैं उसको प्रायश्चित कहते हैं।

प्रायश्चित अनेक प्रकार से किया जाता है, किन्तु स्थूल रूप से उसकी दो विधियां हैं। १-अपने गुरु या संघ नायक के सामने अपने अपराध को शुद्ध मन से यथार्थ कहदे और आचार्य महाराज उसका जैसा भी कुछ दण्ड दें उसको सहर्ष पालन करे। २-यदि गुरु, आचार्य का समागम न हो तो स्वयं उसका प्रतिक्रमण करके अपनी समझ के अनुसार उसका दण्ड ले लेवे।

प्रायश्चित मुनि की शारीरिक दशा, देश, काल के अनुसार उपवास, ध्यान, रसत्याग आदि के रूप में दिया जाता है। लोहाचार्य को उनके गुरु ने सवा लाख व्यक्ति नये जैन बनाने का प्रायश्चित दिया था, तदनुसार उन्होंने सवा लाख अग्रवालों को उपदेश देकर जैनधर्म में दीक्षित किया। प्रायश्चित में किसी मुनि की दीक्षा कम कर दी जाती है, किसी को दूसरे मुनिसंघ में चले जाने का आदेश दिया जाता है, किसी को नई दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा दी जाती है, किसी को संघ से बाहर कर दिया जाता है। इस तरह आचार्य को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार जैसा कुछ उचित प्रतीत होता है, उस तरह का प्रायश्चित दिया करते हैं।

प्रायश्चित लेने से मन में से यह ग्लानि दूर हो जाती है कि मुझसे अमुक अपराध हो गया है, मैं पापी हूं, मेरा आत्मा पतित अपराधी है आदि। मन की ग्लानि दूर हो जाने से मन शुद्धि हो जाती है। इस कारण आत्मा को शुद्ध करने के लिये प्रायश्चित भी एक अच्छा उत्तम सरल साधन है। जैसे—अग्नि में तपाने से सोने का खोट निकलकर सोना शुद्ध हो जाता है, उसी तरह प्रायश्चित द्वारा आत्मा का दोष दूर हो जाता है और मन शुद्ध हो जाता है।

विनय

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र तथा रत्नत्रय के धारक साधुजन का मन से गौरव मानना उनका उचित सम्मान करना विनय है।

कोई भी गुण किसी व्यक्ति से ग्रहण करने का मुख्य साधन उस गुण के धारक व्यक्ति का समुचित विनय करना है। क्योंकि विनय करने वाले शिष्य को गुरु अपने हृदय के उदार भाव से वह कला बता देता है जिसके कारण शिष्य उस गुण को स्वल्पकाल में प्राप्त कर लेता है। जो शिष्य विनीत नहीं होता अपने गुरु की उचित विनय नहीं करता है, गुरु उससे प्रसन्न नहीं होता और उसको वह गुण मन लगा कर नहीं सिखाता जिससे शिष्य को उतना लाभ नहीं होने पाता जितना कि होना चाहिये।

गुरु को ऊंचे आसन पर बिठाना, उनके आते ही खड़े हो जाना, उनके आगे हाथ जोड़ना, नमस्कार करना, उनके चरण-स्पर्श करना, उनका शारीरिक खेद दूर करने के लिये उनके पैर दबाना, उनके पीछे चलना, उनके साथ नम्रता से रहना, नम्रता से बातचीत करना, उनकी आज्ञा सहर्ष मानना इत्यादि गुरु विनय है, इसी का दूसरा नाम उपचार विनय है।

सम्यग्दर्शन को आत्म-शुद्धि का मूल आधार समझकर उसका अंग सहित रुचि के साथ निर्दोष पालन करना सम्यग्दर्शन का विनय है।

शास्त्र स्वाध्याय, अध्ययन अध्यापन करना, शंका समाधान करना, पाठ करना, पदार्थ निर्णय करना, उपदेश देना, शास्त्र निर्माण करना इत्यादि रूप से ८ अंगों सहित सम्यग्ज्ञान बढ़ाने में रुचि के साथ यत्नशील रहना सम्यग्ज्ञान विनय है।

५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति रूप १३ प्रकार के चारित्र का ठीक तरह अतिचार, अनाचार रहित निर्दोष आचरण करने में उत्साही तथा सदा यत्नशील बने रहना चारित्र विनय है।

विनय तप के द्वारा आत्मशुद्धि का मुख्य साधन रत्नत्रय सुगमता के साथ प्राप्त हो जाता है।

वैयावृत्य

रोगी, वृद्ध, अशक्त, बालमुनि की सेवा करना वैयावृत्य तप है।

मुनि संघ में कोई मुनि किसी रोग से पीड़ित हो जाता है, उस समय यदि उसकी उचित सेवा न की जावे, उसका कष्ट कम करने का यत्न न किया जावे तो उस रोगी मुनि के परिणामों में क्लेश, व्याकुलता आ सकती है जिससे कि संघ में क्षोभ हो सकता है तब उसको तो अशुभ कर्म का संचय होगा ही। इसी तरह वृद्ध, बाल, निर्बल साधुओं को उपवास करने से, पैदल चलने से, एकासन से देर तक ध्यान करने आदि से शरीर में खेद हो जाता है, थकावट आ जाती है, निर्बलता बढ़ जाती है। उस समय परम दयालु चित्त मुनियों का अपने आचार्य की आज्ञानुसार उन पीड़ित, खिन्न, निर्बल मुनियों की सेवा करना मुख्य कर्तव्य है।

दयालु व्यक्ति दूसरे का दुःख नहीं देख सकता, दूसरे को किसी दुःख में पड़ा देखकर उस दुःख को मिटाने की भावना उसके हृदय में अपने आप पैदा हो जाती है, फिर महाव्रती साधु तो परम दयालु होते हैं, वे किसी साधु का दुःख कैसे देख सकते हैं। इस करुणामयी भावना से वे दुःखी मुनि की सब तरह उचित सेवा करते हैं। उनके पैर दबाते हैं, शिर, हाथ, पीठ, छाती आदि दबाते हैं। उनको सहारा देकर मल मूत्र कराते हैं, उनका मल मूत्र उठा कर किसी अन्य प्रासुक स्थान पर फेंक आते हैं। उनके चित्त में शान्ति, वैराग्य, धैर्य, उत्साह, आत्मबोध लाने के लिये उनको १२ भावनाओं तथा संसार, शरीर भोगों का स्वरूप समझाते हैं। वैराग्य पाठ, परमेष्ठी की स्तुति सुनाते हैं, हितकारी उपदेश मीठे शब्दों में सुनाते हैं। चारों गतियों के दुःख, आत्मा का स्वरूप, तत्व, द्रव्य, पदार्थ का विवरण बतलाते हैं।

यानी—जिस प्रकार भी रोगी निर्बल, दुःखी साधु का चित्त अशुभ चिन्तन की ओर से हट सके वे सब समुचित उपाय करते हैं। यह सब वैयावृत्य है। वैयावृत्य से आत्मशुद्धि और पर-शुद्धि होती है। इस दृष्टि से वैयावृत्य भी बहुत महत्वशाली तप है।

स्वाध्याय तप

अपना ज्ञान बढ़ाने के लिये शास्त्रों को पढ़ना, दूसरों को पढ़ाना, शंका निवारण के लिये विद्वानों से किसी विषय का पूछना, पाठ करना, शास्त्रीय विषय को विचारना यह सब स्वाध्याय है।

जिस तरह शरीर नेत्रों द्वारा पदार्थों को देखता है, उसी तरह आत्मा ज्ञान के द्वारा सब कुछ जानता है। आत्मा का नेत्र उसका ज्ञान है। ज्ञान बिना आत्मा अन्धे के समान है, अतः शास्त्रों का स्वाध्याय करके प्रत्येक स्त्री पुरुष को ज्ञानवान बनना, बनाना चाहिये।

जिस तरह साबुन की रगड़ से वस्त्र का मैल बाहर आ जाता है और वस्त्र की स्वच्छता प्रगट हो जाती है इसी तरह शास्त्रों के स्वाध्याय से ज्ञान के परदे हटते चले जाते हैं और ज्ञान की किरणें फैलती

चली जाती हैं। ज्ञान जब तक पूर्ण (केवल ज्ञान) न हो जाय तब तक ज्ञान को स्वाध्याय के द्वारा विकसित करते जाना चाहिये!

तीर्थंकर देव राग-द्वेष रहित होते हुए भी अपनी तीर्थंकर प्रकृति के उदय से समस्त जीवों को कल्याणकारी उपदेश देकर जगत् को सुमार्ग दिखलाते हैं। परमदयालु गणधर उस जिनवाणी को द्वादश अंगों के रूप में गूंथ देते हैं, फिर आचार्य गुरु-परम्परा से उस ज्ञान की धारा बहाते हैं, अपने शिष्य प्रशिष्यों को ज्ञान प्रदान करते हैं। अनेक आचार्य भव्य जीवों के कल्याण के लिये अपने सामायिक स्वाध्याय आदि के अमूल्य समय को शास्त्र रचना मे लगाते हैं। उनके ही उपकार का यह शुभ फल है कि आज भी जिनवाणी हमको शास्त्रों द्वारा प्राप्त है।

संसार की अन्य विद्याओं (गणित, भूगोल, ज्योतिष, साहित्य, व्याकरण, न्याय आदि) को जान लेने पर भी जब तक आध्यात्मिक ज्ञान नहीं होता तब तक आत्मा का कुछ भी हित नहीं होता, इस कारण आत्मउद्धार के लिये जो जिनवाणी जिन शास्त्रों में मौजूद है उन शास्त्रों का स्वाध्याय बहुत उपयोगी है।

आत्मा क्या है, कब से है, कहां से आया है, कहां जायगा, संसार में सुख दुःख भोग कर चक्कर क्यों लगा रहा है, ससार चक्र कैसे बनता है, कर्मजाल कैसे कटता है, मुक्ति किस तरह होती है? इत्यादि आत्म उपयोगी सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक स्त्री पुरुष का मुख्य कर्तव्य है। इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये पूर्व आचार्यों द्वारा रचित शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिये जिससे आत्म-उपयोगी कार्य किया जा सके।

इस तरह हृदय के नेत्र खोलने के लिये स्वाध्याय तप बहुत लाभदायक है।

व्युत्सर्ग तप

बहिरंग अन्तरंग परिग्रह का त्याग व्युत्सर्ग है।

पीछी, कमंडलु, धन आदि बाहरी पदार्थों से ममता मोह त्याग कर निर्ममत्व होना बहिरंग-व्युत्सर्ग है। मिथ्यात्व, क्रोध आदि कषाय, हास्य आदि नोकषायों का त्याग करना अन्तरंग व्युत्सर्ग है।

मुनिराज समस्त परिग्रह का त्याग करके साधु दीक्षा ग्रहण करते हैं इसी कारण अपने शरीर पर लेशमात्र वस्त्र तक नहीं रखते। सयम (जीव रक्षा) साधन के लिये मोर के पखों की पीछी रखते हैं क्योंकि मोर के पंख बहुत कोमल होते हैं, ऊन में कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं किन्तु मोर के पखों मे कीड़े नहीं पैदा होवे, सदा प्रासुक रहते हैं तथा मोर के नाचते समय उसकी पूंछ से बहुत पंख स्वय जमीन पर गिर पड़ते हैं, अतः उनके लिये न तो मोर को कष्ट देना पड़ता है और न द्रव्य ही खर्च करना पड़ता है। शौच के लिये प्रासुक पानी भरने के लिये लकड़ी या नारियल का एक कमंडलु होता है जिसमें श्रावक प्रासुक जल दे देते हैं। और ज्ञान वृद्धि के लिये शास्त्र होता है। इसके सिवाय मुनियों के पास कुछ भी नहीं होता। इन तीनो पदार्थों के साथ भी वे ममता नहीं करते।

अन्तरंग में उनको अपने शरीर से भी मोह नहीं होता, इसी तरह ध्यान के समय शरीर की समस्त क्रियाओं को, भोजन पान आदि को नियत समय के लिये और समाधिमरण के समय जीवन

पर्यन्त आहार छोड़ देते हैं। इसके सिवाय केशलोंच, पृथ्वी पर शयन, नग्न रहना, एकासन से ध्यान आदि द्वारा तथा उपसर्ग के समय शान्ति तथा धैर्य से कष्ट सहन करके अपने अन्तरङ्ग व्युत्सर्ग का आचरण करते हैं।

मोह ममता ही कर्मबन्ध तथा संसार भ्रमण का कारण है उस मोह ममता का परित्याग इस व्युत्सर्ग द्वारा विशेष रूप से हुआ करता है, इस दृष्टि से व्युत्सर्ग तप भी बहुत हितकारी और लाभदायक है।

ध्यान

किसी भी विषय पर चित्तवृत्ति का एकाग्र होना ध्यान है।

विचारों का मूल साधन मन है। मन के द्वारा ही अनेक तरह के शुभ अशुभ शुद्ध विचार हुआ करते हैं। जिस समय शरीर और वचन की क्रिया बन्द रहती है उस समय भी मन में कुछ न कुछ अच्छे बुरे संकल्प विकल्पों की क्रिया होती ही रहती है। सोते समय शरीर और वचन निश्चेष्ट (निकम्मे) रहते है किन्तु मन उस समय भी अपना कार्य नहीं छोड़ता। अनेक तरह के स्वप्न दीखना मन का ही कार्य है। बिना स्त्री-सम्पर्क के पुरुषों को सोते समय मन के दूषित विचारों के कारण ही स्वप्न दोष हो जाता है। इस कारण मन से अच्छा उपयोगी कार्य लेने का अभ्यास करना चाहिये।

मन के विचारों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—१. आर्तरूप (दुखीरूप), २. रौद्ररूप (भयानक विचार), ३. शुभरूप (धर्मरूप), और ४. शुद्धरूप (राग द्वेष रहित शुक्लरूप)

१. प्रियवस्तु—पुत्र, मित्र, स्त्री, पिता, धन, मकान आदि का वियोग हो जाने पर, नष्ट भ्रष्ट हो जाने पर खो जाने पर जीव के विचार दुखी होते हैं। (इष्ट वियोग) २. अथवा—अप्रिय वस्तु—शत्रु, कुपुत्र, कुमित्र, कुभार्या, कुमाता, कुपिता, कुभ्राता आदि के मिलने पर, कलह, क्लेश, मार पीट आदि द्वारा चित्त में चिन्ता, व्याकुलता, भय आदि दुखी भाव बने रहते हैं। (अनिष्ट संयोग)

३. शिर, पेट, कान, नाक, नेत्र आदि में किसी रोग के कारण पीड़ा होने पर, वायु की पीड़ा अथवा ज्वर आदि अन्य शारीरिक रोगों के कारण जो महावेदना होती है, उस समय चित्त व्याकुल होता है। ४. अथवा भविष्य के लिये अनेक प्रकार के संकल्प विकल्पों से चित्त बेचैन होता है। इस तरह दुःख के अनुभव रूप चिन्तवन में मन का उलझा रहना आर्तध्यान है।

१—अन्य मनुष्य पशु आदि के मारने, कूटने, जलाने, छेदने, भेदने, घायल करने, गिरा देने, काट देने आदि की विचार धारा बनाये रखना, तथा किसी को लड़ा भिड़ा कर प्रसन्न होना, अथवा किन्हीं मनुष्यों द्वारा पशुओं पक्षियों आदि को परस्पर लड़ाते भिड़ाते देखकर खुश होना, हिंसाजनक कार्यों में आनन्द मानना। (हिंसानन्द) २—असत्य बोलने, दूसरे को धोखा देने, कूट कपट करने, दूसरों को भ्रम पैदा करने, दूसरों को ठगने आदि में मन का प्रसन्न रहना। (असत्य में आनन्द मानना)। ३—दूसरो की वस्तु उड़ाने, चुरा लेने, गुम कर देने, लूट लेने आदि चोरी-सम्बन्धी कार्यों में चित्त प्रफुल्लित होना।

(चौर्यानन्द) और ४—रात दिन धन एकत्र करने में लगे रहना, धर्म कर्म, सभ्यव्यवहार आदि की उपेक्षा करके, स्वास्थ्य आदि की भी परवा न करके धन सम्पत्ति कमाने में लवलीन रहना, न्याय अन्याय, मान अपमान, नीति अनीति, यश अपयश आदि की चिन्ता न करके धन इकट्ठा करने में तन्मय रहना, उसी में प्रसन्न रहना, (परिग्रहानन्द) रौद्र ध्यान है।

१—दान, उपकार, दीन दुखियों की सेवा, समाज का उद्धार, लोक कल्याण, धर्म प्रचार के कार्य में दत्तचित्त रहना, जिनवाणी के प्रचार की भावना रखना, धर्म प्रचार का उत्साह रखना (आज्ञाविचय) २—दुखी जीवों के दुख दूर करने की भावना, कुपथगामी जीवों को सन्मार्ग पर लाने के विचार, अज्ञान अश्रद्धा जगत से मेटने की भावना रखना (अपायविचय)। ३—भाग्यचक्र, अभाग्यचक्र बनने बिगड़ने की प्रक्रिया का, सुख, शान्ति, अशान्ति के कारण कलापों का, कर्मजाल में फंसने तथा उससे मुक्त आदि के विचार में मनोवृत्ति लगी रहना (विपाकविचय)। ४—जगत के आकार प्रकार आदि के विचार में तथा स्व-पर कल्याण के अन्य विचारों में संलग्न रहना (संस्थान विचय) धर्मध्यान है।

राग करने से भी कर्मजाल बनता है और द्वेष मोह आदि भी कर्म जंजीर के कारण हैं। आत्मा में अशान्ति, क्षोभ, व्याकुलता इन ही राग द्वेष, मोह, क्रोध, काम, लोभ, शोक, हर्ष, विषाद आदि के कारण हुआ करती है, अतः समस्त संसार से सम्पर्क तोड़कर, किसी भी पदार्थ से यहां तक कि निज शरीर से भी न रंच मात्र अनुराग-प्रेम करना, न किसी भी पदार्थ से लेश मात्र द्वेष, घृणा, विषाद आदि करना, आत्म साधना में ही तन्मय होना शुद्धध्यान या शुक्लध्यान है।

इन चारों ध्यानों में से आर्तध्यान और रौद्रध्यान अशुभ विचारों के कारण हुआ करते हैं, अतः ये दोनों ध्यान संसार के परिभ्रमण के कारण हैं। इनसे पाप कर्मों का बंध होता है। इन दोनों ध्यानों से दूर रहना चाहिये।

धर्म ध्यान में मन के विचार शुभ रूप होते हैं, अतः उनसे शुभ कर्मों का निर्माण होता है, जिससे आत्मा सन्मार्ग पर लगता है, स्वर्ग आदि शुभ गति प्राप्त करता है जिससे आत्मा को सांसारिक सुख शान्ति मिलती है।

राग द्वेष-विहीन शुक्ल ध्यान के द्वारा आत्मा शुद्धि प्राप्त करके संसार से मुक्त हो जाता है। इसी शुक्ल ध्यान के कारण भरत चक्रवर्ती ने मुनि बनकर अन्तर्मुहूर्त की समाधि से ही केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया।

अतः धर्मध्यान परम्परा से आत्मशुद्धि का कारण है और शुक्लध्यान साक्षात् मुक्ति का साधन है। इसीलिये बतलाया है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

यानी—मन के विचार ही कर्म-बन्ध के कारण हैं और मन के विचार ही कर्म-मुक्ति (अजर अमर निरञ्जन परमात्मा होने) के कारण हैं।

इस तरह ध्यान सबसे अधिक महत्वशाली तप है।

प्रवचन नं० ११५

स्थान— तिथि—

'गम्बर जैन मंदिर कूचा सेठ, दिल्ली द्वितीय भाद्रपद शुक्ला १२ बुधवार, २८ सितम्बर १९५५

त्याग-धर्म

आत्मशुद्धि के उद्देश्य से विकार भाव छोड़ना तथा स्व-पर उपकार की दृष्टि से धन आदि का ना त्यागधर्म है।

आध्यात्मिक दृष्टि से राग द्वेष क्रोध मान आदि विकार भावों का आत्मा से छूट जाना ही । उससे नीची श्रेणी का त्याग धन आदि से ममत्व छोड़कर अन्य जीवों की सहायता के लिये ा है।

'दान के मूल ४ भेद हैं—१—पात्रदान, २—दयादान, ३—अन्वयदान, और ४—समदान।

पात्रदान

मुनि, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक आदि धर्मपात्रों को दान देना पात्रदान है।

पात्र के संक्षेप से ३ भेद हैं—१—उत्तम, २—मध्यम, ३—जघन्य।

महाव्रतधारी मुनि उत्तम पात्र हैं। अणुव्रती श्रावक मध्यम पात्र हैं। व्रतरहित सम्यग्दृष्टि जघन्य ात्र हैं।

इनको दिया जाने वाला दान ४ प्रकार का है—१—आहारदान, २—ज्ञानदान, ३—औषधदान, और ४—अभयदान।

मुनि, आर्यिका आदि पात्रों को यथा विधि भक्ति, विनय, आदर के साथ शुद्ध भोजन कराना आहारदान है।

मनि आदि को ज्ञानाभ्यास के लिए शास्त्र, अध्यापक आदि का सामान जुटा देना ज्ञानदान है।

मुनि आदि व्रती त्यागियों के रोगग्रस्त हो जाने पर उनको निर्दोष औषधि देना, उनकी चिकित्सा (इलाज) का प्रबन्ध करना, उनकी सेवा शुश्रूषा करना औषधदान है।

वन पर्वत आदि निर्जन स्थानों में मुनि आदि व्रती त्यागियों को ठहरने के लिये गुफा, मठ आदि बनवा देना जिससे वहां निर्भय रूप से ध्यान आदि कर सकें, अभयदान है।

दयादान या करुणादान

दीन दुःखी जीवों को उनके दुःख दूर करने के लिए आवश्यकता के अनुसार दान करना दयादान है। यदि कोई दुखी दरिद्री भूखा हो तो उसको भोजन देना चाहिये, यदि निर्धन विद्यार्थी हो तो उसको पुस्तक, अध्यापक, छात्रवृत्ति (वजीफा) ज्ञानाभ्यास का साधन जुटा देना चाहिये। गरीब रोगियों को मुफ्त

दवा बांटना, उनके लिये चिकित्सा का प्रबन्ध कर देना, यदि दीन दरिद्र दुर्बल जीव को कोई सता रहा हो तो उसकी रक्षा करना, भयभीत जीव का भय मिटा कर निर्भय करना, नगे को वस्त्र देना, प्यासे को पानी पिलाना तथा अन्य किसी विपत्ति में फंसे हुए जीव की करुणा भाव से सहायता करना, किसी अनाथ का पालन पोषण करना, विधवा अनाथिनी की सहायता करना, निर्धन लड़के लड़कियों का विवाह सम्बन्ध करा देना, यह सब दयादान या करुणादान है।

समदान

समाज, जाति बिरादरी में सब व्यक्ति एक समान होते हैं। धनी-धनहीन का भेद होते हुए भी सबके अधिकार बराबर होते हैं, उनमें छोटा बड़ापन नहीं होता, अतः समाज उन्नति के लिए जो धन खर्च किया जावे, प्रेम सगठन बढ़ाने के लिये जो द्रव्य लगाया जावे वह सब समदान है। जैसे-धर्मशाला बनवाना, विद्यालय पाठशाला खोलना, प्रीतिभोज करना, सभा समिति स्थापित करना, प्रचारकों द्वारा प्रचार कराना, योग्य वर को कन्या देना, योग्य कन्या ग्रहण करना इत्यादि।

अन्वयदान

अपने पुत्र, पुत्री, भाई, बहिन, भानजे, भतीजे, आदि सम्बन्धियों को द्रव्य देना अन्वयदान है।

इन चारों दानों में से पात्रदान भक्ति से दिया जाता है। करुणादान दयाभाव से किया जाता है। समदान सामाजिक प्रेम से किया जाता है और अन्वय दान सम्बन्ध के स्नेह से दिया जाता है।

दान की श्रेणी

पूर्वोक्त चारों प्रकार के दानों में पात्रदान सबसे उत्तम है। इसका कारण यह है कि साधु आदि ज्ञानी त्यागी ससार का सबसे अधिक हित साधन करते हैं, वे केवल थोड़ा सा साधारण भोजन लेते हैं किन्तु लोक कल्याण के लिये वे महान् कार्य करते रहते हैं। संसार में शान्ति, सदाचार, सत्श्रद्धा, सज्ज्ञान का प्रचार करते है तथा अपनी भी आत्मशुद्धि करते हैं। तीर्थंकर मुनि का जहा आहार हो जावे, वह दाता स्वल्प काल में मुक्त हो जाता है।

इस कारण सबसे उत्तम शुभफल पात्रदान से प्राप्त होता है। जैसे बड़ का बीज तिल से भी छोटा होता है किन्तु उसको बो देने पर बड़ का बड़ा भारी छायादार वृक्ष पैदा हो जाता है उसी तरह धर्म पात्रों को दिया गया थोड़ा सा भी दान स्वर्ग आदि बड़े भारी शुभ फल को प्रकट करता है।

जो व्यक्ति सम्यक् श्रद्धा से शून्य होते हैं, वे कुपात्र कहे जाते हैं उनको दान देने से कुभोगभूमि में जन्म मिलता है, जहा भोगभूमि के शारीरिक सुख तो मिलते हैं किन्तु विकृत शरीर मिलता है, पशुओं के समान जीवन होता है।

दुष्ट, दुराचारी, कुपथगामी पापी मनुष्य अपात्र हैं, वे दान पाने के अधिकारी नहीं हैं। ऐसे अपात्रों को दान देने से पुण्य के बजाय पाप कर्म का बन्ध होता है। क्योंकि हिंसक, मद्यपायी, शिकारी, जुआरी को दान में कुछ द्रव्य मिल जावे तो उससे वह कुकर्म-पाप ही करता है।

पात्रदान से दूसरी श्रेणी पर करुणादान है। क्योंकि करुणादान में हृदय की दयाभावना फलती फूलती है, अहिंसा भाव का विकास होता है, और दुखिया का दुःख दूर होता है।

तीसरी श्रेणी पर समदान है क्योंकि समदान से साधर्मी जनका पोषण होता है जिससे धार्मिक परम्परा को प्रगति मिलती है। चौथी श्रेणी का अन्वय दान है क्योंकि इसमें लौकिक स्वार्थ की भावना मिली रहती है।

दान देते समय दाता के हृदय में न तो क्रोध की भावना आनी चाहिये, न अभिमान जाग्रत होना चाहिये, दान में मायाचार तो होना ही नहीं चाहिये। ईर्ष्याभाव से दान देने का भी यथार्थ फल नहीं मिलता। साथ ही किसी फल या नाम-यश की इच्छा से दान करना भी प्रशंसनीय तथा लाभदायक नहीं। दाता को शान्त, नम्र, सरल, निर्लोभी, सन्तोषी, विनीत होना चाहिये।

कीर्ति तो दान देने वाले को अपने आप मिलती ही है फिर कीर्ति की इच्छा से दान करना व्यर्थ है। दान देते समय सदा यह उदार भाव होना चाहिये कि जिसको दान दे रहा हूँ उसका कल्याण हो। दान देने से पुण्य कर्म का संचय होता है इस कारण दान से स्व-उपकार भी होता ही है।

मुनियों का दान

क्या मुनि भी दान करते हैं या दान कर सकते हैं? क्योंकि उनके पास एक फूटी कौड़ी भी नहीं होती, जब वे खुद ही नंगे हैं तब और किसी को क्या कुछ देंगे।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मुनिराज भी दान कर सकते हैं और किया करते हैं। तथा उनका दान गृहस्थों के दान से भी अधिक महत्वपूर्ण होता है।

मुनिवर एक तो सब जीवों को अभयदान देते हैं क्योंकि वे परम करुणामय अहिंसा महाव्रती होते हैं। दिन रात, उठते बैठते, चलते, सोते जागते बहुत सावधानी से छोटे बड़े, त्रस स्थावर जीवों की रक्षा में तत्पर रहते हैं। यदि उनको कोई मारे या गाली दे, अपमान करे तो भी न तो किसी को दुर्वचन कहते हैं, न शाप देते हैं और न कुछ अपने मन में उसके लिये बुरा विचार रखते हैं। इसी कारण उनकी शान्ति और अहिंसा का प्रभाव उनके निकटवर्ती पशु पक्षियों के ऊपर भी ऐसा पड़ता है कि वे भी अपनी हिंसक वृत्ति छोड़ देते हैं। श्रेणिक राजा जब बौद्ध धर्मी था तब उसने ध्यान मग्न यशोधर मुनि को मार डालने के लिये अपने शिकारी कुत्ते छोड़ दिये थे, परन्तु परम शान्त, यशोधर मुनि के पास पहुंच कुत्ते शान्त होकर उनके चारों ओर बैठ गये।

इस प्रकार मुनिराज अपने पास आये हुए जीवों की रक्षा करते हुए उनको अभयदान देते हैं। हिंसकों को अहिंसक बनाकर अन्य जीवों की रक्षा करने की प्रेरणा करते हैं, इस तरह एक तो वे सबको अभयदान करते हैं।

तथा—अपने पास आने वाले प्रत्येक स्त्री पुरुष को आत्मा, अनात्मा, परमात्मा, बन्ध मोक्ष का, पुण्य पाप का ज्ञान कराते हैं, सुगति दुर्गति जाने का बोध कराते हैं, भक्ष्य अभक्ष्य का भेद समझाते हैं। इत्यादि, सबको ज्ञान दान करते रहते हैं।

साधुओं के पास क्षण नश्वर भौतिक धन (रुपया पैसा) नहीं होता, उनके पास तो अविनाशी आत्मनिधि होती है उसी सत्श्रद्धान, सद्ज्ञान, सच्चारित्र रूप रत्नत्रय का सदा दान करते रहते हैं और

दान भी इतना करते हैं जितना कि कोई ले सके। इस दान को पाकर बहुत से व्यक्ति सदा के लिये दुःखों से छूटकर अजर अमर कृतकृत्य हो जाते हैं। इस कारण मुनियों का दान अनुपम है।

गृहस्थ का दान

संसार में धन उपार्जन करने में बहुत परिश्रम करना पड़ता है। पर्वत, नदी, समुद्र लांघना, आकाश मे उड़ना, गर्मी, सर्दी, वर्षा के कष्ट सहना, अनेक तरह के दुर्वचन सुनना, मार खाना, अपमान सहन करना, अन्याय, अनीति करना, कूट कपट, असत्य, चोरी, धोकेबाजी आदि कार्य कर लेने के बाद धन का संचय होता है। श्रीगुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में कहा है—

शुद्धैधनैर्विवर्द्धन्ते सतामपि न सम्पदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णा कदाचिदपि सिन्धवः।

यानी—जैसे समुद्र निर्मल शुद्ध जल से नहीं भरा करता है उसमें नदी नालों का गन्दा पानी पहुंचता रहता है इसी तरह सज्जन लोगों के पास भी न्याय नीति से सम्पत्ति नहीं जुटती है उसके लिये उन्हें भी अनीति, अन्याय अधर्म कुछ न कुछ करना ही पड़ता है।

इतने परिश्रम के बाद भी यदि भाग्य साथ देता है तो धन मिलता है अन्यथा भील, लकड़हारे, घसियारे, मजदूर रात दिन परिश्रम करके भी भूखे ही रहते हैं।

धन पाकर उसकी रक्षा करना और भी कठिन है। चोर, डाकू, भाई, बहिन, पुत्र, स्त्री, साझीदार आदि सब कोई किसी न किसी तरह धन झपटना चाहते हैं, आग जला देती है, पानी बहा देता है, भूकम्प नष्ट भ्रष्ट कर देता है, राजा छीन लेता है।

इन सबसे बचकर रहे तो उस धन के खर्च करने में और भी अधिक सावधानी आवश्यक है। किसी की स्त्री, किसी का पुत्र, किसी का मित्र और किसी का साझीदार बुरी तरह खर्च कर डालता है, ऐश-आराम व शौकीनी में धन खो देते हैं, बहुत से मनुष्य वेश्यागमन, परस्त्रीरमण, जुआ, मांस, शराबखोरी, मुकदमेबाजी आदि में नष्ट कर देते हैं। लोगों को धन पाकर बहुत भारी अभिमान होजाता है, उसके कारण मनुष्य दूसरों से घृणा करने लगता है, इस कारण समस्त लोग उसके शत्रु बन जाते हैं। उनसे भयभीत होकर धनिक को सदा अपनी रक्षा का प्रबन्ध करना पड़ता है।

बहुत से कंजूस न तो खुद अपने खाने पीने, पहनने ओढ़ने में खर्च करते हैं, न किसी को कुछ देते हैं, वे सर्प के अनुसार केवल उस धन की रक्षा किया करते हैं। ऐसे कंजूसों का धन या तो चोर डाकुओं के काम आता है अथवा मरकर सम्बन्धियों की छीना झपटी में नष्ट होता है।

इस तरह धन के संचय करने में दुःख, उसकी रक्षा करने में कष्ट और उसके खर्च करने में बड़ी पीड़ा होती है। इन सब बातों से मनुष्य बहुत सा अशुभ (पाप) कर्म-बन्ध किया करता है।

इस पाप से छूटने का केवल एक ही उपाय है कि धर्म साधन, धर्म प्रचार, दीन दुखियों की सेवा,

लोकहित तथा परोपकार में उस धन को खुले हाथों से दान किया जावे। पात्रदान में, करुणादान में, समाज में, समाज उन्नति में आवश्यकतानुसार खर्च किया जावे।

एक कवि ने बादल के बहाने किसी धनी से कहा है कि—

वितर वारिद वारिद वातुरे चिरपिपासितचातक पोतके।
प्रचलिते मरुति क्षणमन्यथा क्व भवान् क्व पयः क्व चातकः॥

यानी—हे बादल! बेचारा चातक पक्षी अपनी प्यास बुझाने के लिये बड़ी लालसा से तेरी ओर देख रहा है—इसके मुख में कुछ पानी की बूंदें डालकर इसकी प्यास बुझादे। अन्यथा यदि प्रबल वायु का वेग आया तो पता नहीं तू कहां पहुँचेगा, तेरा पानी कहां गिरेगा और बेचारा यह चातक कहां चला जायगा?

कवि ने धनिक से प्रेरणा की है कि अपने क्षणिक, अस्थिर धन से दीन दुखी अनाथों की रक्षा करले, अन्यथा पापकर्म उदय आते क्या देर लगती है, उस दशा में न तेरा धन रहेगा और न तेरे ऐसे ठाठ बाठ रहेगे।

धन की दशा बतलाते हुए कवि कहता है—

दानं भोगोनाशस्तिस्रोगतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥

यानी—धन की तीन अवस्थायें होती हैं—१. दान, २. भोग और ३. नाश। जो मनुष्य धन का न तो दान करता है, न उसका भोग उपभोग करता है, उसका धन किसी न किसी तरह नष्ट हो जाता है।

बुद्धिमान पुरुष अपनी आयु तथा अपने धन को अस्थिर समझकर दान में लगाते हैं जिससे कि पुण्य कर्म से उनको इस लोक में तथा परलोक में लक्ष्मी प्राप्त होती रहती है। मूर्ख पुरुष अपने हाथ से दान नहीं करते हैं, दूसरे लोग उनसे दूसरी तरह से छीन लेते हैं। इसी बात को एक कवि ने बहुत अच्छी तरह कहा है—

कोई देकर के मरता है, कोई मर करके देता है।
जरा से फर्क से बनते हैं, ज्ञानी और अज्ञानी॥
अगर धन रक्षा है मंजूर, तो धन वालो बनो दानी।
कुए से गर नहीं निकला तो, सब सड़ जायगा पानी॥

दान देने वाला कभी गरीब दरिद्र नहीं होता उसका भण्डार सदा भरपूर रहता है। इस कारण अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्येक स्त्री पुरुष को कुछ न कुछ दान अवश्य करते रहना चाहिये, पता नहीं

कब आयु छूट जावे। यदि एक एक पैसा भी प्रतिदिन दान के लिये निकाला जावे तो वर्ष में ६) रुपये हो जाते हैं।

अपने दीन दुःखी, अनाथ, विधवा, साधर्मी भाई बहिन की गुप्त सहायता करते रहना गृहस्थ के लिये बड़ा धर्म है। गुप्त दान का पुण्य बहुत भारी है इससे न तो सफेदपोश लेने वाले को संकोच होता है और न देने वाले दानी के हृदय में अभिमान होता है।

प्रवचन नं० ११६

स्थान—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली

तिथि—
भादों शुक्ला १३ बृहस्पतिवार, २६ सितम्बर १६५५

आकिंचन

आत्मा के अपने गुणों के सिवाय जगत में अपनी अन्य कोई भी वस्तु नहीं है इस दृष्टि से आत्मा अकिंचन है, अकिंचन रूप आत्म-परिणतिको आकिंचन कहते हैं।

जीव संसार में मोहवश जगत के सब जड़ चेतन पदार्थों को अपनाता है, किसी से पिता, माता, भाई, बहिन, पुत्र, पति, पत्नी, मित्र आदि के विविध सम्बन्ध जोड़कर ममता करता है। मकान, दुकान, सोना, चांदी, गाय, भैंस, घोड़ा, वस्त्र, वर्तन आदि वस्तुओं से प्रेम जोड़ता है। शरीर को तो अपनी वस्तु समझता ही है। इसी मोह ममता के कारण यदि अन्य कोई व्यक्ति इस मोही आत्मा की प्रिय वस्तु की सहायता करता है तो उसको अच्छा समझता है, उसे अपना हितु मानता है। और जो इसकी प्रिय वस्तुओं को लेशमात्र भी हानि पहुँचाता है उसको अपना शत्रु समझकर उससे द्वेष करता है, लड़ता है झगड़ता है। इस तरह संसार का सारा झगड़ा संसार के अन्य पदार्थों को अपना मानने के कारण चल रहा है।

अन्य पदार्थों की इसी ममता को परिग्रह कहते हैं। यदि भरत चक्रवर्ती के समान सुन्दर लुभावने पदार्थों के रहते हुए भी उन पदार्थों से मोह ममता न हो, उनको अपना न समझे, जल मे कमल की तरह से अपने आपको सबसे पृथक् समझे। यानी—संसार उसके चारों ओर हो तो हो किन्तु उसके हृदय में अपने आत्मा के सिवाय संसार की कोई भी जड़ चेतन वस्तु न हो तो न उसके अन्तरंग में परिग्रह है, न बहिरंग में कोई परिग्रह है।

तथा—यदि मन में पदार्थों के साथ मोह ममता है किन्तु है नग्न दिगम्बर साधु, तो वह परिग्रही है। उस साधु की अपेक्षा भरत सरीखा गृहस्थ श्रेष्ठ है। इसी भाव को श्री समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में यों प्रगट किया है—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोही नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोही मोहिनो मुनेः॥

यानी—मोह ममता रहित गृहस्थ मोक्षमार्ग पर चलने वाला है, मोही मुनि मोक्षमार्गी नहीं है, ससारी है। इसी कारण निर्मोही गृहस्थ मोही मुनि से श्रेष्ठ है।

यानी—मोही ग्रहस्थ के अन्तरंग तथा बहिरंग में परिग्रह है। यदि वह नग्न मुनि हो तो भी उसके हृदय में संसार है और मोह-शून्य गृहस्थ के बाहर संसार दिखाई देता है किन्तु उसके हृदय में संसार की रेखा भी नहीं है। इसी कारण वास्तव में परिग्रह मोह-ममता के कारण हृदय में ही हुआ करता है।

वह मोह ममता मोहनीय कर्म के उदय से होती है। मोहनीय कर्म के संक्षेप से १४ भेद हैं। १ मिथ्यात्व, २—क्रोध, ३—मान, ४—माया, ५—लोभ, ६—हास्य, ७—रति, ८—अरति, ९—शोक, १०—भय, ११—जुगुप्सा, १२—स्त्रीवेद, १३—पु वेद, २४—नपु सक वेद। इसी कारण अन्तरग परिग्रह के १४ भेद है।

इस अन्तरंग परिग्रह के कारण जीव जिन बाहरी पदार्थों को अपनाता है उनको वाह्य परिग्रह कहते हैं। उसके १० भेद हैं। १—क्षेत्र (खेत जमीन), २—वस्तु (घर), ३—हिरण्य (चांदी), ४—सुवर्ण (सोना) ५—गोधन (गाय घोड़ा आदि पशु), ६—धान्य (चावल गेहूं आदि), ७—दासी (नौकरानी), ८—दास (चाकर), ९—कुप्य (वस्त्र), १०—भाण्ड (बर्तन)। इस तरह जीव मोह के कारण इस अंतरंग बहिरंग २४ प्रकार के परिग्रह से बंधा हुआ है।

मिथ्यात्व सबसे बड़ा परिग्रह है इसी के कारण जीव की श्रद्धा विपरीत हो जाती है, शरीर के साथ तन्मय होकर शरीर को अपनी निजी वस्तु मान लेता है बल्कि शरीर को ही आत्मा समझ बैठता है। इसी मिथ्या श्रद्धा के कारण जो बात शरीर को प्रिय प्रतीत होती है उसी को अनुराग करता है। शरीर को सन्तुष्ट करना ही अपना स्वार्थ मानता है उसी स्वार्थसिद्धि में समस्त जीवन बिता देता है। इसी विपरीत विश्वास के आश्रय से क्रोध, मान, माया, लोभ, रति (पर पदार्थों से प्रेम), अरति (अन्य पदार्थों से द्वेष), शोक (रज), भय (डर), जुगुप्सा (अन्य पदार्थों से घृणा, नफरत), स्त्रीवेद (पुरुष के साथ मैथुन के भाव), पुंवेद (स्त्री के साथ विषय कामना), नपुंसकवेद (हीजड़े के परिणाम) हुआ करते है।

माता पिता जो पुत्र के साथ बहुत प्रेम दिखलाते हैं, उसको सबसे अधिक प्रिय मानते है। वह प्रेम पुत्र के हित के लिये नहीं होता अपने स्वार्थ के लिये होता है। पुत्र को बुढ़ापे में अपनी सेवा करने वाला या कुल चलाने वाला जानकर ही माता पिता उससे प्रेम करते हैं। माता के ऊपर जब विपत्ति आ जावे तो माता अपने प्राण बचाने के लिये दुध मुंहे पुत्र को भी छोड़ जाती है। इतिहास में ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं।

बुन्देलखण्ड का प्रतापी वीर छत्रसाल जब कुछ दिन का ही बच्चा था तब बादशाह के सेना की पकड़ से बचने के लिये उसके माता पिता प्राण बचा कर भागे। इस छोटे बच्चे को भागने में बाधक समझ कर वे एक झाड़ी में छोड़ गये। छत्रसाल के भाग्य से उस झाड़ी के ऊपर मधु मक्खियों का एक छत्ता था उसमें से शहद की बून्द टपक-टपक कर छोटे बच्चे (छत्रसाल) के मुख पर गिरती रही, उसी को चाट-चाट कर वह बच्चा अपनी भूख मिटाता रहा और खेलता सोता रहा। सात दिन बाद जब बादशाही

सेना का भय हटा तब उस बच्चे (छत्रसाल) के पास आकर उसके माता पिता ने उसे जीवित पाया।

इस घटना से यह बात सिद्ध होती है कि यह स्वार्थी जीव जिस से भी अनुराग करता है वह स्वार्थ साधन के लिये ही करता है।

एक मुनि महाराज एक नगर में पधारे, उन्होंने संसार की स्वार्थ लीला का चित्र खींचकर अन्य पदार्थों से मोह ममता छोड़ने का उपदेश दिया। उपदेश सुनकर जब सब स्त्री पुरुष चले गये, तब एक पुरुष ने एकान्त में कहा कि महाराज! मेरी पत्नी मुझ से बहुत प्रेम करती है, मेरे लिये अपना जीवन अर्पण करने के लिये तैयार रहती है। मैं उससे प्रेम किस तरह त्याग दूं।

मुनि महाराज ने कहा कि तू भ्रम में है। इसकी परीक्षा तू कल ही ले सकता है, तू प्राणायाम के ढंग से अपना श्वास रोक कर मुर्दे की सी मूर्ति बना लेना तब तुझको अपनी पत्नी के प्रेम का पता चल जावेगा। उस पुरुष ने मुनि महाराज की बात स्वीकार की और घर चला गया।

दूसरे दिन प्रातः होते ही वह अपनी स्त्री से बोला कि आज मेरा हृदय घबड़ा रहा है, ऐसा अनुभव होता है कि मेरा प्राणपक्षी इस शरीर को छोड़कर उड़ जाना चाहता है।

उसकी पत्नी ने कहा प्राणनाथ! ऐसी बात न कहो, जरा आराम करने के लिये लेट जाओ, स्वास्थ्य (तबियत) ठीक हो जायगा। मैं अभी भोजन बनाकर आपके पास आती हूं। इतना कह कर वह लड्डू, खीर आदि भोजन बनाने में तन्मय हो गई।

वह आदमी लेटा हुआ सब कुछ चुपचाप देखता रहा। जब वह स्त्री भोजन बनाकर निश्चिन्त हो गई। तब वह अपने पति को देखने के लिये आई। उसका पति उसके प्रेम की परीक्षा लेने के लिये दालान के एक द्वार में पैर अड़ा कर अकड़ कर लेट गया और श्वास रोक कर उसने मुर्दे की सी अपनी मूर्ति बना ली।

उस स्त्री ने पति के पास आकर देखा तो उसे निश्चय हो गया कि उसका पति मर गया है। उस के नेत्रों में आंसू आ गये और धाड़ मार कर रोना ही चाहती थी कि उसे अपने स्वादिष्ट भोजन का ख्याल आ गया उसने सोचा कि यदि मैं अभी से रोई तो सब मनुष्य एकत्र हो जायेंगे और मैं खीर न खा सकूंगी, अतः पहले खीर खा लूं, पीछे रोऊंगी।

यह सोचकर झटपट भोजनशाला में गई और गर्म गर्म खीर खा कर पति के पास आ बैठी, और जोर जोर से रोने लगी। रोते हुए उसने कहा कि—

'पिया चले स्वर्ग को मुझे भी तो कुछ अक्खो' (कहो)।

उसका पति अपनी स्त्री की मक्कारी देखकर लेटे हुए ही बोला कि—

खीर सपट्टा कर गईं, अब लाडुओं को चक्खो।

उसकी स्त्री पति की बात सुनकर हैरान हुई और लज्जित होकर फिर प्रेम प्रगट करने लगी। तब

उस पुरुष ने कहा कि बस, अब मेरे सामने से तेरे मक्कारी के प्रेम का पर्दा हट गया है। अब इस घर को तू ही सभाल !

यह कह कर वह घर से बाहर निकल गया और मुनिराज का शिष्य बन गया।

संसार की ऐसी ही स्वार्थमयी लीला सर्वत्र दिखाई देती है, वास्तव में जीव का यहां कोई भी अपना पदार्थ नहीं है। जीव के जीते हुए यह सब कृत्रिम (बनावटी) प्रेमलीला चलती है। मरने के पीछे कोई भी उस प्रेम को नहीं रखता।

एक नगर में एक विद्वान् कवि रहता था, वह बहुत निर्धन था। एक दिन जब वह बहुत तंग आ गया तब उसने चोरी करने का निश्चय किया। विद्वान् तो वह था ही, अतः नीति विचार कर उसने अन्य किसी के घर चोरी करना उचित न समझा उस नगर के राजा का राजभवन ही चोरी के लिये चुना।

रात हुई और किसी तरह लुक छिप कर वह राजभवन में जा पहुंचा, वहां पर अनेक वस्तुएं देखकर कुछ निश्चय न कर सका कि यहां से कौनसी वस्तु उठा कर ले जाऊं। अन्त में घूमते फिरते राजा के शय्याभवन में जा पहुंचा।

दीपक के प्रकाश में उसने देखा कि राजा गहरी नींद में सो रहा है, उसके पलंग के चारों पायों के नीचे सोने की ईंटें लगी हुई हैं। यह देखकर उस विद्वान् चोर ने विचार किया कि इन ईंटों में से एक ईंट ले चलना चाहिये।

फिर उसके हृदय में विचार आया कि चारों में से किस को उठाऊं ? पलंग हिलने पर राजा जग जायगा तब कैसे होगा ? फिर उसने नीतिशास्त्र के श्लोक पढ़ डाले और सोचने लगा कि सुवर्ण चुराना अनुचित है। चोरी करने चला हूँ तब और ही कुछ चुराऊं इस सोने को क्यों चुराऊं ?

विचारों की ऐसी ही उधेड़बुन में उस विद्वान् चोर की रात समाप्त हो गई किन्तु वह कुछ भी न उठा सका।

प्रभात हुआ, राजा नींद से उठा और पलंग पर बैठ गया। राजा संस्कृत भाषा का विद्वान् था और प्रतिदिन उठते ही एक श्लोक बना कर फिर अन्य कार्य किया करता था। तदनुसार उस दिन भी एक श्लोक बनाने लगा, उसने श्लोक के तीन चरण बना भी डाले—

चेतो हरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः,
सद्बान्धवाः प्रणयगर्भ गिरश्च भृत्याः।
गर्जन्ति दन्ति निवहाश्चपलास्तुरंगाः,

यानी—मेरे पास मनोहर स्त्रियां हैं, प्रिय मित्र हैं, हितैषी मेरे भाई है, बहुत से विनीत नौकर हैं, बहुत से हाथी मेरे द्वार पर गर्जते रहते हैं और अनेक तेज चाल वाले मूल्यवान घोड़े मेरे पास विद्यमान हैं।

ये तीन चरण राजा ने अनेक वार पढ़े किन्तु चौथा चरण जब उससे न बन सका तब वह विद्वान् चोर भाव के आवेश में चुप न रह सका और उस श्लोक का चौथा चरण बनाता हुआ बोल उठा कि—

सम्मीलिते नयनयो र्नहि किंचिदस्ति

यानी—हे राजन्! तेरे नेत्र मिच जाने पर (मृत्यु हो जाने पर) तेरा कुछ भी नहीं है।

राजा ने अपने श्लोक की ऐसी सुन्दर पूर्ति सुनकर आश्चर्य से चोर की ओर देखा और उससे पूछा कि तू यहां कैसे आया? उस विद्वान् कवि ने अपनी दरिद्रता मिटाने के लिये चोरी करने को राजभवन में आने की बात, और वहां से कुछ भी न उठा सकने की सब बात ज्यों की त्यों सुना दी।

राजा उस विद्वान् से बहुत प्रसन्न हुआ और उसको बहुत सा धन पारितोषिक देकर उसने उसकी दरिद्रता मेट दी।

इस कथा से आकिंचन धर्म पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है राजा अपनी विभूति का बड़े अभिमान के साथ अपने श्लोक के ३ पदों मे वर्णन कर रहा था, मन में समझ रहा था कि मैं संसार में बड़ा भाग्यशाली हूँ यह सब ऐश्वर्य मेरा है। राजा की यह सब कल्पना ऐसी ही थी जैसे स्वप्न हुआ करते है। चोरी करने के लिये आये हुए उस कवि ने राजा को सचेत कर दिया कि राजन्! क्या गलत सोच रहे हो यह सब जागती दशा का स्वप्न है, आंख मिच जाने पर इन वस्तुओं में से तुम्हारी एक भी न रह सकेगी।

मनुष्य जन्म समय मुट्ठी बांधे हुए आता है, मानो संसार की वस्तुओं को अपनी मुट्ठी में रख लेगा। परन्तु ज्यों ज्यों वह अपनी आयु के समय बिताता जाता है उसकी मुट्ठी खुलती जाती है। अन्त में जब मृत्यु का समय आता है तब उसकी मुट्ठी बांधने पर भी नहीं बंधती, अपने आप खुल जाती है।

सिकन्दर बादशाह ने अनेक देशों पर आक्रमण करके उनको अपने आधीन किया और उनकी अपार सम्पत्ति लूट कर अपने देश में ले गया, जब वह मरने लगा तब उसको अपनी लूटी हुई सम्पत्ति देखकर बहुत दुःख हुआ कि इतना धन मैं यहीं छोड़कर जा रहा हूँ। उसने ससार को एक अच्छा पाठ पढ़ाने के लिये आज्ञा दी कि मेरे मर जाने पर मेरे दोनों हाथ अर्थी से बाहर रक्खे जावें और मेरी समस्त सम्पत्ति श्मसान भूमि तक मेरे साथ चले। उसके मरने के बाद ऐसा ही किया गया।

सिकन्दर के जनाज़े को देखकर एक कवि ने कहा कि—

सिकन्दर शहन्शा जाता सभी हाली बहाली थे,
सभी थी संग में दौलत मगर दो हाथ खाली थे।

इस प्रकार जीव न तो अपने साथ परभव से कुछ लाता है और न परभव को यहां से ले जाता है, अपना शरीर भी यहीं पर पड़ा हुआ छोड़ जाता है। आत्मा का कमाया हुआ पुण्य पाप ही उसके साथ रहता है उसके सिवाय रत्ती भर भी अन्य वस्तु उसके साथ नहीं रहती।

प्रवचन नं० ११७

स्थान— तिथि—

श्री दिगम्बर जैन मंदिर, कूचा सेठ, दिल्ली। द्वितीय भाद्रपद शुक्ला १४ शुक्रवार, ३० सितम्बर १९५५

ब्रह्मचर्य

कामसेवन का मन से, वचन से तथा शरीर से परित्याग करके अपने आत्मा में रमना ब्रह्मचर्य है।

संसार में समस्त वासनाओं में तीव्र और दुर्द्धर्ष कामवासना है। इसी कारण अन्य इन्द्रियों का दमन करना तो बहुत सरल है, किन्तु कामवासना की साधन भूत काम-इन्द्रिय का वश करना बहुत कठिन है। छोटे छोटे जीव जन्तुओं से लेकर बड़े से बड़े जीव तक में विषयवासना स्वाभाविक (वैभाविक) रूप से पाई जाती है। सिद्धान्त ग्रन्थों ने भी मैथुन संज्ञा एकेन्द्रिय जीवों मे भी प्रतिपादन की है।

कामातुर जीव का मन अपने वश में नहीं रहता, उसकी विवेकशक्ति नष्ट भ्रष्ट हो जाती है। पशु तो कामवासना के शिकार होकर माता बहिन पुत्री स्त्री आदि का भेदभाव करते ही नहीं, सभी को समान समझ कर सबसे अपनी कामवासना तृप्त करते रहते हैं इसी कारण उन्हें पशु (समानं पश्यति इति पशु) कहते हैं। परन्तु कामातुर मनुष्य भी कभी कभी पशु-सा बन जाता है। कवि ने कहा है—

दिवा पश्यति नोलूको मनुजो रात्रिं न पश्यति।
अपूर्वः कोपि कामान्धो दिवारात्रं न पश्यति ॥

यानी—दिन में उल्लू को दिखाई नहीं देता और मनुष्य को रात में नहीं दिखाई देता। परन्तु कामान्ध पुरुष न रात में कुछ देखता है न दिन में। उसके नेत्र कामवासना के कर्तव्य अकर्तव्य को कुछ नहीं देख पाते।

कभी कभी संसार सम्पर्क से दूर रहने वाले इन्द्रिय विजेता ऋषि लोग भी कामवासना के शिकार होकर अपनी तपस्या नष्ट कर डालते हैं। इस कारण कामदेव पर विजय प्राप्त करके ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना बहुत कठिन है। अतः कामवासना को जीतने वाला व्यक्ति संसार में सबसे अधिक पूज्य और बलवान् माना जाता है।

यह ब्रह्मचर्य का ही प्रताप है कि श्री नेमिनाथ तीर्थंकर अपना विवाह करने राजा उग्रसेन के घर बड़ी भारी बरात के साथ पधारे, किन्तु अहिंसा व्रत के कारण अपनी बरात में आये हुए मांस भक्षी लोगों के भोजन के लिये एकत्र किये गये पशु पक्षियों पर करुणा करके उनको छोड़ दिया और अति रूपवती, नवतरुणी राजकुमारी राजमती के साथ विवाह करना त्याग कर साधु बन गये। देवाङ्गना समान सुन्दरी राजमती ने नेमिनाथ से अपने साथ विवाह करने की अनेक प्रार्थनाए कीं किन्तु अटल ब्रह्मचारी नेमिनाथ पर कामदेव का रंचमात्र भी प्रभाव न हुआ।

अतिशय रूपवान सुदर्शन सेठ स्वदारसन्तोष (अपनी विवाहित स्त्री के सिवाय अन्य सब स्त्रियों

से मैथुन का त्याग) व्रत के धारक थे। उनके सुन्दर रूप पर आसक्त होकर रानी ने छल से अपनी धूर्त दासी के द्वारा उनको अपने महल में बुलवा लिया, और अपनी कामाग्नि शान्त कर देने के लिये सुदर्शन सेठ से बड़ी विनय प्रार्थना की, परन्तु अटल ब्रह्मचारी सुदर्शन सेठ विषय वासना के शिकार न हो सके। तदनन्तर कामविह्वल—कामपीड़ित रानी ने सुदर्शन सेठ द्वारा अपनी कामवासना तृप्त कराने के लिये उनके साथ बलात्कार करना चाहा। सुदर्शन सेठ को अपनी कोमल पुष्प शैया पर लिटाकर अपने वस्त्र उतार कर उनके साथ आलिङ्गन किया तथा अन्य सभी काम चेष्टाएं कीं परन्तु सुदर्शन सेठ आत्म-निमग्न रहे आये, रानी के आलिङ्गन से न तो उनके शरीर में जरा भी रोमांच हुआ और न उनकी काम इन्द्रिय (लिङ्ग) पर लेशमात्र काम विकार आया। तब निराश होकर रानी ने सुदर्शन सेठ पर असत्य दोष आरोपण करके राजा को भड़काया और सुदर्शन सेठ को प्राणदण्ड दिलवाया। किन्तु ब्रह्मचर्य की महिमा से शूली भी सुदर्शन सेठ के लिये सिंहासन हो गई।

बहुत से कामी पुरुष अपनी काम वासना शान्त करने के लिये स्त्रियों पर बलात्कार (स्त्रियों की इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक मैथुन करना) किया करते हैं किन्तु स्त्रियों द्वारा पुरुषों के साथ बलात्कार की की बात किसी ने न सुनी होगी वैसा विपरीत बलात्कार रानी ने सुदर्शन सेठ के साथ करना चाहा जिसमें कि उसको सफलता न मिल सकी।

सुदर्शन सेठ के समान ब्रह्मचर्यव्रत का पालन प्रत्येक पुरुष को करना चाहिये। तथा—सीता कितने ही दिनों तक रावण के कब्जे मे रही आई, रावण ने सब तरह के प्रलोभन सीता के सामने रक्खे, अपनी बड़ी भारी विभूति और विद्याधरों के प्रभाव से उसे प्रभावित करना चाहा तथा बहु रूपिणी विद्या सिद्ध करके रावण ने सीता को अपने साथ विवाह करने के लिये अनेक भयानक दृश्य दिखलाये परन्तु सीता के अटल ब्रह्मचर्य को वह जरा भी न डिगा सका।

योवन में पदार्पण करने वाली, राज सुखों में पली हुई तरुणी राजुलमती को उसके माता पिता ने नेमिनाथ के विरागी हो जाने पर अन्य राजकुमारों के साथ विवाह करने के लिये झुकाना चाहा किन्तु राजुल अपने व्रत से चलायमान न हुई और उसने विषय कामना को दबा कर अपना योवन तपश्चर्या मे लगा दिया।

सब स्त्रियों को भी सीता राजुल सरीखा दृढ ब्रह्मचर्य व्रत पालन करना चाहिये।

जिस कामवासना से मनुष्य का वीर्य नष्ट होता है वह वीर्य मनुष्य के शरीर में सबसे उत्तम धातु है। जो कुछ भोजन मनुष्य करता है उनका पाचन होकर शरीर के भीतर पहले रस बनता है, रस से खून बनता है, खून से मांस बनता है, मांस से मेदा बनती है, मेदा से अस्थि (हड्डी) तैयार होती है, अस्थि का सार अंश मज्जा (चर्वी) बनती है और मज्जा से वीर्य उत्पन्न होता है। जो भोजन आज किया जावे २८ वें दिन जाकर उससे वीर्य बन पाता है। अतः वीर्य सबसे श्रेष्ठ धातु है। मनुष्य यदि दो मन दूध पीवे तो उससे सिर्फ दो तोले वीर्य बनता है।

शरीर में और दिमाग में जो मूल शक्ति है वह वीर्य के कारण ही प्राप्त होती है। जो मनुष्य मैथुन द्वारा अपना वीर्य पतन करते रहते हैं उनके शरीर और दिमाग की शक्ति क्षीण हो जाती है और वे

बलहीन होकर अनेक रोगों के शिकार बन जाते हैं, ऐसे बलहीन मनुष्य ही राजयक्ष्मा-क्षयरोग (तपेदिक टी० बी०) के भी पंजे में फंस जाते हैं और अकाल में मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं।

इस कारण बलवान स्वस्थ दीर्घजीवन प्राप्त करने के लिये मनुष्य को अपने वीर्य की रक्षा करनी चाहिये, उसको व्यर्थ नष्ट न करना चाहिये। क्योंकि वीर्य शरीर का राजा है। जैसे कि राजा के बलवान रहते हुए प्रजा को कोई भी व्यक्ति दुःख नहीं पहुंचा सकता इसी तरह वीर्य के बलवान रहने पर शरीर को कोई भी रोग कष्ट नहीं पहुंचा सकता।

जो व्यक्ति पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं कर सकता, उसको यथा सम्भव ब्रह्मचर्य व्रत पालन कराने के उद्देश्य से विवाह संस्कार द्वारा स्वदार संतोष या परस्त्री त्याग व्रत ग्रहण कराया जाता है। विवाहित पुरुष को अपनी पत्नी के सिवाय संसार की शेष सभी स्त्रियों में से अपनी आयु से छोटी स्त्रियों को अपनी पुत्री समान, समान आयुवाली स्त्री को अपनी बहन के समान एवं अपने से बड़ी आयुवाली महिलाओं को अपनी माता के समान समझ कर मन से, वचन से तथा काय से उनके साथ काम वासना का त्याग करना चाहिये, शरीर द्वारा मैथुन का त्याग तो अवश्य करना चाहिये।

इसी प्रकार विवाहित स्त्रियों को भी अपने पति के सिवाय शेष सभी पुरुषों को अपने से छोटों को पुत्र समान, अपनी बराबर वालों को भाई के समान और अपनी आयु से बड़े पुरुषों को पिता के समान समझना चाहिये।

विवाहित स्त्री पुरुषों (पति-पत्नी) को भी अच्छी गुणवान, रूपवान, विद्वान, सुशील, धर्मात्मा सन्तान उत्पन्न करने के लिये ही ऋतु समय में मैथुन करना चाहिये, जिससे अपना शरीर स्वस्थ रहे और सुयोग्य सन्तान उत्पन्न हो। गर्भाधान हो जाने पर पति पत्नि को ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये जिससे गर्भस्थ शिशु को हानि न पहुँचे और वह कुशील स्वभाव का न हो। क्योंकि गर्भाधान के बाद माता पिता के प्रत्येक आचरण का प्रभाव गर्भ की सन्तान पर पड़ता रहता है। उस समय भी जो स्त्री पुरुष सदाचार से नहीं रहते उनकी सन्तान भी सदाचारी नहीं होती, दुराचारी व्यभिचारी होती है।

इसके सिवाय बीमारी तथा निर्बलता की अवस्था मे भी ब्रह्मचर्य का भंग नहीं करना चाहिये अन्यथा रोगी शरीर में और भी अधिक निर्बलता आ जाती है। स्त्री रोगग्रस्त हो तो उसके साथ मैथुन करने से उसको क्षयरोग हो सकता है। यदि पुरुष रोगी हालत में ब्रह्मचर्य से न रहे तो वह तपेदिक (क्षय) का शिकार हो सकता है। इस कारण शारीरिक निर्बलता के समय ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है।

मनुष्य का वीर्य १८ वर्ष की आयु में पक जाता है और स्त्री का रज १४-१५ वर्ष की आयु में पक जाता है, इस आयु से पहले न तो पुरुष स्त्री का विवाह होना चाहिये और न मैथुन होना चाहिये। २५ वर्ष का वर और १६ वर्ष की कन्या विवाह के लिये श्रेष्ठ हैं।

किन्तु विवाह हो जाने पर कामवासना में तन्मय न हो जाना चाहिये, उस सुयोग्य सन्तान उत्पन्न करने का ध्येय रखकर अधिक से अधिक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। पति पत्नी में से किसी के भी अस्वस्थ होने पर तो ब्रह्मचर्य से अवश्य रहना चाहिये। पत्नी की इच्छा न होने पर भी ब्रह्मचर्य भङ्ग करना अनुचित है। पत्नी की अनिच्छा होने पर, अयोग्यता (रजस्वला), गर्भाधान की दशा में विशेष करके गर्भाधान के छठे मास के पश्चात्, थकावट आदि के समय होने पर मैथुन करना बलात्कार के समान है।

यहां पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जिस व्यक्ति मे आत्मबल की कमी होती है, उसी में विषयवासना अधिक होती है। सिंह केवल एकबार विषय सेवन करता है, सिंहनी को उसी से गर्भाधान हो जाता है, तदनन्तर साथ साथ रहते, सोते, उठते बैठते भी फिर सिंह सिंहनी पर नहीं चढ़ता। हजारों गायों के झुण्ड में रहते हुए भी सांड रजस्वला गाय को ही छेड़ता है, गर्भाधान हो जाने के बाद फिर उस गाय के साथ भी ब्रह्मचर्य से रहता है। कुत्ते, बिल्ली, बकरी आदि निम्न जाति के जानवर भी वर्ष में कुछएक दिन ही कामातुर होते हैं, बाद मे लगभग ११ मास तक ब्रह्मचर्य से रहते हैं।

देव देवियों का शारीरिक मैथुन पहले दूसरे स्वर्ग में ही है। तदनन्तर क्रमशः स्पर्श, दर्शन (देखना), वार्तालाप, तथा मानसिक मैथुन होता है। सोलहवें स्वर्ग से ऊपर समस्त देव आजन्म ब्रह्मचारी होते हैं।

इस प्राकृतिक व्यवस्था से दो सिद्धान्त निश्चित होते हैं। १—निम्न श्रेणी के जीवों में विषय वासना तीव्र होती है, उच्च श्रेणी के जीवों में कामवासना कम होती जाती है। २—ब्रह्मचर्य आत्मा को अधिक आनन्ददायक है, काम सेवन में ब्रह्मचर्य की अपेक्षा आनन्द बहुत कम है। क्योंकि संसार में सबसे अधिक सुख सर्वार्थसिद्धि के देवों को होता है जो कि ब्रह्मचारी होते हैं।

अब उन मनुष्यों का विचार कीजिये जो काम वासना के कीड़े बन जाते हैं। कामवासना शान्त करने के लिये प्रतिदिन मैथुन सेवन करते हैं, एक ही बार नहीं किन्तु अनेक बार। काम-पिपासा शान्त करने के लिए जो अपनी पत्नी का स्वास्थ्य भी नहीं देखते, उसकी अनिच्छा की परवा नहीं करते। घर में सुन्दरी स्वस्थ पत्नी के होते हुए भी पर स्त्रियों को बुरी दृष्टि से देखते हैं। पर स्त्रियों को भ्रष्ट करते हैं, वेश्याओं से काम क्रीड़ा करते हैं, और भी अनेक अनर्थ करते हैं, क्या ऐसे मनुष्य कुत्ते, बिल्ली आदि पशुओं से भी निम्न श्रेणी के नहीं हैं? क्योंकि वे जानवर भी वर्ष मे १०-११ मास तक ब्रह्मचर्य से रहते हैं।

इस कारण विवाह हो जाने पर भी स्त्री पुरुषों को स्वस्थ सुखी प्रसन्न जीवन बिताने के लिये कम से कम काम सेवन करना चाहिये।

यदि अपने घर में कोई स्त्री विधवा हो जाय तो उसको पवित्र दृष्टि से देखना चाहिये, उसके साथ पवित्र सात्विक व्यवहार करना चाहिये, जिससे वह ब्रह्मचर्य पूर्वक अपना जीवन बिता सके। यदि हमको अपनी विधवा बहिन या पुत्री आदि का सदाचार सुरक्षित रखना हो तो हमको अपना चारित्र पवित्र बनाना होगा।

एक बंगाली ब्राह्मण की १६ वर्ष की लड़की विधवा हो गई, वह ब्राह्मण अच्छा अनुभवी बुद्धिमान था। वह उस लड़की को अपने घर लिवा लाया, उसने उसी दिन से ब्रह्मचर्य ले लिया। वह, उसकी पत्नी और पुत्री तीनों ब्रह्मचर्य से रहने लगे, जमीन पर सोने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि उस लड़की का यौवनकाल पवित्रता के साथ समाप्त हो गया।

बच्चों को सच्चरित्र बनाने के लिये दुधमुंहे बच्चे के सामने भी मैथुन सेवन न करना चाहिये। छोटे बच्चे कुछ कह नहीं सकते, परन्तु अपनी माता तथा पिता की प्रत्येक बात उनके कोमल निर्मल हृदय

पर अंकित होती जाती है। वे ही संस्कार बड़े होने पर उन बच्चों को सदाचारी या दुराचारी बना देते हैं।

अष्टमी, चतुर्दशी, अष्टान्हिका, दशलाक्षणी आदि धार्मिक दिनों में स्त्री पुरुषों को पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये।

ब्रह्मचर्य व्रत लेकर उसको नौ बाढ़ों से सुरक्षित रख कर यथोचित रूप से पालन करना चाहिये, तदनुसार ब्रह्मचारी को न तो स्त्रियों के आसन पर बैठना चाहिये, न उनकी शय्या पर सोना चाहिये, न स्त्रियों के साथ एकान्त में मिलना चाहिये, न उनके साथ मीठा रागजनक वार्तालाप करना चाहिये, न उनके अंग उपांगों को देखना चाहिये, कामउत्तेजक पदार्थ न खाने चाहियें, अपना रहन-सहन, खान-पान, पहनना ओढ़ना, सात्विक सादा रखना चाहिये। स्त्रियों के चित्र जहां लगे हुए हों वहां न रहना चाहिये।

ब्रह्मचारी सदा शुचिः

आत्मा में पवित्रता ब्रह्मचर्य गुण के कारण आती है। दुराचारी, व्यभिचारी सदा अशुद्ध अपवित्र रहता है।

जो मनुष्य ब्रह्मचर्य अणुव्रत का ठीक आचरण नहीं करते यानी अन्य स्त्रियों, वेश्याओं, कुमारी कन्याओं आदि के साथ व्यभिचार सेवन करते हैं उनके घर में दुराचार का प्रवेश हो जाता है। फिर उनके घर मे उनकी स्त्री, पुत्री, पुत्र आदि सभी दुराचारी बन जाते हैं। क्योंकि दुराचार की छाया में सदाचार कभी नहीं पनप सकता। इस कारण जो मनुष्य अपनी स्त्री, पुत्री, बहिन, पुत्र आदि को सदाचारी बनाना चाहता है उसे पहले स्वयं सदाचारी बनना चाहिये।

जिस समय अपने पुत्र या पुत्री का विवाह कर दे उसी समय स्वयं मनुष्य को ब्रह्मचर्य ले लेना चाहिये।

ब्रह्मचारी की आत्मा में महान् बल का विकास होता है, उसके मुख पर तेज चमकता है, उसकी वाणी में प्रभाव होता है, उसका शरीर बलिष्ठ और नीरोग होता है, उसकी बुद्धि विकसित हो जाती है। अनेक आध्यात्मिक गुण प्रगट होने लगते हैं।

इस कारण अनैतिक कामसेवन को रोककर, नैतिक मैथुन को भी बहुत कम कर देना चाहिये और ब्रह्मचर्य का अधिक से अधिक पालन करना चाहिये।

ये क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य आत्मा के स्वभाव रूप हैं अतः ये आत्मा के धर्म हैं।

इन धर्मों का पूर्णरूप से निर्दोष आचरण महाव्रती मुनि ही कर सकते हैं, क्योंकि उनके कषाय बहुत शान्त होते हैं, वे आक्रोश, वध, सत्कार, पुरस्कार आदि परिषहों को शान्त भाव से सहन करते हैं, अतः उनका क्षमाधर्म पूर्ण यथार्थ होता है। उन्हें अपने ज्ञान, चारित्र, तप आदि का अभिमान नहीं होता अतः मार्दव गुण उनमें निर्मल रहता है। कूट कपट करने का उन्हें कोई कारण नहीं, अतः वे निर्दोष आर्जव गुण का आचरण करते हैं। उन्हें धन आदि के अर्जन, संचय की आवश्यकता नहीं, अतः निर्लोभ

वृत्ति के कारण उन में शौच धर्म स्वच्छता के साथ विद्यमान रहता है। असत्य भाषण की उनको कुछ आवश्यकता नहीं, अतः वे पूर्ण सत्यवादी होते हैं। गृह, आरम्भ आदि न होने से उनमें असंयम होता ही नहीं, तपस्वी तो वे होते ही हैं। त्यागी तो उनसे बढ़कर और कोई होता ही नहीं। अन्तरंग, बहिरंग परिग्रह न होने से मुनि अकिंचन व्रताचरणी होते ही हैं और मनसा, वाचा, कर्मणा ब्रह्मचारी होते ही हैं जिसकी साक्षी उनकी अविकार नग्न मुद्रा देती है। इस कारण मुनियों के आचरित धर्म उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन और उत्तम ब्रह्मचर्य कहलाते हैं।

गृहस्थ उतने निर्दोष रूप में इन १० धर्मों को आचरण नहीं कर पाते या गृहस्थाश्रम की परिस्थिति के कारण पूर्ण रूप से पालन नहीं कर पाते अतः उनके क्षमा, मार्दव, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य आदि १० धर्मों के साथ 'उत्तम' विशेषण नहीं लगता।

गृहस्थ स्त्री पुरुषों को इन सभी धर्मों का यथासंभव यथाशक्ति आचरण अवश्य करना चाहिये।

प्रवचन नं० ११८

स्थान— श्री दिगम्बर जैन लाल मन्दिर, दिल्ली।

तिथि— द्वितीय भाद्रपद शुक्ला १५ शनिवार, १ अक्टूबर १६५५

क्षमावणी

चलते हुए रथ का चक्र (पहिया) जिस तरह गतिशील रहता है, जो भाग उसका कभी ऊपर होता है, वही भाग कुछ देर पीछे नीचे हो जाता है, एक ही रूप में नहीं बना रहता, इसी तरह काल-चक्र भी सदा पलटता रहता है। भरत ऐरावत क्षेत्र में वह कभी उत्थान (उत्सर्पिणी) रूप से चलता है, उस समय मनुष्य का बल, वीर्य, पराक्रम, आयु, सुख साधन उत्तरोत्तर उन्नत होते जाते हैं और उसके समाप्त हो जाने पर अवनति (अवसर्पिणी) की ओर काल की प्रगति होती है उस समय मनुष्य की आयु, काय, बल, बुद्धि तेज, पराक्रम, सुख सामग्री हीयमान (घटती हुई) होती है।

यह अवसर्पिणी काल चल रहा है, इसी कारण इस युग में प्राचीन युग की महत्वपूर्ण बातें दिनोंदिन कम होती जा रही हैं। बहुत प्राचीन समय की बातों को छोड़कर हम यदि १०-१२ शताब्दी पहले के मनुष्यों के बल विक्रम का विचार करें तो वैसा बल विक्रम आज मनुष्यों में नहीं पाया जाता। यह काल विशुद्ध अवसर्पिणी नहीं है अतः इसमें नियमानुसार कालचक्र अवनति की ओर नहीं जा रहा है बीच बीच मे कुछ उन्नति के चिन्ह भी दिखाई दे जाते हैं, परन्तु फिर भी काल की प्रगति अवनति की ओर ही है। इसी कारण इस काल का नाम 'हुण्डावसर्पिणी' है।

इस समय आध्यात्मिक विज्ञान की ओर जनता की ओर विद्वानों की रुचि नगण्य सी है, अतः आत्मा के विषय मे कोई भी खोज नहीं होती, भौतिक चमत्कार की ओर लोग आकर्षित हैं, अतः भौतिक विज्ञान में आधुनिक विद्वान बढ़ते जा रहे हैं। अनेक प्रकार के आविष्कार तथा यन्त्रों का निर्माण करके

अनेक दुर्लभ कार्यों को सुलभ बना रहे हैं, परन्तु प्राचीन लोगों की प्रतिभा आज कल नहीं पाई जाती। केवल ज्ञान, मनः पर्यय तथा अवधिज्ञान तो आज यहां किसी के पाया ही नहीं जाता, इसके साथ विशिष्ट मतिज्ञान श्रुतज्ञान भी आज मनुष्यों में नहीं रहा। जरा जरा सी बातों को स्मरण रखने के लिये मनुष्य आज कागज पेंसिल का सहारा लेते है, जबकि आज से दो-ढाई हजार वर्ष पहले द्वादशांग का पठन पाठन मौखिक चला करता था।

जिन सूक्ष्म बातों को आज बड़े भारी अध्ययन और प्रयोगों के बाद स्थिर किया जाता है और वह भी पलटता रहता है उन सूक्ष्म बातो को हमारे पूर्वज अपनी विशिष्ट प्रतिभा के आधार पर अकाट्य तथ्य के रूप में हजारों वर्ष पहले प्रगट कर चुके थे। परमाणुओं को बंधने, बिछुड़ने, परमाणु की तीव्र तथा मंद प्रगति के विषय में, शब्द की पौद्गलता, वनस्पतियों में जीव की सत्ता आदि के विषय में हमारे प्राचीन ग्रन्थों में जो उल्लेख मिलता है आज का विज्ञान भी उन ही बातों का समर्थन करके दुहरा रहा है।

जैसे आज प्राचीन युग नहीं रहा, पहले जैसा—बुद्धि-बल का विकास मनुष्य में नहीं पाया जाता, वैसे ही आज—जैसा समय भविष्य मे नहीं रहेगा। साढ़े अठारह १८॥ हजार वर्ष प्रमाण इस पंचम काल (दुःषमा) के समाप्त हो जाने पर छठा काल (दुःषमा दुःषमा) आवेगा उस समय आज से भी बहुत गिरी हुई स्थिति स्त्री पुरुषों के आयु, शरीर, बल, बुद्धि पराक्रम की होती चली जावेगी।

छठे काल में मनुष्यों का आचार विचार बहुत गिर जायगा। राजा का अन्याय बढ़ेगा। खान-पान की गिरावट, विपत्तियों की वृद्धि होती जायगी। प्राकृतिक साधन भी बिगड़ते जायेंगे, अतः आज के सुख साधन उस समय इस रूप में न रहेंगे।

छठे काल की समाप्ति के समय भरतक्षेत्र के आर्य खंड प्रदेश में सात-सात दिन तक सवर्तक प्रचण्ड वायु (आंधी तूफान), बर्फ, क्षार, (खारा जल), विषैला जल बरसेगा। तदनन्तर सात-सात दिन तक भारी धुंए के गुबार उठेंगे और अन्त में सात दिन तक वज्रपात (बिजली गिरना) होता रहेगा। इस तरह ४९ दिनों के इन प्रलयकारी प्राकृतिक उपद्रवों से आर्यखण्ड की सचमुच प्रलय हो जायगी। तदनन्तर ४९ दिनों तक जल, क्षीरजल, अमृतजल, रसजल आदि की वर्षा होगी जिसके कारण वातावरण एकदम बदल जायगा, उत्सर्पिणी युग का प्रारम्भ होगा। आर्यखण्ड में प्रलय कालीन दृश्य बदल कर सृष्टि का दृश्य प्रगट होगा। अन्य दार्शनिक इस खण्ड प्रलय तथा सृष्टि को समस्त विश्व की प्रलय और सृष्टि बतलाते हैं जो कि असंभव है। अस्तु।

खंड-प्रलय का प्रारम्भ जेठ बदी १२ को होता है और ४९ दिन पीछे समाप्त होकर सृष्टि की भूमिका बनना प्रारम्भ होती है। तदनुसार ४९ दिन पीछे भाद्रपद सुदी ५ से आर्यखण्ड में फिर मनुष्यों की हलचल प्रारम्भ हो जाती है। उस समय उनको सुखी शान्त जीवन बिताने के लिये क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि धर्म-उपदेश आवश्यक होता है। प्रतीत होता है कि इसी कारण दश लक्षण पर्व का प्रारम्भ भाद्रपद सुदी ५ से होता है।

धार्मिक स्त्री पुरुषों ने इस दशलक्षण के दश दिनों मे अन्य वर्षों की तरह क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य इन दश धर्मों का यथासंभव आचरण किया

है। पूजन पाठ, स्वाध्याय, तप, दान, संयम किया है, जितना धर्म आचरण वर्ष के अन्य मासों में नहीं किया जितना कि इन १० दिनों में किया है, यदि ऐसे ही धर्माचरण का समय बारहों मास व्यतीत होता रहे तो आत्मा महान् शुद्ध बुद्ध बन जावे, किन्तु ऐसा सौभाग्य गृहस्थाश्रम की कीचड़ में फँसे हुए गृहस्थों को नहीं मिल पाता।

आज सांवत्सरिक प्रतिक्रमण का दिन है। इसका प्रसिद्ध नाम क्षमावणी है। यह दिवस भी जैन समाज का बहुत महत्वपूर्ण है। वैसे तो मुनिजन प्रतिदिन ही नहीं बल्कि प्रति संध्या समय प्रतिक्रमण किया करते हैं, 'मिच्छा मे दुक्कडं' यानी—'मेरा प्रमाद जनित दुष्कृत (पाप) अपराध मिथ्या हो जावे' के रूप में प्रतिक्रमण करते हुए षट्कायिक जीवों को क्षमा करते हैं, उनसे क्षमा याचना करते हैं। पाक्षिक, मासिक आदि प्रतिक्रमण भी करते रहते है, किन्तु श्रावकों के लिये भी सामायिक के साथ प्रतिदिन स्वदोष आलोचना पूर्वक प्रतिक्रमण करने की प्रक्रिया बताई गई है अतः गृहस्थों को भी प्रतिदिन स्वयं अन्य जीवों को क्षमा करना तथा अन्य समस्त जीवों से क्षमा याचना करनी चाहिये। परन्तु पिछली ७-८ शताब्दियों का ऐसा खराब समय व्यतीत हुआ है जब कि मुसलमानी शासन में बहुत सी धर्मक्रियाएं लुप्त हो गईं, तदनुसार अधिकांश गृहस्थ जनता इस कार्य को भूल ही गई।

जिस तरह व्यापारी दीपावली के दिन अपने वर्ष भर के जमा खर्च को समाप्त करके नया लेन-देन प्रारम्भ करता है, वैसा ही महत्वपूर्ण आध्यात्मिक दिन आज का है। आज के दिन भी आत्मा का अपराधी लेन देन समाप्त हुआ करता है, अग्रिम वर्ष के लिये नया लेन देन प्रारम्भ होता है। प्रमाद वश वर्ष भर में अन्य जीवों के प्रति मन से, वचन से अथवा शरीर द्वारा जो कुछ अपराध होता है उसके लिये आज के दिन शुद्ध मन से क्षमा-याचना की जाती है तथा अन्य से अपराध क्षमा किये जाते हैं। इस तरह समस्त प्राणियों के साथ द्वेष, घृणा भाव का लेन देन समाप्त कर दिया जाता है। इसी कारण आज का दिन सांवत्सरिक (वार्षिक) प्रतिक्रमण का शुभ दिवस है। इस दिन आध्यात्मिक शुद्धि का बहुत कुछ महत्वपूर्ण कार्य हो जाता है।

ऐसा पवित्र दिवस या त्योहार अन्य किसी सम्प्रदाय में नहीं है।

संसारी जीव अज्ञान भाव से बहुत सी त्रुटियां (गलतियां) कर बैठता है, उसे पहले से पता नहीं लगता कि इस कार्य का परिणाम क्या होगा, वह अपनी समझ से ठीक काम करना चाहता है परन्तु अज्ञान के कारण गलत काम कर बैठता है। इस गलती में वह दूसरे प्राणियों को मानसिक, वाचनिक, शारीरिक कष्ट पहुंचा देता है, उनकी आर्थिक हानि, पारिवारिक हानि कर डालता है, अपने लिये दुखदायक कार्य कर लेता है। इस तरह ससारी प्राणी से त्रुटियां एक तो अज्ञान भाव से हुआ करती हैं।

दूसरे—कषाय भाव के निमित्त से भी स्व-अहितकारी तथा पर हानिकारी कार्य बनते रहते हैं। क्रोध वश जीव दूसरे को मार पीट डालता है, जला देता है, घायल कर देता है, गालियां देता है, मन में अनेक तरह की बुरी भावना भाता रहता है, कभी क्रोध में अपना शरीर नष्ट भ्रष्ट कर डालता है। अभिमान में आकर अन्य निर्बल, दीन दुखी जीव का अपमान कर डालता है, अपनी नाक ऊँची रखने के लिये दूसरे व्यक्तियों को नीचा दिखाने की चेष्टा करता है। मायाचार, मिथ्याचार से दूसरों का विश्वास घात करता है, धोखा देता है, अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये दूसरों का सत्यानाश करते हुए भी

नहीं चूकता। लोभ के कारण तो जीव दुनिया भर के पाप करता ही रहता है। शारीरिक मोह, पारिवारिक मोह, आर्थिक मोह, लोकेषणा आदि के कारण संसार में किसी को अपना प्रिय समझ बैठता है उसके साथ रागजनित चेष्टायें करता है, और किसी को अहित कारक मान कर उसे अपना शत्रु समझ लेता है, तब उसके साथ द्वेषभावना बनाकर उससे बदला लेने का यत्न करता है।

अपनी कामवासना तृप्त करने के लिये अनेक तरह के कुत्सित कार्य कर डालता है, उस समय उसका विवेक जाता रहता है, कार्य अकार्य का उसे ध्यान नहीं रहता। कामातुर मनुष्य कभी तो पशु से भी पतित हो जाता है।

इस तरह कषायों के आवेश मे भी मनुष्य विविध प्रकार के अपराध किया करता है। गृहस्थाश्रम में तो पद पद पर कषाय भाव जाग्रत होते रहते हैं। मुनि अवस्था में यद्यपि कषायें बहुत शान्त होती है, परन्तु होती तो है ही। इस प्रकार अज्ञान और कषाय समस्त अपराधों के मूल कारण हैं।

पाप अपराध कर लेने के पश्चात मनुष्य को जब अपनी त्रुटि ज्ञात हो जावे। वह अपनी गलती को समझ लेवे तब उसका कर्तव्य है कि वह उसका अनुताप (पश्चाताप) करे, कि "मैंने यह कार्य अच्छा नहीं किया, मुझे ऐसा न करना चाहिये था, भविष्य में मैं ऐसा न करूंगा।" ऐसा अनुताप करने से मनुष्य के हृदय की कालिमा बहुत कुछ धुल जाती है। यदि उसके बाद भी मन में अपने अपराध के लिये ग्लानि रहे तो उसका कुछ प्रायश्चित्त भी किसी गुरुजन से या स्वयं अपने हृदय से लेना चाहिये। अथवा जिस व्यक्ति को अपने अपराध से हानि पहुँची हो, उससे अपने अपराध की क्षमा मांग लेवे। इतना कर लेने पर मन की ग्लानि दूर हो जाती है, आत्मा का पाप भार हल्का हो जाता है।

पाप करके अनुताप (पश्चाताप) न करे, अपने अपराध को भी ठीक समझे, अपनी गलती की पुष्टि करे, समर्थन करे, अपनी त्रुटि स्वीकार ही न करे, तो वह अपराध-पाप आत्मा पर जम जाता है, पाप भार और अधिक भारी हो जाता है जो कि भविष्य को अन्धकारमय बना देता है।

अपने अपराध को, गलती या त्रुटि को स्वीकार करना मनुष्य के उच्च आचार विचार का सूचक है और अपनी गलती न मानना पतन का चिन्ह है।

एक दिन एक राजा ने अपने राज्य के कारागार (जेल) का निरीक्षण किया। उसको वहां कड़ा काम करने के लिये जाते हुए तीन कैदी मिले। राजा ने उनसे पूछा कि तुम लोग किस अपराध में दंड पा रहे हो?

एक कैदी बोला, मैं अन्य अपराधी के बदले में पुलिस द्वारा पकड़ा गया था और मजिस्ट्रेटने असल अपराधी के बजाय मुझे जेल भेज दिया है।

दूसरे ने कहा कि पुलिस और न्यायाधीश (जज) के साथ मेरी शत्रुता थी इस कारण झूठा दोष लगा कर मुझे फंसा दिया और यहाँ भेज दिया।

तीसरे बंदी ने उत्तर दिया कि मैंने सचमुच अपराध (कुसूर) किया था, न्यायाधीश ने जो मुझे दण्ड दिया है, वह ठीक है, मुझे उसके विरुद्ध कुछ नहीं कहना।

राजा ने तीनों से पूछा अब तुम क्या चाहते हो ? तब पहला तथा दूसरा कैदी बोला कि हम निरपराध हैं हमको छोड़ दिया जावे। तीसरे ने कहा कि मैं अपराधी हूं मैं क्षमा किस मुख से मांगूं।

राजा तीसरे कैदी की सत्य बात सुन कर प्रसन्न हुआ और उसने उस तीसरे कैदी को बंदीघर से मुक्त कर दिया, पहले दूसरे को जेल में ही रहने दिया।

अत: अज्ञान तथा कषाय वश कोई गलती या अपराध हो जावे तो उसका अनुताप (पश्चाताप) करना चाहिये तथा अपना दोष स्वीकार करके क्षमा मांग लेनी चाहिये जिससे अपना मन शुद्ध हो जावे। इसके सिवाय 'गलती करना अल्पज्ञ तथा कषाय सहित मनुष्य का स्वभाव है।' ऐसा समझ कर अन्य जीवों के अपराध क्षमा करते रहना चाहिये।

प्रवचन नं० ११६

स्थान— श्री दिगम्बर जैन मंदिर कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि— आश्विन कृष्णा १ रविवार, २ अक्टूबर १९५५

धर्म की आड़ में

संसार में जो वस्तु अधिक आवश्यक समझी जाती है अथवा जिसका अधिक प्रचार होता है, उस वस्तु का नकली रूप भी प्रचार में आ जाता है।

सोना एक मूल्यवान सुन्दर पदार्थ है, तो उसके रंग रूप का बल्कि उससे भी अधिक चमकीला मुलम्मा भी सोने का रूप धारण करके प्रचार में आ गया है। जो लोग दूसरों को धोखा देना चाहते हैं वे उस सस्ते मूल्य वाले, सोने की तरह चमकने वाले मुलम्मे के सुन्दर आभूषण बनवा कर पहनते हैं तथा भोले लोगों को फँसा कर सोने के मूल्य से कुछ कम मूल्य बता कर बेच देते हैं, सोने की चमक देख कर लोग उनके मायाजाल में फंस जाते है।

दूध में पानी मिलाकर फिर उसको गाढ़ा करने के लिये सपरेटा आदि उसमें घोल देते हैं, इस तरह अनीति से धन कमाने के इच्छुक दूध बेचने वाले अपने दूध का गाढ़ापन दिखाकर उस नकली दूध को असली दूध के मूल्य में बेच देते हैं। वनस्पति का जमाया हुआ तेल कुछ असली घी में मिलाकर बाजार में असली घी के भाव में बिक ही रहा है।

नोटों के रंगरूप में साधारण प्रेसों में छपे हुए बाजारू नोट बाजार में बिका करते हैं, सौ सौ रुपये का वैसा नकली नोट एक एक पैसे में मिल जाता है। बहुत से धोखे बाज मनुष्य उन नोटों के द्वारा भी भोले अशिक्षित लोगों को धोखा देकर रकम ऐंठ लेते हैं या अपना कोई दूसरा स्वार्थ सिद्ध कर लेते हैं।

मारवाड़ में एक ब्राह्मण ने बाजार से ऐसे नकली नोट ले लिए, उन सौ सौ रुपये वाले नकली नोटों की एक अच्छी गड्डी बनाली। गरीबी के कारण उसके पुत्र का कहीं से विवाह-सम्बन्ध नहीं होता था, उस ब्राह्मण ने उन नकली नोटों के द्वारा अपना मतलब सिद्ध करने का विचार किया।

उसको नाई द्वारा ज्ञात हुआ कि अमुक गांव के एक जमींदार ब्राह्मण के एक सोलह वर्ष की सुन्दर कुमारी कन्या है, उसके लिये सुयोग्य वर की चिन्ता मे वह व्याकुल है। यह हाल जानकर उसने उस जमींदार को चकमा देने का विचार किया। उसने अपने लड़के को अच्छे वस्त्र पहनाकर स्वयं भी मूल्यवान वस्त्र पहने और किसी से दो घोड़े मांग लिये। पिता पुत्र उन पर सवार होकर ऐसे समय उस जमींदार के गांव की ओर चले कि उस गाव में पहुचते पहुंचते उनको रात हो गई।

वे दोनो उस जमींदार के घर पर ठहर गये। जमींदार ने उनको अच्छी स्थिति का गृहस्थ समझ कर उनका अच्छा सत्कार किया। उस आगन्तुक ब्राह्मण ने वह दस हजार रुपये के नकली नोटों की गड्डी उस जमींदार को रात भर रखने के लिये देदी। उस ग्रामीण जमींदार ने उन नोटों को असली नोट समझ लिया इस कारण उसे प्रतीत हुआ कि यह अच्छा धनिक है।

बातचीत करते हुए उस जमींदार को पता चला कि इसका यह सुन्दर युवक पुत्र अभी अविवाहित है, तो उसने उसको अपनी पुत्री का विवाह उसके पुत्र के साथ करने का प्रस्ताव किया। उस कपटी ब्राह्मण ने पहले तो आना कानी की किन्तु जमींदार ने जब उसको नगद ५०००) रुपये के टीके तथा ५०००) के दहेज की भेट बतलाई तब वह उस जमींदार की लड़की से अपने पुत्र का विवाह करने को तैयार हो गया। लड़की तो अच्छी वयस्क और सुन्दर थी ही। ५०००) टीके के लेकर घर आगया और उन रुपयों के द्वारा खूब धूमधाम से अपने पुत्र का विवाह कर डाला।

डाकू लोग पुलिस की वर्दी पहन कर जनता को धोखा देकर माल लूट ले जाते हैं। पंजाब में एक वार एक धनिक के पास एक डाकू दल ने पत्र भेजा कि अमुक दिन पचास हजार रुपया अमुक स्थान पर दे जाओ अन्यथा तुम्हारे घर पर डाका डाला जावेगा। पत्र पढ़ कर वह धनिक बहुत भयभीत हुआ अपने धन की रक्षा का उपाय सोचने लगा।

४-५ दिन पीछे उसके गांव में पुलिस की एक लारी आई जिसमें कुछ सिपाही थानेदार और कप्तान की वर्दी पहने हुए डाकू थे। एक मजिस्ट्रेट बना बैठा था। उन्होंने उस धनिक को बुलाया और उस धनिक से कहा कि हमारे पास खबर आई है कि तुम्हारे घर डाका पड़ने वाला है। उस धनिक ने उनको सही सरकारी अफसर समझकर डाकूओं का वह पत्र दिखाया। जब उन्होंने उस धनिक से कहा कि अपने आभूषण और नक़दी सरकारी खजाने में जमा करादो, खतरा दूर हो जाने पर उसको ले जाना। वह धनिक उनके विश्वास में आ गया।

उसने लगभग ५०-६० हजार रुपये का माल उन नकली सरकारी अफसरों को सौंप दिया और उसकी रसीद ले ली, बहुत प्रसन्न हुआ कि अब डाकू मेरे घर डाका डाल कर भी कुछ नहीं लूट सकते। पुलिस के वेश-धारी डाकू लारी में बैठ कर चले गये।

यह भेद उसको जब कुछ दिन पीछे मालूम हुआ तो बहुत दुखी हुआ।

इस तरह नकली चीजें संसार में जनता को पथभ्रष्ट करती रहती हैं।

आत्मा को उत्साहित, आल्हादित तथा सन्तुष्ट करने वाला धर्म है। धर्म आत्मा का स्वभाव कहलाता है, वह स्वभाव राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि विकृत भावों के कारण विकृत हो गया है, मैला बन गया है, इसी कारण उसको स्वभाव न कहकर ऋषियों ने अपने ग्रन्थों में 'विभाव' कहा है। जीव की विभाव परिणति ही जीव को संसार में भटका रही है। विभाव परिणति के ही कारण इसको अपनी अक्षय गुणनिधि का परिज्ञान नहीं होता अतः यह अपने आपको दीन हीन दरिद्र समझता है। जिस तरह किसी मनुष्य के हाथ में अमूल्य रत्न हो, परन्तु दुर्भाग्य वश उसे कांच का टुकड़ा ही समझता हो और अपना पेट भरने के लिये घास खोद खोद कर बेचता हो, दीन दरिद्र बना फिरता हो, इसी तरह संसारी जीव विभाव परिणति के प्रभाव से अपनी अक्षय निधि को अनुभव न करके सुवर्ण चांदी आदि जड़ पदार्थों को सम्पत्ति मानते हैं और उसे पाने के लिये भटकते फिरते हैं।

सौभाग्य से जब संसारी जीव को सद्गुरु का समागम होता है, तब वे दयालु गुरु इसको अपने आध्यात्मिक उपदेश से सचेत करते हैं, इसको आत्म-श्रद्धा कराते है, आत्मा की गुप्त अमूल्य रत्नत्रय निधि का बोध कराते हैं, इसकी मोहनिद्रा भंग करके सावधान करते हैं, तब इसकी विभाव परिणति दूर होने लगती है, आत्मा का मैल छूटने लगता है, आत्मा शुद्ध होने लगता है। इस विधि से आत्मा को बहुत सुख, शान्ति, संन्तोष आल्हाद मिलता है।

इसके सिवाय अशुभ कर्मों का बन्ध घटना शुरू हो जाता है। इसके बाद जब वह हिंसा आदि पाप क्रियाओं का त्याग करके अहिंसा सत्य आदि व्रतों का आचरण करता है, अपने भीतर वीतराग परिणति बढ़ाने के लिये वीतराग भगवान् के दर्शन करता है, स्तुति करता है, पूजन करता है, परिग्रह से ममत्व कम करने के लिये दान करता है। उस मनुष्य को अनेक कर्मों का बन्ध होना बन्द हो जाता है, अनेक कर्मों की निर्जरा होने लगती है और जो कर्म बन्धते हैं, वे शुभ कर्म होते हैं। उन शुभ कर्मों के प्रभाव से सांसारिक सुख प्राप्त होता है, अच्छा परिवार, धन आदि का समागम होता है, स्वर्ग मिलता है। इस तरह धर्म से सुख शान्ति का लाभ होता है।

इसी कारण यह बात प्रसिद्ध है कि ससार में आत्मा को सुख चैन धर्म के द्वारा मिला करता है। इसी प्रसिद्धि के कारण धर्म के नाम पर अनेक नकली धर्म भी लोगों ने प्रचलित कर दिये हैं। जिस धर्म से आत्मा की शुद्धि होकर आत्मा परमात्मा बन जाता है, परन्तु उसकी साधना के इन्द्रियों पर नियन्त्रण करके विषय भोगों का त्याग करना पड़ता है। उस धर्म को सब किसी के लिये सुलभ बनाने के लिये स्वार्थी लोगों ने विकृत कर दिया है।

जिस देव-भक्ति के द्वारा भक्त मनुष्य अपने आत्मा को शुद्ध करने की प्रेरणा करता है, स्वार्थी लोगों ने उस देव को अपने पेट भरने का साधन बना लिया है। देव पूजा की आड़ में वे पेट पूजा करते हैं। इसके लिये कई व्यक्ति किसी देव मूर्ति के पुजारी बन जाते हैं। स्नान करके तिलक छाप लगाकर पुजारी का रूप बना लेते हैं। उस मूर्ति को स्नान कराकर चरणामृत बनाते हैं और उस मूर्ति के सामने कुछ पैसे टके, आने, दुअन्नियां आदि सिक्के स्वयं डाल देते हैं जिससे की अन्य लोग भी, जो कि उस देव मूर्ति का दर्शन करने आवें, उन सिक्कों को देखकर कुछ (सिक्के) चढ़ाते जावें। होता भी ऐसा ही

है। इस तरह वे उस देव-पूजा की आड़ में लोगों से रुपये पैसे चढ़वाते हैं और उन चढ़ाये गये रुपये पैसों को अपने काम में लगाया करते हैं। इस तरह साध्य को उन्होंने साधन बना लिया है।

३०-४० वर्ष पहले बनारस में एक मनुष्य एक देवी के मन्दिर का पुजारी था। देवी की पूजा किया करता था और उस देवी पर चढ़े हुए फल, रुपये पैसे आदि से अपना निर्वाह किया करता था।

एक दिन उसने देवी के द्वारा अपनी आमदनी बढ़ाने का उपाय सोचा, तदनुसार उसने एक दूसरी देवी की मूर्ति बनवाई, उस मूर्ति के मुखमण्डल पर मुसकराहट दिखाने के लिये उस मूर्ति का मुख कुछ खुला हुआ रखवाया। इसके साथ ही उसने उस मुख से लेकर गले, पेट में होकर नीचे तक छेद बनवा लिये। इतना कर चुकने पर उस मूर्ति को बिठाने के लिये जो वेदी बनवाई, उसमें नलकी नली फिट करवादी। उस नली को वह अपने घर तक ले गया। इतना सब कुछ कर लेने के बाद उस पुजारी ने वह पोली देवी की मूर्ति वहां पर बिठादी।

तदनन्तर उसने दो तीन सेर दूध उस मूर्ति के मुख में धीरे धीरे डाला, वह दूध उस देवी के मुख में से होता हुआ उस नली के द्वारा उसके घर मे पहुंच गया। इस तरह ठीक परीक्षा कर लेने के बाद उसने लोगों में यह बात फैला दी कि देवी दूध पीना चाहती है। भक्त जनता मे अन्ध श्रद्धा भी जल्द फल फूल जाती है। तदनुसार दर्शन के लिये आने जाने वाले स्त्री पुरुष अपने घर से दूध लेते आये। उनका दूध वह पुजारी उनके ही सामने देवी के मुख में डालता और वह दूध गटर २ करके नीचे चला जाता। देखने वाले स्त्रीपुरुष इसको देवी का चमत्कार समझते। उधर पुजारी के घर दूध के कड़ाहे भर जाते, जिससे दही, घी आदि उसके घर प्रचुर मात्रा में बना करता और खूब अच्छा खाने पीने का निर्वाह होता।

एक बार एक नवयुवक बी० ए० की परीक्षा में पास हुआ। उसकी श्रद्धालु माता ने उससे कहा कि बेटा! एक सेर दूध देवी को जाकर पिला आ। वह युवक दूध लेकर मन्दिर में गया और उसने पुजारी को दूध दिया, पुजारी ने वह दूध देवी के मुख में डाला जो कि नली के द्वारा पहले की तरह नीचे उतर गया। उस युवक को यह देखकर आश्चर्य हुआ और इसका रहस्य जानने के विचार से उसने उस पुजारी को रुपया देकर दूध और बाजार से मंगवाया। लोभी पुजारी जैसे दूध लेने मन्दिर से बाहर गया कि उस युवक ने उस मूर्ति को उठाकर देखा तो उसे मूर्ति के नीचे नल का पाइप दिखाई दिया। यह देखकर वह मूर्ति द्वारा दूध पीने का रहस्य समझ गया। मूर्ति को उसने वैसे ही रख दिया और दूसरी बार भी दूध देवी को पिलाकर उस पुजारी के घर पहुंचा, तो उसका अनुमान ठीक निकला, पाइप के द्वारा देवी द्वारा पिया हुआ दूध उसके घर पहुंच रहा था।

इस जालसाजी की सूचना इसने पुलिस को देकर उस बी. ए. पास युवक ने उस पुजारी को गिरफ्तार करा दिया।

जिन देवी देवताओं के सामने पशुओं का बलिदान किया जाता है, पशुओं के उस मांस को भी वह देवी नहीं खाती वह मांस भी उन मांस लोलुपी पुजारियों के पेट में जाया करता है।

इस प्रकार अनेक तरह से स्वार्थी लोग धर्म की आड़ में अपना स्वार्थ-साधन करते हैं, स्वयं आप पथभ्रष्ट होते हैं तथा अन्य जनता को पथभ्रष्ट करते हैं।

प्रवचन नं० १२०

स्थान— तिथि—

श्री दिगम्बर जैन मंदिर कूचा सेठ, दिल्ली आश्विन कृष्णा २ सोमवार, ३ अक्तूबर १६५५

विद्वान् कौन है

आत्मा का लक्षण उपयोगमय है, उपयोग से शून्य जड़ पदार्थ होते हैं। स्व-पर पदार्थ का जानना देखना 'उपयोग' है। अतः प्रत्येक जीव में, वह चाहे संसारी हो या मुक्त, मनुष्य हो या पशु, देव हो या नारकी, एकेन्द्रिय हो पंचेन्द्रिय, ज्ञान गुण अवश्य पाया जाता है। कोई भी समय ऐसा न हुआ, न होगा जब कि किसी भी जीव में ज्ञान गुण न रहा हो या न रहेगा।

ज्ञानावरण कर्म के कारण यद्यपि संसारी जीव का ज्ञान-पूर्ण विकसित नहीं है फिर भी वह सर्वथा आच्छादित नहीं है, थोड़ा बहुत ज्ञानांश ज्ञानावरण कर्म से अनाच्छादित रहता ही है। ज्ञान की सबसे अधिक मात्रा केवल ज्ञानी में पाई जाती है और सबसे कम ज्ञान लब्धि अपर्याप्तक निगोदिया जीव के होता है जिसका कि परिमाण अक्षरज्ञान के अनन्तवें भाग प्रमाण है। केवल ज्ञानी और लब्धि अपर्याप्तक निगोदिया जीव के ज्ञान को अनावरण या नित्य उद्घाटित इसी कारण कहते हैं कि उनके ऊपर ज्ञानावरण कर्म का आच्छादन नहीं होता। यदि लब्धि अपर्याप्तक निगोदिया जीव के उस अक्षरज्ञान के अनन्तवे भाग प्रमाण जघन्य ज्ञान पर भी आच्छादन आ जावे तो वह जीव ज्ञानशून्य जड़ पदार्थ बन जावे, किन्तु स्वाभाविक शक्ति के कारण न तो कोई जड़ पदार्थ चेतन हो सकता है और न कोई चेतन पदार्थ जड़ हो सकता है। ज्ञानावरण कर्म का समूल नाश कर देने पर केवल ज्ञान प्रगट होता है इस कारण केवलज्ञान भी निरावरण होता है।

ज्ञानावरण कर्म का जितना जितना क्षयोपशम बढ़ता जाता है ज्ञान का विकास भी उतना ही बढ़ता जाता है। जिन जीवों के ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम विशेष होता है उनका ज्ञान भी विशेष होता है, उनमें बुद्धि का विकास अन्य साधारण जीवों की अपेक्षा अधिक होता है, उनमें सोचने विचारने समझने की शक्ति अधिक विकसित होती है। जिन जीवों के ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम कम होता है उनमें ज्ञान गुण का विकास कम होता है, उनमें समझने, सोच विचार करने की शक्ति अल्प होती है, उन की बुद्धि तीक्ष्ण नहीं होती।

ज्ञान का अधिक विकास या अल्प विकास कुछ तो अपने अपने प्राप्त शरीर के अनुसार हुआ करता है, देव शरीर प्राप्त कर लेने पर स्वाभाविक रूप से अवधिज्ञान प्रगट हो जाता है, उसे प्राप्त करने के लिये देवों को तपस्या नहीं करनी पड़ती। सभी हीन, उच्च तथा मध्यम श्रेणी के देव देवियों को अवधि ज्ञान अवश्य होता है। मनुष्य शरीर, पशु शरीर वाले जीवों को सभी को अवधिज्ञान नहीं होता। कुछ एक मनुष्यों या पशुओं के प्रगट होता है और उसको प्राप्त करने के लिये (तीर्थंकर के सिवाय) उन्हें तपश्चरण आदि करना पड़ता है। पशु गति में स्वाभाविक तौर से मनुष्यों की अपेक्षा कमी होती है। समझदार पशु भी साधारण मनुष्यो की अपेक्षा अल्पज्ञानी होते हैं।

पशुओं में भी हाथी, ऊंट, घोड़ा, गधा, कबूतर, उल्लू जाति के पशुओं में बुद्धि की हीनता अधिकता होती है। पंचेन्द्रिय पशुओ की अपेक्षा चार इन्द्रिय जीवों का ज्ञान कम होता है। चौइन्द्रिय जीवों की अपेक्षा तीन इन्द्रिय जीवों का ज्ञान कम होता है। तीनइन्द्रिय जीवों से दोइन्द्रिय जीवों का ज्ञान कम होता है एवं दोइन्द्रिय जीवो के ज्ञान से एकेन्द्रिय जीवों का ज्ञान कम होता है। इस तरह एक तो विभिन्न प्रकार के शरीरों के अनुसार जीवों के ज्ञान में कमी बेशी हुआ करती है।

दूसरे—ज्ञान का विकास परिश्रम की भी अपेक्षा रखता है। जो मनुष्य अपना ज्ञान अधिक विकसित करने के लिये प्रयत्न करते है उनका ज्ञान अधिक बढ़ जाता है और जो ज्ञान बढ़ाने का परिश्रम नहीं करते, उनका ज्ञान अधिक विकसित नहीं हो पाता। पढ़ना लिखना तथा बुद्धिमानों विद्वानों की संगति करना ज्ञान बढ़ाने का साधन है। आत्मशुद्धि के लिये तपस्या करना भी ज्ञान वृद्धि का एक कारण है। क्योंकि ज्ञानावरण कर्म भी आत्मा का एक मैल ही है, तपश्चरण द्वारा जिस तरह राग, द्वेष, मद, काम मोह आदि मैल आत्मा से दूर हो जाते हैं इसी तरह ज्ञानावरण कर्म द्वारा उत्पन्न हुआ अज्ञान मल भी आत्मा के तप द्वारा दूर हो जाता है। सर्वज्ञता का प्रादुर्भाव पढ़ने लिखने से नहीं हुआ करता वह तो उत्कट तपस्या के द्वारा ही होता है।

पढ़ने लिखने से मूर्ख मनुष्य भी विद्वान् ज्ञानी हो जाते हैं, जो मनुष्य पढ़ते लिखते नहीं हैं वे प्रायः मूर्ख बने रहते हैं। भारत का महान् कवि कालिदास पहले महान् मूर्ख था, किन्तु अपनी पत्नी का उपालम्भ सुनकर पढ़ने में लग गया तब वह पढ़कर महान् विद्वान् बन गया और प्रसिद्ध महाकवि हो गया।

किसी किसी शिक्षित व्यक्ति को व्यावहारिक ज्ञान की इतनी कमी होती है कि उसका अक्षरीय या शास्त्रीय ज्ञान उस व्यावहारिक अज्ञान में लुप्त-सा हो जाता है, ऐसे शास्त्रीय विद्वान् 'पठित मूर्ख' कहलाते हैं। और कोई कोई बिना पढ़े लिखे मनुष्य भी इतने अच्छे बुद्धिमान होते हैं कि बड़े बड़े शिक्षित व्यक्ति भी उनकी प्रतिभा का लोहा मानते हैं। इस तरह मनुष्यों को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—१-शिक्षित विद्वान, २-अशिक्षित (अपठित) विद्वान्, ३-पठित मूर्ख, ४-अपठित मूर्ख।

एक इंजीनियर साहब अपने परिवार को अपने साथ लेकर सैर करने के लिये एक अन्य नगर के लिये चल पड़े। इनके परिवार में उनकी पत्नी तथा उनके ४-५ बच्चे थे। उन बच्चों में २-३ छोटे बच्चे थे। चलते चलते मार्ग में उनको एक १० गज चौड़ा पानी का नाला मिला। नाले में पानी भरा हुआ था।

नाले को देखकर इंजीनियर साहब विचारने लगे कि नाले पर पुल तो है नहीं, फिर इसको पार कैसे किया जावे। उन्होने अपने नौकर को नाले का पानी प्रत्येक फुट की चौड़ाई पर नापने की आज्ञा दी। नौकर बांस का पैमाना लेकर नाले में घुसा और ४ इच, ६ इंच, ६ इंच, १ फुट, १॥ फुट, २ फुट, ३ फुट, ४ फुट, ५ फुट, ४ फुट, ३ फुट, २ फुट १ फुट, ६ इंच, ६ इंच आदि पानी का नाप नाले में विभिन्न स्थानों पर बतलाया। इजीनियर साहब ने नाले की समस्त गहराई को जोड़कर नाले को चौड़ाई पर विभक्त कर दिया तब हिसाब लगाकर उन्होंने देखा कि नाले के पानी की औसत गहराई केवल सवा फुट है। मेरा सबसे छोटा बच्चा भी २ फुट ऊँचा है।

इस तरह उन्होंने पढ़कर प्राप्त किये गणित ज्ञान के आधार से निर्णय किया कि इस नाले को

पैदल ही पार करना चाहिये, तब उन्होंने सबको आज्ञा दी कि इस नाले को पैदल चल कर ही पार करो। नौकर ने उनसे कहा कि बीच में पानी अधिक है वहां से पार होना कठिन है इसके उत्तर में उन्होंने नौकर को फटकारते हुए कहा कि 'तू तो मूर्ख है, पानी का ऐवरेज (औसत) निकालना तुझे नहीं आता, तू यदि गणित पढ़ा हुआ होता तो ऐसी मूर्खता की बात न करता।'

नौकर को इस तरह झाड़ते हुए उन इन्जीनियर साहब ने अपने परिवार को पानी में पैदल चल नाला पार करने की आज्ञा दी, उनकी आज्ञा पाकर उनकी स्त्री बाल बच्चे आप और उनका नौकर नाले में घुस कर दूसरे किनारे की ओर चल पड़े, आगे आगे स्वयं इन्जीनियर साहब चले, कद में काफी लम्बे थे, पीछे उनका नौकर, फिर उनकी पत्नी तदनन्तर बच्चे थे। इन्जीनियर साहब और नौकर तो जैसे तैसे नाले को पार कर गये किन्तु उनकी पत्नी नाले के बीच में और बच्चे किनारे से कुछ दूर चलकर ही डब गये।

'अपने परिवार के डूबने का इन्जीनियर साहब को बहुत दुःख हुआ, उन्होंने कागज पेंसिल निकाल कर फिर हिसाब लगाकर औसत निकाली, नाले की औसत गहराई फिर भी सवा फुट ही निकली इस पर वे आश्चर्य से बोले कि—

'लेखा देखा ज्यों का त्यों, फिर भी कुनबा डूबा क्यों ?'

संस्कृत भाषा के व्याकरण के विद्वान् एक वैयाकरण जंगल में होकर चले जा रहे थे, उन्होंने अपने जीवन में कभी जंगली जानवर नहीं देखे थे। एक आदमी ने उन्हें कहा कि पंडित जी शीघ्र भाग जाओ, व्याघ्र (बाघ) आ रहा है। यह सुनकर उस वैयाकरण ने व्याघ्र शब्द की व्युत्पत्ति व्याकरण से विचार कर देखी कि 'विशेषण जिघ्रति इति व्याघ्रः' यानी—जो विशेष रूप से सूंघे सो 'व्याघ्र' होता है। अतः डर कर भागने की क्या आवश्यकता है, व्याघ्र आवेगा मुझे खूब सूंघ लेगा उसके सूंघने से भयभीत होने की क्या आवश्यकता है ? ऐसा विचार करके वे अपने मार्ग पर चलते रहे।

कुछ दूर चलकर उनको व्याघ्र मिला वे उसको देखते ही बैठ गये कि व्याकरण की व्युत्पत्ति के अनुसार यह मुझे सूंघेगा। व्याघ्र ने आकर उनको पंजों में जकड़ लिया। यह देख कर वैयाकरण व्याघ्र शब्द की व्युत्पत्ति पर फिर विचार कर स्वयं बोले, ओह ! मैं भूल गया 'विशेषेण आ-समन्तात् जिघ्रतीति-व्याघ्रः।' यानी—जो चारों ओर से खूब सूंघे उसको व्याघ्र कहते हैं, सो यह मुझे सब तरफ से खूब सूंघेगा।

वैयाकरण जी अपने व्याकरण की व्युत्पत्ति विचारते ही रहे कि बाघ ने उनका शरीर चबा डाला।

इस तरह के व्यक्ति पठितमूर्ख हुआ करते हैं, जो कि अपने अक्षरज्ञान का व्यवहार में दुरुपयोग करके ऐसे अनिष्ट कार्य कर बैठते हैं जिससे उनको पछताना तो पड़ता ही है साथ ही जगत् में उपहास का पात्र भी होना पड़ता है। अतः शास्त्रीयज्ञान के साथ व्यावहारिक ज्ञान भी अपनी सन्तान को कराते रहना चाहिये।

बहुत से पुरुष स्त्री व्यवहारपटु और बिना पढ़ लिखकर भी बहुत बुद्धिमान् होवे हैं, अपनी उस बुद्धिमानी

के वल पर वे संसार में महान् कार्य कर जाते हैं। प्रताप, शिवाजी, रणजीतसिंह, नैपोलियन आदि ऐतिहासिक व्यक्ति पढ़े लिखे विद्वान् नहीं थे किन्तु उन्होंने अपने बुद्धि वल से महान् पराक्रमी और चतुराई के कार्य कर दिखलाये। इस लिये विद्वत्ता के साथ व्यवहारपटुता भी अवश्य होनी चाहिये।

इसी प्रकार विद्वान् को आध्यात्मिक ज्ञान भी अवश्य होना चाहिये जिससे कि अपनी आत्मा का कुछ कल्याण कर सके। आज कल स्कूल, कालेजों, यूनिवर्सिटियों में पढ़कर अनेक प्रकार का लौकिक ज्ञान तो प्राप्त कर लेते हैं परन्तु उनको आत्मा, परमात्मा, संसार, मोक्ष, पुण्य, पाप आदि का जरा भी परिज्ञान नहीं होता ऐसे विद्वान् भी अपना सच्चा हित नहीं कर पावे, अतः आध्यात्मिक दृष्टि से उन्हें भी मूर्ख समझना चाहिये। इस लिये अपनी यथार्थ उन्नति करने के लिये मनुष्य को आध्यात्मिक ज्ञान भी अवश्य प्राप्त करना चाहिये।

अनेक विद्वान् ऐसे भी पाये जाते हैं जो लौकिक विद्या के साथ आध्यात्मिक विद्या भी प्राप्त कर चुके हैं, संस्कृत प्राकृत भाषा पढ़कर जिन्होंने धर्मशास्त्र के महान् ग्रन्थों का भी रहस्य जान लिया है, परन्तु फिर भी उनके हृदय में आध्यात्मिक श्रद्धा नहीं पाई जाती, न उनके आचरण में धर्म की मात्रा दिखाई देती है, अतः उनकी वाणी, मन और शरीर धर्माचार से दूर रहा आता है। ऐसे व्यक्ति भी आत्म-वंचना करते हैं अपने कल्याण मार्ग में प्रगति नहीं कर पाते। नीतिकार ने ऐसे लोगों के लिये लिखा है—

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः,
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्।
सुचिन्तितं चौषध मातुराणां,
न नाम मात्रेण करोत्यरोगम्॥

यानी—बड़े बड़े शास्त्रों का पठन पाठन करके भी जो शुभ आचरण नहीं करता है वह मनुष्य वास्तव में मूर्ख ही है। जो व्यक्ति सदाचार का पालन करता है वास्तव में विद्वान् वही है। यदि किसी ने वैद्यक के महान् ग्रन्थ पढ़कर चिकित्सा का ज्ञान प्राप्त कर लिया हो और स्वयं रोगी रहता हो तो उसका वैद्यक ज्ञान व्यर्थ है उस वैद्यकज्ञान से वह नीरोग नहीं हो सकता है।

अतः धार्मिक ज्ञान के साथ ही धर्माचरण भी होना आवश्यक है, धर्माचरण किये बिना वह धार्मिक ज्ञान कार्यकारी नहीं है, निष्फल है।

इस तरह प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये कि अपने पुत्र पुत्रियों को लौकिक ज्ञान (अनेक भाषाओं, गणित, इतिहास, विज्ञान आदि) के साथ धार्मिक शिक्षा भी अवश्य दें, साथ ही व्यवहार में उनको निपुण बनाने और इन सब बातों के साथ साथ बचपन से ही उनको धर्म आचरण का अभ्यासी बनाता रहे।

प्रवचन नं० १२१

स्थान— तिथि—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली आश्विन कृष्णा ३ मंगलवार, ४ अक्टूबर १९५५

भाग्य का उदय

संसार-चक्र में पड़ा हुआ यह जीव कभी ऊपर जाता है, कभी नीचे जाता है. कभी रोता है कभी हंसता है। कभी दीन हीन दरिद्र अपने आप को अनुभव करता है, कभी अपने आप को धनकुबेर समझ बैठता है। कभी बलवान दिखाई देता है कभी बल हीन। कभी बड़ा प्रतिभाशाली विद्वान होता है तो कभी मूर्ख पागल भी बन जाता है। कभी बहुत सुन्दर शरीर पाता है जिसको देखने के लिये स्त्री पुरुष आकर्षित होते हैं, कभी ऐसा कुरूप असुन्दर शरीर-धारी बन जाता है कि जिसको देखना भी कोई पसन्द नहीं करता। इस तरह नाटक में अभिनय करने वाले अभिनेताओं (ऐक्टरों) के समान संसारी जीव विविध प्रकार के रूप धारण किया करता है।

यह सारे खेल संसारी जीव अपनी इच्छा से नहीं करता क्योंकि ऐसे मूर्खों की संख्या तो नगण्य हो सकती है जो कि अपने आप को दुःख की कीचड़ में पटकना चाहें। संसारी जीव की दुःखदायक तथा सुखदायक परिस्थिति कर्म के उदय से हुआ करती है। अपने पूर्व संचित शुभ कर्म से संसारी जीव को कुछ समय तक, जब तक कि शुभ कर्म का उदय बना रहता है, सांसारिक सुख मिलता रहता है, जब अशुभ कर्म उदय में आता है तो जीव को अनचाहा अनिष्ट दुःख मिलता है। यह सब कुछ होता कर्म के अनुसार है। शुभ कर्म के उदय को सौभाग्य कहते हैं और अशुभ कर्म के उदय को दुर्भाग्य कहते हैं।

दुर्भाग्य के उदय से दुःख में पड़े हुए जीव के कभी कभी अचानक ऐसा शुभ कर्म उदय में आ जाता है कि जिसे चमत्कार ही कहा जा सकता है।

एक मनुष्य को कोढ़ रोग था, उस रोग से उसका शरीर क्षत विक्षत हो गया था। जगह जगह पीप बहती थी, इससे वह बहुत दुखी था।

एक बार वह एक अनुभवी वैद्य के पास गया, वैद्य ने उसका कोढ़ देख कर एक प्रयोग (नुसखा) लिख दिया, उस पर्चे की औषध लेने जब उपवैद्य (कम्पाउण्डर) के पास गया तो उसने नुसखे को देखकर कह दिया कि तेरे रोग की औषध मेरे पास नहीं है। वह निराश होकर चला गया।

वर्षा के दिनों में एक दिन वह कोढ़ी नगर के बाहर जा रहा था, उसने देखा कि काले सांप ने एक मिट्टी के टूटे हुए ठीकरे में बरसात के भरे हुए पानी को पिया है, पानी पीकर सांप जब चला गया, तब उसने देखा कि ठीकरे में बचा हुआ पानी सर्प के विष से हरा हो गया है। कोढ़ी ने विचार किया कि यदि इस विषैले पानी को मैं पी जाऊँ तो आराम से मेरी मृत्यु हो जायगी और इस कोढ़ की भयानक वेदना से मुझे सदा के लिये छुटकारा मिल जायगा, ऐसा विचार करके मृत्यु का आलिंगन करने के विचार से उसने वह जहरीला पानी पी लिया।

पानी पीकर वह उस घड़ी की प्रतीक्षा कर रहा था जब कि सांप का विष उसको अचेत करके मृत्यु की सुखमयी गोद में बिठा दे, परन्तु हुआ इससे बिलकुल विपरीत। उस विषमय पानी पीने के थोड़े समय पीछे ही उसका कोढ़ सूखने लगा और एक दिन में ही उसका सारा कोढ़ अच्छा हो गया। वह बड़ा प्रसन्न हुआ और उस वैद्य के पास पहुँचा कि मेरे जिस कोढ़ को आपने असाध्य बतलाया था, वह बिलकुल अच्छा हो गया। तब वैद्य ने उसके लिये लिखा हुआ अपना नुसखा निकलवा कर उसे दिखाया, उस नुस्खे में वही सांप का पिया हुआ अवशिष्ट पुराने मिट्टी के बर्तन में भरा हुआ जल लिखा था।

यह भाग्य का ही चमत्कार है।

एक मनुष्य नपुंसक था, धोखे से उसका विवाह भी हो गया था। विवाह हो जाने पर अपनी नपुंसकता के कारण वह स्वयं दुःखी था और उसकी सती स्त्री भी महादुःखी थी। एक दिन वह बाजार में होकर जा रहा था, कि अपनी दुकान पर बैठे हुए एक अनुभवी वैद्य ने उसके शरीर के लक्षण देखकर दूसरे मनुष्य से कहा कि देखो यह नामर्द (नपुंसक) है।

वैद्य की बात उस नपुंसक के कान में भी पड़ गई, इससे वह बहुत लज्जित हुआ कि मेरी गुप्त बात दूसरे लोगों को भी मालम हो गई है। उसने आत्महत्या करने के लिये घर जाकर कोई विष मंगा कर खा लिया। विष खाते ही उसके शरीर में अपूर्व परिवर्तन होना प्रारंभ हो गया।

विष खा लेने के कारण अपनी मृत्यु निकट समझ कर अपने मित्रों से अन्तिम विदा लेने के लिये बाजार में से जा रहा था कि मार्ग में वह वैद्य की दुकान फिर पड़ी। वैद्य ने फिर उसको देखा और देखते ही दुकान पर बैठे हुए अपने साथी से कहा कि यह मनुष्य अब मर्द बन गया है, इसकी नपुंसकता दूर हो गई है। वैद्य की बात सुन कर उस साथी को भी आश्चर्य हुआ और उस नपुंसक को भी। नपुंसक ने सोचा कि वैद्य ने यह बात ऊटपटांग कही है इसको पता नहीं कि मैंने विष खा लिया है, मैं अब मृत्यु के मुख में जाने वाला हूं।

वह अपने समस्त मित्रों से मिलकर घर आया, कई घंटे बीत जाने पर भी उसको अपने शरीर में विष का प्रभाव कुछ भी अनुभव न हुआ, इसके विपरीत उसे शरीर में स्फूर्ति अनुभव हुई, उसे वैद्य की दूसरी बात चित्त में घूमने लगी। रात्रि हुई, अपनी स्त्री के साथ एक शैया पर सोया, उसी समय अपनी पत्नी का शरीर छूते ही उसका काम पौरुप जाग्रत हो गया, इससे उसको तथा उसकी स्त्री को बहुत हर्ष हुआ। तब उसने वैद्य की दोनों समय की बातें और अपने विष खाने की बात उसे (स्त्री को) कह सुनाई, दोनों बहुत प्रसन्न हुए।

कुछ दिनों बाद उसकी स्त्री को गर्भाधान हुआ और नौ मास पीछे सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ, उन दोनों के हर्ष का पारावार न था। तदनन्तर उसके २-३ सन्तान और भी हुईं।

इस तरह वह विष भी उसके लिये वरदान सिद्ध हो गया, उसका जीवन भर का असह्य दुर्भाग्य सदा के लिये सौभाग्य में परिवर्तित हो गया।

व्यवहार में संसारी प्राणी लक्ष्मी, पुत्र, स्त्री के समागम, रोग, विपत्ति, अपयश, चिन्ता,

व्याकुलता आदि के उपशम हो जाने को सौभाग्य समझते हैं, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से सौभाग्य इन बातों को नहीं माना जाता क्योंकि इस सामग्री के समागम में जीव कर्मों का बन्धन करता रहता है संसार के मोह मायाजाल में फंसा हुआ आत्मा का अहित किया करता है, उससे कुछ आत्मा का अभ्युदय नहीं होता।

श्री समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है—

न सम्यक्त्वसमंकिंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्चमिथ्यात्व समं नान्यत्तनूभृताम्॥

यानी—तीनों काल तथा तीनों जगत में सम्यग्दर्शन के समान इस जीवका कोई कल्याण (हित) नहीं है और मिथ्यात्व के समान इस जीवका अहितकारी और कोई पदार्थ नहीं है।

श्री समन्तभद्राचार्य का कथन अक्षरशः सत्य है क्योंकि आत्माकी सत्य श्रद्धा न होने के कारण आत्मा का संसार भ्रमण छूटने नहीं पाता, जन्म, जरा, मरण, आधि, व्याधि लगी रहती है, इनकी परम्परा छूटने नहीं पाती। आत्मा का अहित भी यही है। सम्यक्त्व हो जाते ही आत्मा को स्व-अनुभव हो जाने के कारण वह अनुपम आनन्द शान्ति सन्तोष प्राप्त होता है जो कि इन्द्र और चक्रवर्ती को भी विषय भोगों से नहीं मिल पाता। तदनन्तर सम्यक्त्वी जीव के अनेक कर्मों की निर्जरा और संवर होना प्रारम्भ हो जाता है। इस तरह कर्मभार हल्का होते होते वह एक दिन संसार सागर से पार होकर अजर अमर, वीतराग, पूर्णसुखी, पूर्ण ज्ञानी, अनन्त शक्ति सम्पन्न पूर्ण स्वतन्त्र बन जाता है। अतः आत्मा के अभ्युदय का मूल सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन जीव को कभी कभी अचानक प्रतिकूल परिस्थितियों में भी प्राप्त हो जाता है।

भगवान् महावीर को केवलज्ञान होजाने पर भी समवशरण में असंख्य सुर, नर, पशु श्रोताओं के उपस्थित रहने पर भी जब ६६ दिन तक दिव्यध्वनि प्रगट न हुई, तब सौधर्म इन्द्रने इसका कारण अवधिज्ञान से विचारा। अवधिज्ञान द्वारा उसे ज्ञात हुआ कि समवशरण में भगवान् के बीजपद रूप दिव्य उपदेश को अवधारण करने में समर्थ विद्वान् श्रोता यहां पर कोई नहीं है। अतः गणधर बनने योग्य विद्वान् जब तक समवशरण में न होगा तब तक भगवान् का दिव्य उपदेश प्रारम्भ न होगा।

तब इन्द्र ने गणधर पद के योग्य उस समय के महान् विद्वान् इन्द्रभूति गौतम को अवधिज्ञान से जाना। इन्द्रभूति गौतम को अपनी विद्वत्ता का बहुत अभिमान था। वह वेद वेदाङ्ग, न्याय, साहित्य, व्याकरण, छन्द आदि विषयों का पारंगत पंडित था। इन्द्र ने उस इन्द्रभूति गौतम को भगवान् महावीर के समीप लाने के लिये एक युक्ति का प्रयोग किया। उसने एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप बनाया और वह इन्द्रभूति गौतम के पास पहुँचा। गौतम के पास पहुँच कर उसने गौतम से कहा कि मेरे गुरु भगवान् महावीर हैं वे सर्वज्ञाता सर्वद्रष्टा हैं। उन्होंने मुझको एक श्लोक सिखाया है, उसका अर्थ मुझको विस्मरण हो गया है सो कृपा करके आप बतला दीजिये, आप इस समय के बड़े भारी विद्वान् हैं, आपके सिवाय इस श्लोक का अर्थ और कोई न बता सकेगा। इन्द्र ने वह श्लोक गौतम को सुनाया—

श्रैकान्यं द्रव्यषट्कं नवपद सहितं जीवषट्कायलेश्याः,
पंचान्ये चास्तिकाया व्रतसमितिगतिज्ञान चारित्र भेदाः।
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः,
प्रत्येति श्रद्धाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः॥

वृद्ध ब्राह्मण रूप धारके इन्द्र के मुख से यह श्लोक सुनकर विद्वान् इन्द्रभूति गौतम असमंजसमें पड़ गया। वह विचारने लगा कि श्लोक में बतलाये गये छह द्रव्य, नौ पदार्थ, षट् काय जीव, पांच अस्तिकाय, व्रत, समिति आदि कौनसे हैं, क्या उनके नाम हैं, क्या उनका स्वरूप है? अभी तक मैंने इन बातों को किसी भी शास्त्र में नहीं पढ़ा। बिना जाने इसको क्या बतलाऊँ? यदि इससे अपने हृदय की सत्य बात कह डालूं तो जगत् में मेरा उपहास होगा कि 'गौतम इतना बड़ा विद्वान् होकर एक साधारण श्लोक का भी अर्थ न बतला सका।'

'इस दुविधा की दशा में मुझे क्या करना चाहिये।' ऐसा विचारते ही उसको यह युक्ति सूझी कि चलकर इसके गुरु से ही बात क्यों न कर लूँ? साधारण व्यक्ति की अपेक्षा, जिसको जनता सर्वज्ञ समझती है, उसी से वाद-विवाद करना ठीक रहेगा, उसमें मेरा कुछ उपहास तो न होगा। ऐसा विचार करके गौतम ने उस वृद्ध ब्राह्मण से कहा कि इस श्लोक का अर्थ तुझे क्या बताऊँ, जिसने तुझे यह श्लोक सिखाया है उसको बताऊँगा।

इन्द्र भी यही चाहता था कि किसी तरह गौतम एक बार समवशरण में पहुँच जावे, अतः स्वयं गौतम के मुख से अपने हृदय की बात सुनकर इन्द्र को बहुत प्रसन्नता हुई। वह अपना मनोरथ सफल हुआ जान करके इन्द्र के साथ समवशरण की ओर चल पड़ा। समीप पहुँच जाने पर जब उसने विशाल मानस्तम्भ को देखा तो उसका ज्ञानमद स्वयं शान्त होगया।

समवशरण में प्रवेश करते ही भगवान महावीर का दर्शन करते ही वह उनका भक्त साधु बन गया, उसी समय उसको मनःपर्यय ज्ञान होगया। यह महान् परिवर्तन होते कुछ देर न लगी। तत्काल भगवान् महावीर का दिव्य उपदेश प्रारम्भ हुआ और बीजपद रूप गूढ़ उपदेश को श्री इन्द्रभूति गौतम ने अपने हृदय पर अंकित कर लिया और उपस्थित जनता को सरल वाणी में अंग, पूर्व आदि को विभिन्न २ रूप में विगत वार समझाया। इस तरह वह भगवान् महावीर के प्रथम गणधर बने।

जिस दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ उस दिन गौतम गणधर को केवलज्ञान हुआ और कुछ दिनों बाद उन्होंने संसार कारागार से मुक्ति प्राप्त की।

इस तरह जो इन्द्रभूति गौतम अपने ज्ञान के अभिमान में भगवान् महावीर से शास्त्रार्थ करने के विचार से भगवान् महावीर के पास आया, भगवान् महावीर के निकट आते ही उसकी दुर्भावना सद्भावना, सत् श्रद्धा के रूप में परिणत होगई और उसने तत्काल वह अचिन्त्य लाभ प्राप्त किया जो कि उसे अनेक जन्मों के गहन परिश्रम से भी प्राप्त न होता।

इसे कहते हैं आध्यात्मिक सौभाग्य।

प्रवचन न० १२२

स्थान—
श्री दिगम्बर जैन मंदिर कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि—
आश्विन कृष्णा ४ बुधवार, ५ अक्तूबर १६५५

सुख दुख का स्वागत

दर्पण के सामने खड़े होकर मुख की आकृति जैसी की जावे दर्पण में उसी प्रकार का प्रतिबिम्ब पड़ेगा। मुख पर यदि घाव का चिन्ह या कुष्ट का दाग, अथवा कोई मसा या लांछन होगा तो वह दर्पण में स्पष्ट दीखेगा। जो मनुष्य दर्पण में अपना सौन्दर्य देखना चाहे उसे अपना सौन्दर्य बनाकर ही दर्पण देखना चाहिये।

एक मूर्ख मनुष्य आंख में काजल लगाते समय काजल की एक रेखा अपने गाल पर भी लगा बैठा, जिससे उसके नेत्रों में काजल के कारण जहां कुछ सुन्दरता आई, वहीं गाल पर काजल का धब्बा लग जाने पर मुखमण्डल पर असुन्दरता भी आगई। दैवयोग से उस मूर्ख को उसके बाद एक बड़ा दर्पण दिखाई दिया उसमें उसे अपने गाल की कालिमा भी दिखाई दी, उसने समझा कि यह कालिमा उसके मुख पर नहीं है शीशे में है, अतः वह शीशे को रगड़ २ कर साफ करने लगा; परिश्रम करते २ उसे पसीना आ गया परन्तु मुख का वह काला दाग दर्पण में ज्यों का त्यों दीखता रहा।

उस समय एक बुद्धिमान व्यक्ति ने उसका अभिप्राय समझ उसका हाथ पकड़कर उसके मुख के उस दाग वाले भाग पर रक्खा और कहा कि इसको रगड़, गाल के रगड़ने से जब वह दाग मिट गया, तब उसने कहा कि अब तू दर्पण में अपना मुख देख, उस समय जब मूर्ख ने अपना मुख दर्पण में देखा तो उसे अपना मुख स्वच्छ दिखाई दिया।

ससारी जीव की भी यही दशा है, वह जैसे कृत्य करता है उसके आत्मा पर उसी प्रकार का कर्म का धब्बा तत्काल लग जाया करता है। कुकृत्य का बुरा कर्म का धब्बा भी उस पर लगता है और सुकृत्य का सुन्दर कर्म (शुभ कर्म) का धब्बा भी उसके आत्मा पर लगता है। जब उन सुकर्मों का फल काल आता है तब उसे शुभ फल मिलता है जिसे पाकर यह बहुत प्रसन्न होता है चारों ओर इसे सुख ही सुख नजर आता है, यह समझ भी नहीं पाता कि संसार में कोई दुखी भी है। और जब दुर्भाग्य से कुकर्म का कड़वा फल इसके सामने आता है तब यह दुखी होता है; रोता है, व्याकुल होता है, छटपटाता है, सारा संसार इसको दुःखमय नजर आता है।

एक वृद्ध मनुष्य एक स्थान पर एक आम का पौदा लगा रहा था, उधर से होकर घोड़े पर सवार राजा निकला। राजा ने उस वृद्ध को आम का पौदा लगाते हुए देखकर पूछा कि बुड्ढे! यह क्या कर रहा है?

बुड्ढे ने उत्तर दिया कि राजन्! आम का पौदा लगा रहा हूं जिससे आम का फलदार तथा छायादार ऊंचा वृक्ष उत्पन्न होगा।

राजा ने पूछा कि क्या तुझे आशा है कि यह पौदा जब फल देने योग्य वृक्ष बनेगा तब तक तू जीवित रहेगा?

बूढ़े ने नम्रता के साथ उत्तर दिया कि महाराज ! मैं तो इस वृक्ष के मधुर फलों को न खा सकूंगा किन्तु मेरे पुत्र पौत्र तथा आगामी पीढ़ी के अन्य मनुष्य तो इसके फल अवश्य खावेंगे।

राजा उस बूढ़े की शुभ भावना से बहुत प्रसन्न हुआ और उसको ५०) रुपये पारितोपिक में प्रदान किये। बूढ़े के नेत्रों में हर्ष के आंसू आगये और गद्‌गद् स्वर में बोला कि महाराज ! मुझे आम का बीज बोते ही उसके ५०) मीठे फल मिल गये।

इसी तरह यदि कोई मनुष्य बबूल का बीजारोपण करे तो कालान्तर में उसको कांटेदार बबूल का पेड़ मिलता है जिसकी न तो घनी छाया होती है, न जिस पर खाने योग्य मीठे फल लगते हैं, हां लम्बे नौकीले कांटे उस पर अवश्य लगते हैं, जो कि शरीर में कहीं भी चुभ जाने पर बहुत दुःख देते हैं।

बबूल का बीज बोकर किसी को आम नहीं मिला करते।

ठीक इसी प्रकार जो जीव पाप मार्ग से बचकर सुमार्ग पर चलता है, किसी अन्य प्राणी को कोई कष्ट नहीं देता, असत्य बोलकर किसी को धोखा नहीं देता, किसी के साथ विश्वासघात नहीं करता, किसी को कठोर वचन नहीं कहता, गाली गलौज नहीं देता, हितमित प्रिय वचन बोलता है। किसी की कोई वस्तु नहीं चुराता, डाका नहीं डालता, अपनी विवाहित नारी के सिवाय अन्य सब नारियों को माता बहिन पुत्री की दृष्टि से देखता है, अपनी आवश्यकता के अनुसार न्याय नीति से धन-संचय करता है। अनीति, बेईमानी, छल बल से अन्य व्यक्ति को पीड़ा पहुंचा कर धन-उपार्जन नहीं करता, न्याय से उपार्जित धन द्वारा दूसरों का उपकार करता है, धर्म कार्य में, विद्या प्रचार में उसे व्यय करता है। कभी अभिमान नहीं करता, क्रोध कषाय को उग्र नहीं होने देता, इन्द्रियों का दास नहीं बनता, विषयभोगों की कीचड़ में नहीं सना रहता। वह मनुष्य अपने शुभकृत्यों के कारण शुभकर्मों का बीज बोता है, अतः जब उसके वे शुभकर्मों के बीज वृक्ष बनकर फल देते हैं तो उसे सुखदायक मीठे फल यानी सांसारिक सुख मिलते हैं।

तथा च—जो व्यक्ति अपने स्वार्थ-साधन के लिये अथवा मनोरंजन के लिये या द्वेष भावना से अन्य प्राणियों को कष्ट पहुँचाते हैं, शिकार खेलते हैं, मांस खाते हैं, दीन दरिद्रियों को दुख देते हैं, दूसरों को विपत्ति में पड़ा हुआ देखकर हर्षित होते हैं, सदा मुख से दुर्वचन बोलते रहते हैं, झूठ बोलना, विश्वासघात करना, मीठी बातों में फंसाकर दूसरों को हानि पहुंचाना, सदा अभिमान भरे कटुक कठोर वचन बोलना, चोरी करना, डाका डालना, परस्त्री अपहरण करना, सतीत्व भङ्ग करना, बलात्कार करना, व्यभिचार मे लगे रहना, शराब पीना, अन्याय, अनीति, अत्याचार बेईमानी से धन संचय करना, पाप कार्यों में द्रव्य लगाना आदि कुकृत्य करने से पापकर्म का बीज बोया जाता है। जब वह पापवृक्ष फल देने लगता है, तब अनेक तरह के क्लेश, दुःख, संताप, विपत्तियां जीव को मिलती हैं।

शुभ कर्म के उदय होने पर सुख सम्पत्ति का लाभ होता है उसका स्वागत सब कोई करता है परन्तु पाप कर्म का उदय होने पर जब अनेक तरह का दुख प्राप्त हुआ करता है, तब उसका स्वागत कोई नहीं करता। उस समय अपने परिणाम दुखी, क्लेशित करके भविष्य के लिये और पाप बन्ध कर लेते हैं। मनुष्य यदि शुभ कर्म के उदय की तरह अशुभ कर्म के उदय का भी धैर्य, शान्ति, सन्तोष के साथ स्वागत

करे और उसे अपने ही बोये हुए बीज का फल समझे, उसको आता देख दुःख क्लेश न करे, अपने परिणामों को नीचा न गिरने दे तो वह दुखदायक अवसर भी उसको वरदान सिद्ध हो सकता है।

एक राजा का एक बुद्धिमान मन्त्री था। वह अपने राजा को विपत्ति के समय बड़ी युक्ति और शुभसम्मति देकर धैर्य देता था, सन्मार्ग की ओर प्रेरणा देकर उसे उत्साहित किया करता था।

एक दिन तलवार की तीक्ष्ण धार की परीक्षा करते समय राजा के बाएं हाथ की एक अंगुली कट गई, उसको देखकर राजा को बहुत दुःख हुआ कि मेरा हाथ बदसूरत हो गया। मैं हीन-अंग बन गया। मंत्री ने राजा को धैर्य देते हुए नम्रता के साथ कहा कि राजन्! आप की इस उंगली कटने में भी कोई भलाई छुपी हुई है, जो होता है सो अच्छे के लिये होता है।

राजा को मन्त्री की बात बहुत बुरी लगी, किन्तु राजा उस समय चुप रह गया।

एक दिन राजा अपने मन्त्री को साथ लेकर जंगल में घूमने फिरने गया। घोड़ों पर सैर करते हुए वे अपने राज्य की सीमा से बाहर एक घने वन में जा पहुंचे। वहां पर राजा को प्यास लगी, मन्त्री ने एक कुएं पर जाकर रस्सी द्वारा कुएं से पानी खींचकर राजा को पिलाया। तदनन्तर अपने लिए पानी भरने लगा। उस समय राजा को दुर्मति आई और उसने पिछली बात का बदला लेने के लिये मन्त्री को धक्का देकर कुएं में गिरा दिया। कुएं में गिरते हुए मन्त्री ने कहा कि राजन्! इसमें भी कुछ भलाई होगी, जो होता है सो अच्छे के लिये होता है। कुएं में पानी थोड़ा था अतः मन्त्री उसमें खड़ा रहा।

उस वन में घूमते फिरते भीलों का एक झुण्ड आया और उस राजा को पकड़कर अपनी देवी के सामने उसकी बलि देने के लिये ले गया। राजा को अपनी मृत्यु निकट आते देखकर बहुत दुःख हुआ।

भीलों ने देवी के मन्दिर पर पहुँच कर राजा के शरीर के वस्त्र आभूषण उतार कर बलि देने से पहले उसे स्नान कराया। स्नान कराने के बाद भीलों के पुरोहित ने जब राजा के शरीर के अंगोपांगों का निरीक्षण किया, तब उसने राजा के बाए हाथ में एक उंगली कम देखकर भीलों से कहा कि यह पुरुष हीनांग है, अतः यह देवी को बलि देने योग्य नहीं है। दूसरा कोई सम्पूर्ण अंगोपांग वाला मनुष्य पकड़ कर लावो।

हीनांग होने के कारण राजा मृत्यु के मुख में जाने से बच गया, तब उसे अपने मन्त्री की बात सत्य प्रमाणित हुई, उसने मन्त्री का आभार माना। वह वहां से छूट कर उस कुएं पर आया और उसने अनेक उपाय करके मन्त्री को कुएं से बाहर निकाल कर अपना समाचार कह सुनाया और अपने अपराध की क्षमा मांगी। तदनन्तर मत्री से पूछा कि कुएं में गिरते समय तुमने यह क्यों कहा कि जो कुछ होता है वह अच्छे के लिये होता है?

मंत्री ने उत्तर दिया कि राजन्! आप अभी तक इसका रहस्य नहीं समझे? यदि आप मुझे कुएं में न गिराते तो भील मुझे भी आपके साथ पकड़ ले जाते। तब आपतो हीनांग होने के कारण देवी पर चढ़ाए जाने से छूट ही जाते जैसे कि अभी छूट गये हैं, परन्तु मैं तो किसी भी तरह न छूट पाता क्योंकि

मेरे शरीर में सब अंग पूरे हैं। इस कारण आपके द्वारा मुझे कुएं में गिराया जाना भी मेरे लिये वरदान बन गया।

वैसे तो मनुष्य अपनी वर्तमान परिस्थिति पर कभी सन्तुष्ट नहीं होता, किन्तु यदि कभी अशुभ कर्म के उदय से संकट भी आ जावे तो उसको भी अपने ही कृत्य का फल समझकर उस संकट का भी धीरता और साहस के साथ स्वागत करे, उस विपत्ति से विचलित होकर अपने सदाचार का पतन न होने दे, बल्कि उस समय और भी अधिक दृढ़ता के साथ अपने कर्तव्य में तत्पर रहे।

जिस तरह सदा मीठे पदार्थ खाते रहने से मुख का स्वाद बिगड़ जाता है, जठराग्नि मन्द हो जाती है जिससे पाचन शक्ति अपना ठीक कार्य नहीं करती, मीठे पदार्थों से अरुचि भी हो जाती है। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन में कभी दुख की घड़ी न आवे, निरन्तर सुखदायक प्रसंग बना रहे तो मनुष्य की कर्मठता कुण्ठित हो जाती है, शरीर की सहिष्णुता प्रगट नहीं हो पाती, मनुष्य को अपना साहस प्रगट करने का अवसर नहीं मिलता, मनुष्य दूसरों के कष्टों को नहीं समझ पाता, संघर्ष करने की शक्ति उसमें उत्पन्न नहीं होती। उसे अपने सच्चे मित्रों की परीक्षा करने का मौका नहीं मिल पाता।

इसके सिवाय सबसे बड़ी बात यह है कि कष्ट आने पर ही मनुष्य को भगवान् स्मरण आता है, जिस भगवान् का नाम लेने की आवश्यकता सुखी हालत में मनुष्य को प्रतीत नहीं होती, वह भगवान् दुखी दशा में स्वयं याद आ जाता है। जिस दर्शन, पूजन, सामायिक, स्वाध्याय करने की भावना धनिक मनुष्य मे उत्पन्न नहीं होती, दुख संकट में मनुष्य उस धर्मक्रिया के लिये तत्पर हो जाता है। संसार में दुखी मनुष्यों को क्या व्यथा होती है इसका अनुभव अपने ऊपर संकट आने के समय ही होता है।

इस तरह अशुभ कर्म के उदय से आया हुआ कष्ट मनुष्य के महान् वरदान सिद्ध होता है। पुरुष महान् विपत्तियों को शान्ति से झेलकर, कष्टों के कण्टकाकीर्ण मार्ग को धीरता के साथ पार करके जब अपना लक्ष्य सिद्ध कर लेता है तब इतिहास में लिखे जाने योग्य यश को प्राप्त करता है। यदि भगवान् ऋषभनाथ एक लाख पूर्व तक और अपना सुखमय जीवन व्यतीत करते, विषयभोगों से विरक्त होकर तपस्या के कठोर कष्टों को न अपनाते तो वे न तो विश्ववन्द्यनीय परमात्मा बन पाते और न आज तक उनका नाम अमर रहता।

इतिहास में जिनका नाम आदर के साथ लिया जाता है उन्होंने अपने जीवन में महान् कष्टों को सहन करके अपने जीवन में अपने आचार का स्तर ऊंचा रक्खा था, वे विपत्तियों से नहीं हारे, विपत्तियां उनसे हार गई थीं। अतः मनुष्य को सदा कष्टसहिष्णु बनना चाहिये, विपत्तियों से टक्कर लेने की क्षमता रखनी चाहिये और दुख संकट आने पर कभी कायर न बनना चाहिये।

कष्ट तो अशुभ कर्म के उदय से उन महान् व्यक्तियों पर भी आया करते हैं जिनका कि अलंघ्य शासन जनता पर चलता रहता है, देव भी जिनकी सेवा में तत्पर रहा करते हैं, इस कारण प्रत्येक मनुष्य को सुख की तरह आगन्तुक दुःख का भी सदा शान्ति तथा साहस के साथ स्वागत करना चाहिये।

प्रवचन नं० १२३

स्थान— तिथि—

श्री दिगम्बर जैन मंदिर, कूचा सेठ, दिल्ली। आश्विन कृष्णा ५ वृहस्पतवार, ६ अक्टूबर १९५५

परोपकार

संसारवर्ती समस्त जीव मोहनीय कर्म से मोहित होकर न तो स्व-उपकार करते हैं न पर उपकार। मोहभाव के कारण उनको जब आत्मश्रद्धा ही नहीं है तो आत्महित की बात उनको सूझेगी भी कैसे। संसारी प्राणी शरीर को भी आत्मा मान बैठे हैं इस कारण प्रतिक्षण शरीर के पालन पोषण, साज संवार शृङ्गार में लगे रहते हैं। स्वयं आत्मा होते हुए उन्हें आत्मा के पालन पोषण रक्षण की बात नहीं सूझती। जितना ध्यान वे इस जड़ शरीर का रखते हैं यदि उससे चौथाई ध्यान भी आत्मा के उत्थान का रक्खें तो जन्म मरण से छूट शुद्ध बुद्ध, निरञ्जन, निर्विकार परमात्मा बन जावें।

अपनी समझ से प्रत्येक प्राणी स्वार्थ-साधन में लगा हुआ है, माता के ऊपर भी जब विपत्ति आती है तो अपने आप को बचाने के लिये अपने पुत्र को भी अरक्षित छोड़ देती है। पति अपनी प्रिय-पत्नी को और पत्नी अपने पति का साथ स्वार्थवश छोड़ देती है। स्वार्थान्ध होकर मनुष्य पशु के समान निर्दय बन जाता है। दूसरे व्यक्ति का चाहे सर्वनाश हो जावे किन्तु स्वार्थी मनुष्य अपना मतलब सिद्ध करने से नहीं चूकता, ऐसे मनुष्य अपने आत्मा का पतन करते हैं; दया गुण का पालन न करने से अशुभ कर्म बन्ध करके आत्मा को नरक, पशु आदि दुर्गति का पात्र बनाते हैं। इस कारण वास्तव में वे स्वार्थ भी तो नहीं साधते।

जिस तरह स्वार्थी मनुष्य यथार्थ में न अपने आत्मा को उन्नत करने वाला स्वार्थ ही साधते हैं, न पर हित ही साधन करते हैं। उसी प्रकार परोपकारी व्यक्ति जहां अन्य जीवों को लाभ पहुँचाता है, वहीं शुभ कर्म उपार्जन करके यथार्थ में स्वार्थ भी सिद्ध करते हैं। इसलिये मनुष्य जीवन की शोभा चटकीले भड़कीले वस्त्र पहन कर आभूषण धारण करने में नहीं है बल्कि परोपकार द्वारा लोक कल्याण करने से है। कवि का कहना है—

> आभरण इस नरदेह का बस एक पर-उपकार है,
> हार को भूषण कहै उस नर को शत धिक्कार है।
> स्वर्ण की जंजीर बांधे श्वान फिर भी श्वान है,
> धूलि धूसर भी करी पाता सदा सन्मान है॥

यानी—मानव शरीर की शोभा सोने मोती के हार पहनने से नहीं होती है, मनुष्य जीवन की शोभा तो अन्य जीवों का उपकार करने से हुआ करती है। सोनें की जंजीर पहन कर कुत्ता आदरणीय पशु नहीं बन जाता और धूल से मैला हाथी निरादर का पात्र नहीं होता वह मैले शरीर में भी आदर पाया करता है।

अर्हन्त भगवान् इसी कारण जगत्पूज्य हैं कि अपने दिव्य उपदेश द्वारा समस्त जीवों को अनुपम लाभ पहुँचाते हैं। जनता से स्वयं कुछ नहीं लेते किन्तु जनता को सब कुछ हित देते हैं। उनके चरण चिन्हों पर चलने वाले महाव्रतधारी मुनिराज के चरणों में भी संसार इसी लिये अपना शिर झुकाता है कि मुनि महाराज कभी कभी थोड़ा सा जैसा भी मिला वैसा भोजन करके सदा आत्मशुद्धि और परोपकार किया करते हैं।

मनुष्य में जब तक अहिंसा की भावना जाग्रत न हो तब तक वह दूसरे की रक्षा नहीं कर सकता। दयाभाव हृदय में आने पर ही दूसरे का दुख दूर करने का भाव उत्पन्न होता है। अतः मनुष्य को दया-अहिंसा का आचरण अपने जीवन में निरन्तर करते रहना चाहिये। जो मनुष्य दूसरों की रक्षा करता है प्रकृति भी उसकी रक्षा अवश्य करती रहती है और जो दूसरे जीवों का घात करता है, उनको दुख देता है प्रकृति भी उसको उसकी बुरी भावना और बुरे कार्य का दण्ड अवश्य देती है।

सूक्ति मुक्तावली में कहा है—

आयुर्दीर्घतरं वपुर्वरतरं गोत्रं गरीयस्तरं,
विच्चं भूरितरं बलं बहुतरं स्वामित्वमुच्चैस्तरम्।
आरोग्यं विगतान्तरं त्रिजगति श्लाघ्यत्वमल्पेतरं,
संसाराम्बुनिधिं करोति सुतरं चेतः कृपार्द्रान्तरम्॥ २८॥

अर्थात्—दया से भीगे हुए चित्त वाले मनुष्य की आयु दीर्घ होती है, अच्छा सुन्दर शरीर होता है, अच्छे कुल में जन्म होता है, अच्छा धनवान और बलवान होता है, वह निरन्तर नीरोग रहता है, जगत में अच्छा प्रशंसनीय होता है और संसार सागर से पार हो जाता है।

बहुत प्राचीन समय की बात है, सिप्रा नदी के किनारे एक शिशप गांव था। उस गांव में मृगसेन नामक एक धीवर रहता था। उसकी स्त्री का नाम घण्टा था। दोनों बहुत प्रेम से रहते थे। नदी में से मछलियां पकड़ कर खाना और बेचना मृगसेन का प्रतिदिन का काम था।

एक दिन उस गांव मे 'जयधन' नामक एक तपस्वी मुनिराज विहार करते हुए पधारे। गांव के समस्त स्त्री पुरुषों ने मुनि महाज के दर्शन किये और उनका कल्याणकारी उपदेश सुना। उपदेश सुन कर समस्त स्त्री पुरुषों ने आत्म शुद्धि के लिये कुछ न कुछ व्रत नियम ग्रहण किये। मृगसेन धीवर को मुनि महाराज ने यह व्रत दिया कि 'तेरे जाल में जो पहली मछली आवे उसको पानी में छोड़ दिया कर, अपने खाने या बेचने के काम में न लिया कर। मृगसेन ने मुनि महाराज का उपदेश स्वीकार किया।

दूसरे दिन जाल लेकर वह नदी पर मछली पकड़ने गया। उसके जाल में कुछ देर पीछे एक अच्छी मोटी मछली फँस गई। मृगसेन ने अपनी पगड़ी में से थोड़ा सा कपड़ा फाड़ कर चिन्ह के लिये उस मछली को बांध दिया और मुनि महाराज से ग्रहण किये व्रत के अनुसार उस मछली को नदी में छोड़ दिया।

दूसरी बार जब उसने जाल डाला तो दुबारा भी वही मछली जाल में आ फंसी, मृगसेन ने उस मछली में बंधे हुए कपड़े का चिन्ह देखकर उसको फिर पानी में छोड़ दिया। तीसरी वार जाल डालने पर उस जाल में और कोई मछली न फंसी, फंसी तो वह पहली वार वाली मछली आई, अतः उसे फिर भी पानी में छोड़ देना पड़ा। तब मृगसेन ने चौथी वार जाल नदी में डाला, परन्तु संयोग से चौथीवार भी वही मछली जाल में आई, अतः नियमानुसार चौथी वार भी मछली मृगसेन को छोड़नी पड़ी। दिन छिप गया और मृगसेन को खाली हाथ घर आना पड़ा।

अपने पति को घर पर खाली हाथ आते देखकर मृगसेन की स्त्री को बहुत क्रोध आया और उसने द्वार के किवाड़ बन्द करके मृगसेन को घर में न आने दिया। मृगसेन ने मुनि महाराज से लिये हुए व्रत की बात घण्टा को सुनाई किन्तु क्रोध के कारण उसकी स्त्री ने कुछ न सुना। तब मृगसेन चुप चाप थका मांदा भूखा प्यासा ही घर से लौट गया और गांव के बाहर बने हुए मंदिर में जाकर सो गया। उसी समय एक काला सर्प मंदिर मे आया उसने मृगसेन को काट लिया जिससे वह सदा के लिये सो गया।

कुछ देर पीछे जब मृगसेन की स्त्री का क्रोध शान्त हुआ तो उसे अपनी कठोरता पर पश्चाताप हुआ, वह अपने पति को खोजने के लिये घर से बाहर निकली और ढूंढते ढूंढते उस मंदिर में पहुंची, वहां पर अपने पति को मृतक पड़ा देख उसे बहुत शोक हुआ, उसने प्रतिज्ञा की कि जो व्रत मेरे पति ने ग्रहण किया था वही व्रत मै भी ग्रहण करती हूँ। संयोग से उसका पैर गुंजलक मार कर बैठे हुए उस सर्प के ऊपर पड़ गया जिससे सांपने उसे भी काट खाया।

मृगसेन मर कर उज्जयिनी में श्रीदत्त के घर सोमदत्त नामक पुत्र हुआ। उसकी स्त्री घण्टा मर कर उसी उज्जयिनी में वृषभदत्त राजा के सेठ गुणपाल की स्त्री गुणश्री के पेट से विषा नामक पुत्री हुई। सोमदत्त बहुत सुन्दर बालक था। अशुभ कर्म के उदय से सोमदत्त के माता पिता बचपन में ही मर गये, कुटुम्ब के और व्यक्ति भी मर गये, धन सम्पत्ति भी नष्ट भ्रष्ट हो गई, सोमदत्त अनाथ और दरिद्र हो गया। तब वह सेठ गुणपाल के घर उनका झूठा भोजन खाकर रहने लगा।

एक दिन दो मुनि गुणपाल के मकान के पास से जा रहे थे, उनमें से छोटे मुनि ने सोमदत्त को झूठा भोजन खाते देख कर बड़े मुनि से कहा कि बालक शरीर के लक्षणों से तो भाग्यशाली दीखता है परन्तु झूठा भोजन खाकर निर्वाह कर रहा है। बड़े मुनि अवधिज्ञानी थे उन्होंने अवधिज्ञान द्वारा जानकर कहा कि यह बालक इसी सेठ की समस्त सम्पत्ति का स्वामी होगा। मुनि महाराज की बात सुनकर उस सोमदत्त बालक पर क्रोध आया। उसने एक मनुष्य को धन का लोभ देकर उस बालक को कहीं एकान्त में मार डालने को कहा। वह मनुष्य सोमदत्त को अपने साथ नगर के बाहर घने वन में ले गया। सोमदत्त की भोली मूर्ति देख कर उसने बालक को बिना मारे छोड़ दिया और गुणपाल को झूठ मूठ कह दिया कि मैंने उसे मार दिया है।

सोमदत्त थक गया था अतः बरगद के पेड़ के नीचे सो गया। उसी समय वहां से होकर 'गोविन्द' नामक एक धनिक ग्वाला निकला, उसने सुन्दर बालक सोता देखा, उसे जगाकर उसने पूछा

कि तू किसका बालक है, सोमदत्त ने कहा कि अब मेरा कोई नहीं है। गोविन्द के कोई पुत्र न था, अतः बड़े हर्ष के साथ अपने घर ले गया, उसकी स्त्री ने उसे बड़े स्नेह से पाला।

गुणपाल ने एक दिन उस युवक सोमदत्त को देखकर पहचान लिया कि यह तो वही लड़का है जो कि मैंने मार डालने के लिए भेजा था। गुणपाल बातों में फांसकर सोमदत्त को अपने साथ ले गया। और एक पत्र देकर उसने उज्जयिनी मे अपने घर भेजा। पत्र में उसने लिखा कि 'पत्र लाने वाले को तुरन्त विष दे देना।'

पत्र लेकर सोमदत गुणपाल के घर की ओर चल दिया, घर दूर था, चलते चलते वह विश्राम करने के लिये मार्ग मे एक बाग में बैठ गया, बैठते ही उसको नींद आगई सो घास पर सो गया। उसी समय वसन्ततिलका नामक वेश्या उस बाग में मनोरंजन के लिये आई। उसने उस सोते हुए सुन्दर नवयुवक सोमदत्त को देखा, उसके पास पत्र भी देखा। पत्र को पढ़कर उसे दुःख हुआ कि गुणपाल सेठ इसे विष देकर मारना चाहता है। वह गुणपाल को जानती थी। उसने पत्र में बड़ी चतुराई से 'विष' शब्द को 'विषा' बना दिया। इतना करके वह चली गई।

सोमदत्त कुछ देर पीछे उठकर गुणपाल के घर पहुंचा। गुणपाल सेठ के पुत्र महाबल ने पत्र पढ़कर, कि पत्र लाने वाले को तुरन्त विषा दे देना, सुन्दर युवक सोमदत्त को अपनी बहिन के लिये योग्य वर जानकर तत्काल विपा को सोमदत्त के साथ पाणिग्रहण कर दिया। कुछ समय पीछे गुणपाल घर आया उसने सोमदत्त के साथ विषा का विवाह होते देखा तो उसे बहुत दुःख हुआ। महाबल से गुणपाल ने पूछा कि मेरी अनुपस्थिति में तूने ऐसा क्यों किया? तो महाबल ने वह उनका भेजा हुआ पत्र दिखलाया। गुणपाल ने पत्र में 'विष' का 'विषा' देखकर आश्चर्य किया, वह चुप रह गया।

जामाता हो जाने पर भी गुणपाल ने सोमदत्त को मार डालने का विचार न छोड़ा। और दूसरे दिन नगर के बाहर मन्दिर में एक मनुष्य बिठा दिया कि सूर्यास्त हो जाने के पीछे मन्दिर में जो मनुष्य आवे उसको मार देना। इधर गुणपाल ने सोमदत्त को पूजा की सामग्री देकर सूर्य छिप जाने पर उस मन्दिर में भेजा। मन्दिर को जाते हुए सोमदत्त को उसका साला महाबल मिल गया, उसने सोमदत्त से वह सामग्री लेली और कहा कि 'तुम घर जाओ मैं यह सामग्री मन्दिर में दिये आता हूँ।'

महाबल ज्यों ही मन्दिर मे पहुंचा कि वहां पर अन्धेरे में छिपे हुए मनुष्य ने उसको तलवार से मार दिया, सोमदत्त जब घर पहुंचा तब गुणपाल को मालूम हुआ कि मन्दिर में महाबल गया है। उसने जो जाल सोमदत्त के लिये रचा था उसमे फंसकर स्वयं उसका पुत्र मारा गया। गुणपाल को बहुत शोक हुआ। तब उसने विष लाकर अपनी स्त्री को दिया और कहा कि इसे लड्डुओं में मिलाकर सोमदत्त को खिला देना। उसकी स्त्री ने लड्डू बनाकर अलग रख दिये और स्वयं किसी काम में लग गई।

गुणपाल को राजा ने बुलवाया था, अतः वह घर आया और अपनी पुत्री विपा से बोला कि झटपट मुझे जो कुछ रक्खा हो, खाने के लिये दे। विपा को वे लड्डू मिल गये, उसे विष का कुछ पता न था। उसने गुणपाल को वे लड्डू परोस दिये। इस तरह गुणपाल जो विप सोमदत्त को मारने के लिये लाया था उस विप ने स्वयं उस गुणपाल को ही मार दिया। सोमदत्त बच गया।

पुत्र और पतिके मर जाने पर गुणपाल की स्त्री ने शोक से विह्वल होकर आत्महत्या करली। तदनन्तर गुणपाल की समस्त सम्पत्ति का स्वामी सोमदत्त बन गया।

सोमदत्त ने पूर्वभव में मृगसेन धीवर के रूप में पकड़ी हुई मछली को चार बार छोड़ दिया था, वह भी इस भव में मृत्यु से चार बार बच गया। गुणपाल ने सोमदत्त को मार डालने का यत्न किया जिसमें स्वयं वह और उसका पुत्र मारा गया।

प्रवचन नं० १२४

स्थान— श्री दिगम्वर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली

तिथि— आसौज कृष्णा ६ शुक्रवार, ७ अक्टूबर

ज्ञान—आवरक कर्म

यदि जोरदार आंधी चल रही हो तो दिन में निकला हुआ सूर्य का प्रकाश भी इतना क्षीण होजाता है कि मनुष्य को अपने सामने की वस्तु भी दिखाई नहीं देती, उस समय दिन में भी दीपक का प्रकाश करने की आवश्यकता पड़ जाती है। चलते हुए मनुष्य आंधी के उस दिन वाले अँधेरे में दुर्घटनाग्रस्त हो जाते हैं, कुएं खड्डे आदि में गिर जाते हैं।

दर्पण पर यदि तेल की चिकनाई लग जावे तो उसमें मुख स्पष्ट दिखाई नहीं देगा, यदि उस पर कुछ धूल भी लग जावे तो उसमें मुख और भी भद्दा नजर आवेगा।

सोना चमकदार होता है परन्तु यदि सोना कीचड़ में गिर पड़े तो जब तक उसे साफ न किया जावे तब तक उसकी चमक फीकी भद्दी दीखेगी। रात्रि में पूर्णमासी के दिन पूर्ण चन्द्रमा निकलता है तो जगत में उसका स्वच्छ शीतल प्रकाश फैल जाता है तो चोरों के सिवाय समस्त स्त्री पुरुषों को आनन्द होता है, रात मे भी सब कुछ दिखाई देता है, यात्री उस रात में सुगमता से पैदल यात्रा किया करते हैं, परन्तु यदि वह पूर्णमासी श्रावण, भाद्रपद मास में हो जबकि काले काले बादल घुमड़ घुमड़कर वरसते हैं तो वेचारा चन्द्रमा उन काले बादलों में छिपा रह जाता है, उसका जरासा प्रकाश भी पृथ्वी पर नहीं आपाता, रात भर अन्धेरा बना रहता है।

इसी तरह प्रत्येक जीव में समस्त जगत् के त्रिकालवर्ती पदार्थों को स्पष्ट जानने वाला केवलज्ञान विद्यमान है परन्तु ज्ञानावरण कर्म ने उस केवलज्ञान पर ऐसा आच्छादन डाला है कि वह ज्ञान छिप-सा गया है, उसकी बहुत थोड़ी किरण निकल रही हैं, इसी कारण संसारी जीव को अन्य वस्तुओं को जानने के लिये दीपक, चन्द्र, सूर्य आदि के प्रकाश का तथा इन्द्रियों का भी सहारा लेना पड़ता है जैसे कि वृद्ध मनुष्य को चलने के लिये लाठी का सहारा आवश्यक हो जाता है। बुड्ढे की लकड़ी टूट जावे या लचक जावे तो बुड्ढे का चलना फिरना धीमा पड़ जाता है इसी तरह नेत्र आदि इन्द्रियों में कुछ खराबी आजावे तो फिर उन इन्द्रियों के सहारे से जानना देखना भी मंदा पड़ जाता है।

ज्ञानावरण का अत्यन्त उत्कट रूप स्वस्थ मनुष्य के श्वास निःश्वास लेने निकालने के छोटे से काल में १८ बार जन्म मरण करने वाले निगोदिया जीव के होता है जिससे कि उसका ज्ञान अक्षर ज्ञान के अनन्तवें भाग प्रमाण रह जाता है, उससे कम ज्ञान और किसी जीव के नहीं होता। उस जघन्य के ऊपर ज्ञानावरण कर्म का आवरण नहीं होता इसी कारण उसको 'नित्य उद्घाटित' ज्ञान कहते हैं।

निगोदिया ज्ञान से अधिक अन्य एकेन्द्रिय जीवों का ज्ञान होता है। एकेन्द्रिय जीवों के ज्ञान से अधिक ज्ञान दोइन्द्रिय जीवों के होता है, दोइन्द्रिय जीवों से अधिक ज्ञान तीनइन्द्रियों वाले जीवों के होता है। उनसे भी अधिक ज्ञान चारइन्द्रिय जीवों के होता है, उनसे अधिक ज्ञान मनरहित—असैनी पंचेन्द्रिय जीवों के और असैनी पंचेन्द्रिय जीवों से भी अधिक ज्ञान का विकास मनसहित संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के हुआ करता है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में भी पशुओं की अपेक्षा मनुष्योंको अधिक होता है। और साधारण मनुष्यों की अपेक्षा देवों का ज्ञान अधिक होता है।

ज्ञान की यह कमीबेशी ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम (आत्मा से छूटने तथा दबने) की कमीबेशी के कारण हुआ करती है जिस जीव के ज्ञानावरण का क्षयोपशम कम होता है उस जीव के ज्ञानका विकास भी थोड़ा होता है और जिस जीव के ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम अधिक होता है उस जीव के ज्ञानका विकास अधिक होता है। यानी—ज्ञानावरण कर्म का उदय जिस जीव के जितना अधिक बलवान होता है उस जीव के ज्ञान की मात्रा उतनी ही अल्प होती है और जिस जीव का ज्ञानावरण कर्म जितना बलहीन होता है उस जीव का ज्ञान उतना ही अधिक प्रबल होता है।

ज्ञान के सामान्य रूप से ५ भेद हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनपर्यय और केवल।

इन्द्रियों के द्वारा तथा मन के द्वारा जो कुछ जाना जाता है वह मतिज्ञान है।

मतिज्ञान के अनन्तर जो मन के द्वारा अन्य अन्य विषयों की विचारधारा चल पड़ती है यह श्रुतज्ञान है।

इन्द्रियों की सहायता के बिना आत्मशक्ति द्वारा मूर्तिक पदार्थों को स्पष्ट जानना अवधि ज्ञान है।

बिना इन्द्रियोंकी सहायता के अन्य व्यक्ति के मन के बिचारों को स्पष्ट जानने वाला ज्ञान मनःपर्यय होता है।

ज्ञानावरण कर्म का समूल क्षय होजाने पर जो त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों की भूत, भविष्यत वर्तमानकाल की समस्त पर्यायों को जानने वाला ज्ञान केवल है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान इन्द्रियों तथा मन की सहायता से होते हैं, अतः वे परोक्ष ज्ञान कहलाते हैं। उनका जानना स्पष्ट नहीं होता। इन्द्रियों में विकार हो तो उनसे विकृत, भद्दा गलत भी जाना जाता है, जैसे किसी मनुष्य को काचकामली रोग हो या पीलिया रोग हो तो उसको सफेद वस्तु भी पीली दिखाई देगी। धतूरा पीकर आंखों से सब कुछ सुनहरा दिखाई देता है। बहरे आदमी को कान रहते हुए भी सुनाई नहीं देता। यदि शरीर का कोई भाग शून्य हो जावे तो उस भाग में स्पर्श का कुछ ज्ञान नहीं होता।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान का क्षयोपशम प्रत्येक संसारी जीव के होता है, अतः मतिज्ञान श्रुतज्ञान प्रत्येक संसारी जीव को हुआ करता है। जिन जीवों के मन नहीं होता है, उन जीवों को मन की सहायता न मिल सकने से श्रुतज्ञान का कुछ उपयोग नहीं हो पाता।

स्मरण (=याद करना), प्रत्यभिज्ञान (प्रत्यक्ष और स्मरण का जोड़रूप ज्ञान, जैसे यह वही मनुष्य है जिसको मैंने पहले देखा था), तर्क (साध्य साधन का व्याप्तिज्ञान—जैसे जहां धुआं होता है वहां आग अवश्य होती है), अनुमान (साधन द्वारा साध्य को जानना, जैसे कहीं पर धुआं उड़ते देखकर जान लेना कि वहां आग है), आगम (यथार्थ वक्ता के वचन अनुसार जानना, जैसे राम रावण का युद्ध हुआ), ये पांचों ज्ञान मतिज्ञान में ही गर्भित हैं। अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा आदि रूप से मतिज्ञान के ३३६ भेद भी हैं। वैसे भिन्न भिन्न जीवों के थोड़े, अधिक क्षयोपशम के अनुसार मतिज्ञान के अनन्तों भेद भी होते हैं।

श्रुतज्ञान दो तरह का है—१. द्रव्यश्रुत, २. भावश्रुत। आचारांग आदि बारह अंग तथा अङ्गबाह्य रूप श्रुत को द्रव्यश्रुत कहते है। इस तरह ग्रन्थरूप द्रव्यश्रुत है। पर्याय, पर्याय समास आदि पूर्व तक जो श्रुतज्ञान के क्षयोपशम रूप २० भेद हैं। वह भाव श्रुतज्ञान है। पूर्व भावश्रुत ज्ञान के क्षयोपशम से जिस व्यक्ति को ११ अंग, १४ पूर्व (द्वादशाङ्ग) का ज्ञान होता है उसे श्रुतकेवली कहते हैं।

अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान होता है। देव और नरक निवासियों के जन्म से ही अवधिज्ञान होता है उसको भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं, मनुष्य और पशुओं के जो तप आदि गुणों के कारण अवधिज्ञान प्रगट होता है उसे गुणप्रत्यय अवधि ज्ञान कहते हैं। क्षयोपशम की अपेक्षा से अवधिज्ञान के तीन भेद हैं—देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। देवों, नारकियों, असंयत मनुष्यों पशुओं को देशावधि ही होता है। संयत मनुष्य के देशावधि, परमावधि, सर्वावधि तीनों में से कोई भी हो सकता है।

देशावधि केवलज्ञान होने से पहले छूट भी जाता है। सर्वावधि, परमावधि, तद्भव मोक्षगामी संयमी के होते हैं, अतः ये दोनों प्रकार के अवधिज्ञान केवलज्ञान होने तक बने रहते हैं। मनुष्य पशुओं के अवधिज्ञान के ६ भेद अन्य प्रकार भी किये गये हैं—१. अनुगामी (क्षेत्रान्तर में जाने पर भी रहने वाला), २. अननुगामी (क्षेत्रान्तर में जाने पर छूट जाने वाला), ३. हीयमान (उत्पन्न होने के समय से घटते रहने वाला), ४. वर्द्धमान (उत्पत्ति के समय से उत्तरोत्तर बढ़ते रहने वाला), ५. अवस्थित (सदा एक समान रहने वाला), ६. अनवस्थित (सदा एकसा न रहने वाला, कभी घटे, कभी बढ़े)।

सर्वावधिज्ञान परमाणु तक स्पष्ट जान सकता है।

मन पर्यय ज्ञानावरण के क्षयोपशम से मन पर्यय ज्ञान होता है। उसके दो भेद हैं १. ऋजुमति, २. विपुलमति। सरल मन वचन काय वाले व्यक्ति के मन की बात को जानने वाला ज्ञान ऋजुमति है। सरल तथा कुटिल मन, वचन, काय वाले व्यक्ति के मन की बात को जानने वाला विपुलमति है। ऋजुमति अतद्भव मोक्षगामी के भी होता है अतः केवलज्ञान होने से पहले भी छूट जाता है। विपुलमति तद्भव मोक्षगामी के होता है अतः वह केवलज्ञान होने से पहले नहीं छूटता। मन पर्यय ज्ञान ढाईद्वीप के भीतर ही जानता है। मनपर्यय ज्ञान संयमी मुनि के होता है।

इस तरह मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तथा मनपर्ययज्ञान अपने अपने आवरण के क्षयोपशम से होते हैं, अतः ये चारों ज्ञान क्षायोपशमिक होते है।

केवलज्ञानावरण कर्म के क्षय होजाने से तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान होता है। केवलज्ञान होजाने पर मुनि महात्मा पद से ऊँचे उठकर परमात्मा पद पर पहुँच जाते हैं। अर्हन्त भगवान्, सर्वज्ञ, सकल परमात्मा, जीवन्मुक्त, सर्वज्ञाता-द्रष्टा, केवली आदि नाम केवलज्ञान होजाने पर ही व्यवहार में आते हैं। केवलज्ञान को अनन्तज्ञान तथा क्षायिक ज्ञान भी कहते हैं। केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद (गुणांश) सबसे अधिक होते हैं।

कोई भी व्यक्ति जब दूसरे के ज्ञान उपार्जन में बाधा डालता है, अपने बच्चों तथा अन्य अधीनस्थ स्त्री पुरुषों को पढ़ने नहीं देता, स्वयं भी स्वाध्याय आदि द्वारा अपनी ज्ञानवृद्धि नहीं करता, विद्वानों का आदर नहीं करता, शास्त्रोंका विनय नहीं करता, अपने गुरु का नाम छिपाता है, पुस्तक फाड़ देता है, पुस्तक छिपा देता है, अपने ज्ञानका अभिमान करता है, विद्याभ्यासमें आलस्य करता है, अशुद्ध लिखता है, अशुद्ध पढ़ता है, पाठशाला नष्ट भ्रष्ट कर देता है। किसी प्रशंसनीय उपदेश की प्रशंसा नहीं करता, पढ़ने पढ़ाने वालों को पढ़ने पढ़ाने से रोक देता है: अकाल में शास्त्र पठन करता है, आगम के विरुद्ध प्रचार करता है, इत्यादि ज्ञान अभ्युदय के विरुद्ध कार्य करने पर उसके ज्ञानावरण कर्म का बंध होता है।

जो व्यक्ति बड़ी रुचि से ज्ञान का अभ्यास करता रहता है, अपने ज्ञान का रंचमात्र भी अभिमान नहीं करता, अपने परिवार के सभी व्यक्तियों को विद्याभ्यास के लिये प्रेरणा किया करता है, अपने विद्यागुरुका सन्मान करता है, विद्वानों को देखकर प्रसन्न होता है विद्वानों तथा विद्यार्थियों को उत्साहित करता रहता है, विद्या प्रचार के लिये यथासम्भव प्रयत्न करता रहता है, पुस्तकों-ग्रन्थों की विनय करता है, लिखना पढ़ना जिसका अशुद्ध नहीं रहता, जो सदा विविध विषयों तथा विविध भाषाओं का ज्ञान संचय करने में उद्यत रहता है, उस व्यक्ति के ज्ञान का विकास बढ़ता जाता है, उसका ज्ञानावरण कर्म क्षीण होता जाता है।

ज्ञानावरण कर्म बंध होने तथा क्षयोपशम होने के कारणों को समझकर प्रत्येक स्त्री पुरुष को ज्ञान रोधक कार्य कदापि न करने चाहियें, सदा ज्ञानाभ्यास की आदत डालनी चाहिये। यद्यपि सम्यग्दर्शन होजाने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है परन्तु वास्तव में देखा जाय तो ज्ञान सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में सहायक है। जब तक आत्मा, शरीर, कर्मबन्धन, मुक्ति का परिज्ञान न हो तब तक आत्मा शरीर के भेद का परिज्ञान नहीं होता, जो सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिये सहायक है। इसी ज्ञान की कमी से एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक के जीवों के आत्म-अनुभूति नहीं होने पाती जो कि सम्यक्त्व का फल है। इस मनुष्य को अपनी आयु का विचार न करके ज्ञान-उपार्जन करनें का प्रयत्न करते रहना चाहिये।

जब तक आत्मा और शरीर का भेद विज्ञान नहीं होता है तब तक ज्ञान कुज्ञान होता है क्योंकि उस ज्ञान से आत्मा का कुछ हित नहीं होता बल्कि अहित होता रहता है। अतएव सम्यक्त्व उत्पन्न होने से पूर्व के ज्ञान कुमति, कुश्रुत, कुअवधि कहलाते हैं। इसी कारण पूर्व लिखित पांच ज्ञानों के साथ इन

तीन कुज्ञानों को मिलाकर ज्ञान के ८ भेद होते हैं। केवलज्ञान समस्त केवलज्ञानियों को एक समान होता है उसमे कमीवेशी नहीं होती। मति, श्रुत, अवधि, मनपर्यय ज्ञान क्षायोपशमिक हैं अतः भिन्न २ जीवों के क्षयोपशम मे होनाधिकता होने से उनके ज्ञानों में एक दूसरे व्यक्ति के ज्ञानों से अन्तर हुआ करता है।

प्रवचन नं० १२५

स्थान— श्री दिगम्बर जैन नया मंदिर, धर्मपुरा, दिल्ली

तिथि— आश्विन कृष्णा ७ शनिवार, ८ अक्टूबर १९५५

परिग्रह का अभिशाप

चिड़ियों को अपने रहने के लिये घोंसला बनाना पड़तता है, चूहे बिल बनाकर रहते हैं, मनुष्यों को छोटा वड़ा मकान वना कर रहना पड़ता है। इसी तरह संसारी जीवों को पौद्गलिक शरीर में अपना घर बना कर रहना पड़ता है। जिस तरह मकान की सुरक्षा का ध्यान रखना आवश्यक है उसी तरह जीव को अपने इस चलने फिरने वाले मकान का भी सदा ध्यान रखना पड़ता है। जिस तरह यात्रा करने के लिये रथ के पहियों में, धुरा में तेल लगाना पड़ता है जिसे ओंघना भी कहते हैं, उसी तरह इस शरीर के यन्त्रों को भी चालू रखने के लिए भोज्य और पेय पदार्थ देने पड़ते है। यदि समय पर शरीर को भोजन पान न मिले तो शरीर की मशीन निष्क्रिय बन जाती है, निरन्तर भोजन पान न मिलने से शरीर की मृत्यु भी हो जाती है।

इस कारण पेट की ज्वाला को शान्त करने के लिये भोजन पान की व्यवस्था प्रत्येक मनुष्य, पशु-पक्षी, जलचर, थलचर, नभचर, कीड़े मकोड़े, यहां तक कि वनस्पति आदि को भी अनिवार्य रूप से करनी पड़ती है। इसके सिवाय प्राकृतिक रूप से रहने के अभ्यासी तथा सभ्यता के पुजारी इस मनुष्य को अपनी निर्वलता पर पर्दा डालने के लिये वस्त्रों की भी आवश्यकता होती है। बिना थोड़ा बहुत वस्त्र पहने स्त्री पुरुषों का रहना असंभव सा हो गया है।

इसके अतिरिक्त मनुष्य जन्म से ही सामाजिक प्राणी होता है, जंगली पशु पक्षी तो कदाचित् अकेले भी जीवन निर्वाह करलें परन्तु मनुष्य अकेला नहीं रह सकता, अतः इसे कम से कम परिवार बनाकर रहना पड़ता है परिवार के बाद समाज बनाकर रहना आवश्यक हो जाता है। इस तरह मनुष्य के सामने अपने परिवार के लिये पालन पोषण की समस्या भी सदा खड़ी रहती है। सारांश यह है कि मनुष्य को अपने लिये तथा अपने परिवार के लिये भोजन वस्त्र की व्यवस्था करना आवश्यक है।

भोजन वस्त्र की व्यवस्था के लिये मनुष्य को अपने जन्म से लेकर मृत्यु तक शारीरिक, वाचनिक तथा मानसिक कठोर परिश्रम करना पड़ता है। इतना ही नहीं, पुनर्जन्म मानने वाले आस्तिक स्त्री पुरुषों को तो परभव के लिये भी भोजन पान आदि की कुछ व्यवस्था करना आवश्यक प्रतीत होता है, अतः उन्हें धन-उपार्जन के साथ साथ पुण्य-उपार्जन भी करना पड़ता है।

भोजन पान, मकान, वस्त्र आदि पदार्थों को सुलभ बनाने के लिये मनुष्यों ने रुपया, पैसा, नोट, पौंड, डालर आदि को तथा सोना चांदी आदि को माध्यम बना लिया है, इन राजकीय मुद्राओं (सिक्कों, हुण्डियों) द्वारा मनुष्य को प्रत्येक आवश्यक पदार्थ प्रत्येक स्थान पर मिल जाता है। इसी कारण रुपये पैसे के बल पर मनुष्य गहन निर्जन वन में भी नगर की तरह निर्वाह कर सकता है। जल विहार, स्थल-विहार, आकाश विहार, देश-परदेश विहार आदि सब कुछ इस रुपये पैसे के द्वारा हो जाता है। धर्म कर्म आदि सब कुछ रुपये ने इस युग में खरीद-से लिये हैं।

अतः इस युग का मनुष्य रुपया पैसा संचित करने के लिये ऐसा बुरी तरह पड़ा हुआ है कि उसके जीवन का ध्येय ही धन-संचय करना रह गया है। धनसंचय के लिए उसने परभव की चिन्ता छोड़ दी है नास्तिक-सा बन कर दैनिक धर्म क्रिया भी छोड़ बैठा है। जिसके पास कुछ धन संचित हुआ कि उसने देव दर्शन, पूजन, शास्त्र स्वाध्याय, सामायिक, संयम, तप, त्याग, त्याग दिया। मानो उसे धर्म का फल मिल चुका है और अब उसको धर्म की आवश्यकता नहीं। भविष्य के लिए जिस तरह इस युग के मनुष्य को धन-सचय करना आवश्यक प्रतीत होता है उस तरह धर्म-संचय करना उसको आवश्यक नहीं दीखता। इसी तल्लीनता का नाम 'परिग्रह' है।

वास्तव मे जीवका अपने आत्मा के सिवाय अन्य कोई भी पदार्थ अपना नहीं है जिस शरीर को अपना समझ कर उसके साथ अत्यन्त ममता करता है, वह शरीर कुछ समय ही इसका साथी रहता है, मृत्यु का नगाड़ा बजते ही जीव परलोक यात्रा कर जाता है किन्तु शरीर यहीं रह जाता है और अपने भाई बन्दों—पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु के परमाणुओं (स्कन्धों) में मिल जाता है।

धन, मकान आदि पदार्थ तो पाप कर्म की प्रेरणा से (अशुभ कर्म के उदय से) इस जीवन में भी साथ छोड़ जाते हैं। पुत्र, स्त्री, मित्र आदि परिवार तब तक साथ देता है जब तक कि उसकी स्वार्थ-सिद्धि होती है। स्वार्थ-सिद्धि न होते देख पुत्र, पत्नी भी अनादर करने लगते हैं। सारांश यह है कि इस जगत में जीव का अपने आत्मा के सिवाय अणुमात्र भी अन्य पदार्थ अपना नहीं है, सभी पर-पदार्थ है। फिर यह मोही जीव सांसारिक पदार्थों से अतिशय ममता (अपनापन) करता है। उन्हें छोड़ना नहीं चाहता। इसी मोह ममता के आधार पर यह किसी को अपना मित्र बनाता है और किसी को शत्रु।

तो यथार्थ में सांसारिक पदार्थ परिग्रह रूप नहीं है, उन पदार्थों के साथ ममत्वभाव ही परिग्रह है इसीलिये तत्वार्थसूत्र कार ने परिग्रह का लक्षण धन धान्य आदि पदार्थ न करके 'मूर्च्छा परिग्रहः' यानी—आत्मा के सिवाय शरीर, धन, पुत्र, मित्रादि से ममता करना परिग्रह है, किया है। इसके अनुसार संसार से विरक्त रहने वाला भरत चक्रवर्ती परिग्रही न था किन्तु घर घर भीख मांगने वाला भिक्षुक परिग्रही है।

परिग्रह संसार में समस्त अनर्थों तथा दुर्भावनाओं का मूल है।

बात बहुत प्राचीन समय की है, अहिदेव, महिदेव दो भाई थे। अपनी माता के साथ रहते थे, अभी उनका विवाह नहीं हुआ था। साधारण परिस्थिति के व्यक्ति थे।

उन दोनों भाइयों ने विचार किया कि परदेश चलकर व्यापार करें और कुछ धन संचय करें। यह विचार उन्होंने अपनी माता के सामने रक्खा, माता ने पहले तो पुत्र स्नेह के कारण उनके परदेश

जाने में आनाकानी की, परन्तु पुत्रों के आग्रह करने पर दोनों पुत्रों को सुशिक्षा तथा शुभाशीर्वाद देकर परदेश को विदा कर दिया।

अहिदेव महिदेव ने परदेश में पहुचकर बड़े परिश्रम के साथ व्यापार किया, उस व्यापार में उनको सौभाग्य से अच्छी सफलता मिलती गई जिससे कि कुछ ही समय में उन्होंने अच्छा धन-उपार्जन कर लिया। जब उनके पास धन सचित हो गया तब उनको अपनी माता तथा अपनी जन्मभूमि की याद सताने लगी, अतः वे घर लौटने के लिये चिन्तातुर हुए।

उस समय दोनों ने विचार किया कि कमाया हुआ इतना माल-सामान घर ले जाने में बड़ी कठिनाई होगी, यदि सबके बदले में कोई एक हलकी-सी छोटी वस्तु ले ली जावे तो ठीक रहेगा। ऐसा विचार करके उन दोनों ने समस्त सामान बेचकर उस रकम से एक रत्न खरीद लिया। रत्न मोल लेकर दोनों भाई घर को चल पड़े।

वह रत्न बड़े भाई अहिदेव के पास था, रत्न की अद्भुत चमक देखकर अहिदेव बड़ा प्रसन्न था। रात्रि को सोते समय उसके मनमें अपने रत्न के विषय में विचारधारा चल पड़ी उसने सोचा कि यह रत्न तो एक है किन्तु इसके स्वामी दो व्यक्ति हैं। इसके दो भाग हो नहीं सकते, यदि दो टुकड़े किये जावेगे तो उन छोटे टुकड़ों का कुछ मूल्य न रहेगा। कदाचित यह रत्न महिदेव के हाथ पड़ गया और उसने इस पर अपना एकाधिकार कर लिया तो मैं योंही रह जाऊंगा, मेरे पास कुछ न रहेगा। धन पाकर भावना दुर्भावना बन जाती है। इस कारण यह रत्न मेरे ही पास रहा आवे तो अच्छा है। किन्तु जब तक महिदेव जीवित है तब तक तो ऐसा हो नहीं सकता। उसकी स्वाभाविक मृत्यु मुझ से भी पीछे हो सकती है, अतः यदि किसी ढंग से उसको पहले मार दिया जावे तो अच्छा हो। किस ढंग से उसे मारना चाहिये जिससे यह मूल्यवान् रत्न 'मेरे ही पास बना रहे।' इत्यादि सोचते विचारते हुए उसको रात भर नींद भी न आई।

जब प्रातःकाल होने लगा तब उसके हृदय की सुमति जाग्रत हुई, उसने सोचा कि मुझे धिक्कार है जो इस पत्थर के टुकड़े के लिये अपने सहोदर भ्राता को मारने की दुर्भावना पैदा की। यह रत्न जब तक मेरे पास रहेगा तब तक मेरे मनमें ऐसे गन्दे विचार आते रहेंगे। ऐसा सोचकर अहिदेव ने वह रत्न महिदेव को सुरक्षित रखने के लिये दे दिया।

दिन भर दोनों भाई परस्पर वार्तालाप में लगे रहे, सूर्यास्त होने पर जब रात हुई तब सोते समय जैसे ही महिदेव ने उस रत्न को संभाला त्यों ही उसके मन में भी नींद को जीतने वाली विचारधारा चल पड़ी, वह सोचने लगा कि 'अच्छा हुआ जो रत्न मेरे पास आ गया, यदि अहिदेव ही इसे रख लेता तो मैं खाली हाथ ही रह जाता। व्यापार में परिश्रम मैंने अधिक किया है चाहिये तो यह कि धन का अधिक भाग मुझको मिले, यदि ऐसा न हो तो कम से कम आधा तो मिलना चाहिये। परन्तु भाग हो कैसे? यह तो रत्न है, इसके दो खण्ड हो नहीं सकते, यह तो एक ही व्यक्ति के पास रह सकता है। इस समय यह मेरे पास है, क्या ही अच्छा हो कि यह सदा मेरे ही पास बना रहे। किन्तु जब तक मेरा बड़ा भाई है ऐसा होना असम्भव है। अतः कोई ऐसा उपाय होना चाहिये जिससे अहिदेव खाली हाथ ही सदा

के लिये सो जावे। उसे मारने को कौनसी युक्ति कार्य में लाई जावे जिससे मेरा अपयश भी न हो और अहिदेव भी मर जावे।

अपने बड़े भाई के लिए ऐसी दुर्भावना सोचते विचारते बिना सोये महिदेव की रात भी व्यतीत हो गई, प्रातःकाल होते होते उसके हृदय में भी विवेक जाग्रत हुआ कि मुझे धिक्कार है जो जरा सी बात के लिये अपने पिता के समान पूज्य बड़े भाई के लिये ऐसे अशुभ विचार किये हैं। रत्न जब उन्होंने मुझे स्वयं दे दिया है तो उनकी नीयत पर शंका करके मैंने महान् पाप किया है। मैं अब ऐसे बुरे विचार उत्पन्न करने वाले रत्न को अपने पास कदापि न रक्खूंगा।

ऐसा विचार करके महिदेव अहिदेव के पास पहुंचा और उसने बड़ी नम्रता के साथ वह रत्न अहिदेव को देते हुए कहा कि भाई साहब! इस रत्न को आप ही अपने पास रक्खें, मैं इसको अपने पास नहीं रख सकता। इसको रखने से मेरे मन में निन्द्य दुर्भावना उत्पन्न होती है।

नेत्रों में आंसू लाकर अहिदेव ने महिदेव को अपनी छाती से लगा लिया और गद्‌गद् वाणी में कहा कि महिदेव! यह रत्न मेरे हृदय में भी ऐसे ही बुरे विचार उत्पन्न करता है, इसी कारण मैंने अपना मन स्वच्छ रखने के लिये इसे सौंपा था। अच्छा, कोई बात नहीं, घर पहुंचकर इसे माता जी को भेंट कर देंगे, वे ही इसको अपने पास रक्खेंगी।

घर पहुंचकर दोनों भाइयों ने वह रत्न अपनी माता को भेंट कर दिया। माता अपने पुत्रों के धन-उपार्जन को देखकर बहुत प्रसन्न हुई। दिन भर अन्य व्यक्तियों से अपने पुत्रों की प्रशंसा करती रही। रात्रि को जब सोने का समय आया तब वह बुढ़िया सोचने लगी कि यह रत्न तो अच्छा मूल्यवान् है, परन्तु यह मेरे पास कब रहेगा। जब तक इन दोनों भाइयों का विवाह नहीं होता तब तक भले ही मेरे पास रहे, पुत्रों की बहुएं आ जाने पर तो मैं इस रत्न को देखने के लिये भी तरसा करूंगी। यह रत्न यदि मेरे पास रहा आवे तो मुझे पुत्रों का भी मुखापेक्षी (मुंहताज) रहने की आवश्यकता नहीं। अतः ऐसा कोई उपाय करना चाहिये कि रत्न मुझसे कोई न ले सके, परन्तु जब तक ये दोनों भाई जीवित हैं तबतक मेरा मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकता, इस लिये अहिदेव, महिदेव को किसी ठिकाने लगा देने की युक्ति निकालनी चाहिये।

ऐसा विचार करते करते रात्रि बीत गई प्रातःकाल को जब सूर्य की किरणें बादलों में होकर पृथ्वी की ओर झांकने लगीं, तब अहिदेव, महिदेव की माता को सूझा कि 'हाय! हाय!! मैं बड़ी दुष्ट हूं अपने पुत्रों के लिये ही मैं इस रत्न के पीछे कैसा अनिष्ट विचारने लगी, क्या मेरे पुत्र इस रत्न से भी गये बीते हैं।'

उसने तुरन्त अपने दोनों पुत्रों को बुलाकर अपनी दुर्भावना की बात कह सुनाई, तब दोनों भाइयों ने भी अपनी पिछली बातें कह डालीं। पुत्रों की बात सुनकर बुढ़िया ने अपने दोनों पुत्रों को छाती से लगाते हुए आंसू बहाते हुए कहा 'बेटा! इस रत्न को तुरन्त अगाध जल में फेंक आओ। ऐसी मनहूस वस्तु को देखना तथा रखना भी बुरा है। दोनों भाइयों ने उस रत्न को समुद्र में ले जाकर पटक दिया।

इस तरह परिग्रह अनीति भावना का मूल कारण है, प्रेम-भावना को मलिन करने वाला है, सूक्तिमुक्तावली में कहा है—

कलह कलभ विन्ध्यः कोपगृध्रश्मशानं,
व्यसनभुजगरन्ध्रं द्वेषदस्युप्रदोषः।
सुकृतवनदवाग्नि मार्दवाम्भोदवायुः,
नयनलिन तुषारोऽत्यर्थमर्थानुरागः ॥४२॥

यानी—परिग्रह कलह रूपी हाथी उत्पन्न करने के लिये विन्ध्याचल के समान है, कोप रूपी गिद्धों के लिये श्मशान के समान है। दुर्व्यसन रूपी सर्प के रहने के लिये बांबी जैसा है। द्वेष रूपी डाकू के लिये रात्रि तुल्य है। पुण्य रूपी वन को भस्म करने के लिये अग्नि समान है। नम्रता रूपी बादल को उड़ाने के लिये वायुतुल्य है और नीति रूपी कमल को नष्ट करने के लिये बर्फ गिरने के समान है।

प्रवचन नं० १२६

स्थान— श्री दिगम्बर जैन नया मन्दिर, धर्मपुरा, दिल्ली

तिथि— आश्विन कृष्णा ८ रविवार, ६ अक्टूबर १६५५

धर्मवीरता

जैनधर्म के आद्य प्रचारक भगवान् ऋषभनाथ क्षत्रिय थे, उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत महान् शूरवीर योद्धा थे। उन्होंने भरत क्षेत्र के छहों खण्डों पर विजय प्राप्त करके प्रथम चक्रवर्ती सम्राट पद प्राप्त किया, उनके ही नाम से इस देश का नाम 'भारत' रक्खा गया, प्रचलित हुण्डावसर्पिणी काल में भरत चक्रवर्ती ने जिनेन्द्र देव की प्रतिमाओं तथा जिन मन्दिरों का निर्माण कराया, इस तरह पिता पुत्र ने जैनधर्म के प्रचार का शिलान्यास किया। भरत चक्रवर्ती स्वयं इतने प्रख्यात विरक्त सम्राट थे कि मुनि दिक्षा लेने के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त में ही उनको केवलज्ञान हो गया। भरत चक्रवर्ती को मल्लयुद्ध में पराजित करने वाला महाबली बाहुबली जैसा महान् कठोर तपस्वी भी इतिहास में अन्य व्यक्ति देखने को नहीं मिलता, जिसने एक वर्ष तक अडिग आसन से खुले मैदान में खड़े रहकर आत्मध्यान किया, तदनन्तर अपने पिता भगवान ऋषभनाथ से भी पहले आत्मसिद्धि प्राप्त की।

भगवान् अजितनाथ आदि तीर्थंकर भी क्षत्रिय वंशीय थे। सोलहवें, सत्रहवें, अठारहवें तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरहनाथ ने अपने गृहस्थकाल में भरत चक्रवर्ती के समान छह खण्ड के समस्त राजाओं पर विजय पाकर चक्रवर्ती सम्राट पद प्राप्त किया था। अपने पूर्ववर्ती २३ तीर्थंकरों के समान भगवान् महावीर ने भी क्षत्रिय कुल में जन्म लिया था। क्षत्रिय कुल शूरवीरता में सदा अग्रसर रहा है। इसी कारण समस्त जगत का उद्धार करने वाले धर्म के महान् प्रचारक तीर्थंकर क्षत्रिय कुल में ही उत्पन्न होते हैं।

मनुष्य के स्वभाव, शील, पराक्रम, तेज पर माता पिता के रजवीर्य का खास प्रभाव पड़ता है।

एक बार एक गीदड़ का बच्चा घूमता फिरता भटकता हुआ एक सिंहनी के निकट आगया सिंहनी ने उसे प्रेम से अपने पास रखकर पाल लिया। कुछ दिनों पीछे सिंहनी के और भी बच्चे हुए, जब कुछ बड़े हो गये तो जंगल में इधर उधर घूमने लगे। गीदड़ के बच्चे को वे सिंह के बच्चे अपना बड़ा भाई समझते थे।

एक दिन वन में उनको एक हाथी मिला, सिंह के बच्चे हाथी को देखकर उसके ऊपर आक्रमण करने लगे, किन्तु गीदड़ का बच्चा हाथी को देखकर डर कर भागने लगा। उसको भागते देख सिंह के बच्चों को बहुत बुरा लगा। और उन्होंने अपनी माता से अपने बड़े भाई (गीदड़ के बच्चे) की कायरता की बात सुनाई, सिंहनी चुप रह गई।

सिंहनी ने गीदड़ के बच्चे को एकान्त में बुलाकर कहा कि—

शूरोऽसिकृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रकः।
यस्मिन्कुले-त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते।

अर्थात्—हे पुत्र! तू हमारे पास रहकर शूरवीर हो गया है, तू चतुर भी है और सुन्दर भी है, सब कुछ है, परन्तु जिस माता पिता ने तुझे जन्म दिया है उस कुल में हाथी नहीं मारे जाते हैं।

इस कारण अब चुप चाप यहां से भाग जा, यदि मेरे पुत्रों को तेरे असली गीदड़ कुल की बात मालूम हो गई तो तेरी कुशल (खैर) नहीं है, तेरी बड़ी दुर्दशा होगी। सिंहनी की बात सुनकर गीदड़ का बच्चा वहां से नौ दो ग्यारह हो गया (भाग गया)।

अतः मनुष्य के आचार विचार पराक्रम पर अपने माता पिता का बड़ा प्रभाव पड़ता है। तथा धर्म-संस्थापकों के चारित्र का भी प्रभाव उनके अनुयायियों पर पड़ता है। तदनुसार जैनधर्म का प्रचार वीर क्षत्रिय करते रहे उनका वीर उच्च आदर्श उनके शिष्यों प्रशिष्यों में चला आया। भगवान् महावीर के बाद सम्राट चन्द्रगुप्त, महामेघवाहन, महाराजा खारवेल, सुहेलदेव, कुमारपाल, होयसल्ल वंशी, गङ्गवंशी अनेक वीर क्षत्रिय जैन राजा हुए, वीरमार्तण्ड चामुण्डराय जैसे अनेक वीर सेनापति हुए, जिन्होंने अहिंसा धर्म का आचरण करते हुए प्रबल पराक्रम के साथ निष्कण्टक शासन किया। पराक्रमी विदेशी तथा देशी शत्रुओं को युद्ध क्षेत्र में मार भगाया। न मांस भक्षण किया, न किसी निरपराध जीव की हत्या की।

भामाशाह जैसे दानवीर हुए जिन्होंने देश की रक्षा के लिये अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया, श्री समन्तभद्राचार्य, भट्ट अकलंक आदि महान् प्रतिभाशाली प्रतिवादि-भयङ्कर विद्वान् हुए जिन्होंने अपन विद्वत्ता के बल पर महान् शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त करके जैनधर्म की प्रभावना की तथा उच्चकोटि का अनुपम साहित्य निर्माण किया।

जैन श्रमण परम्परा के सभी साधुओं ने अपना प्रभावशाली सर्वोच्च कोटिका चारित्र उज्ज्वल

रक्खा, महान् उपद्रवों (उपसर्गों), परिषहों को सहन करते हुए भी कायरता नहीं आने दी, सिंहवृत्ति से अपने चारित्र को निर्मल रक्खा। मृत्युदायिनी विपत्तियों को शान्ति और अटल धैर्य से सहन किया, आत्म ध्यान से रंचमात्र विचलित न हुए, न रत्ती भर अपनी साधुचर्या में दीनता प्रगट की। वीर मरण किया।

बहुत प्राचीन समय की बात है—उज्जयिनी में एक धनकुबेर सेठ सुरेन्द्रदत्त रहता था, सेठानी का नाम यशोभद्रा था। धन सम्पत्ति उसके पास इतनी थी जितनी उज्जयिनी के राजभण्डार में भी न थी, परन्तु सेठ के घर कोई उत्तराधिकारी पुत्र न था।

एक बार यशोभद्रा ने एक अवधिज्ञानी ऋषि से पूछा कि महाराज! हमारे घर में कभी प्रकाश भी होगा या नहीं? उत्तर में मुनिराज ने कहा कि तेरे घर में कुछ समय पीछे एक सुन्दर पुत्र जन्म लेकर प्रकाश करेगा, पुत्र का मुख देखते ही तेरा पति मुनिदीक्षा ले लेगा और तेरा पुत्र भी जब किसी मुनि का समागम पावेगा तभी वह घर परित्याग करके मुनि बन जावेगा। मुनि की वाणी सुनकर यशोभद्रा को हर्ष हुआ परन्तु कुछ चिन्ता भी हुई।

कुछ दिन पीछे यशोभद्रा गर्भवती हुई और उसने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम सुकोमल रक्खा गया। पुत्र का मुख देखते ही सेठ सुरेन्द्रदत्त ने उस पुत्र को अपने उत्तराधिकार का तिलक करके स्वयं मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली। यशोभद्रा को सुख के साथ दुःख की रेखा भी देखनी पड़ी और भविष्य वक्ता मुनि का कथन उसके सामने आ गया।

सुकोमल का सुन्दर मुख देखकर उसने सन्तोष किया, घर की समस्त व्यवस्था बड़ी चतुराई और सावधानी से करने लगी। सुपुत्र सुकोमल का पालन इतने लाढ़ प्यार से किया, जितना कि राजपुत्र का भी नहीं होता, इसी कारण सुकोमल सचमुच सुकोमल ही बन गया। अपना घर इतना विशाल बनवाया कि सुकोमल के मनोरंजन की समस्त व्यवस्था उसी भवन में कर दी गई। सुकोमल ने जब यौवन में प्रवेश किया तब अनिन्द्य सुन्दरी ३२ कन्याओं के साथ उसका विवाह कर दिया, जिससे कि वह घर में ही आसक्त बना रहे। भवन के द्वार पर रात दिन कड़ा पहरा लगा दिया कि कोई भी व्रती त्यागी मुनि घर के भीतर न आने पावे जिससे सुकोमल उनका दर्शन भी न कर सके। यह सब प्रबन्ध यशोभद्रा ने इसी कारण किया कि उसे मुनि की भविष्यवाणी स्मरण थी।

एक बार एक व्यापारी एक बहुमूल्य रत्न कम्बल बेचने के लिये उज्जैन में आया, कम्बल में बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे। रत्न कम्बल राजा ने न खरीदा, जब वह व्यापारी यशोभद्रा के पास आया तो उसे सेठानी ने खरीद लिया। वह सुन्दर कम्बल सुकोमल को दिया परन्तु रत्नों के कारण खुरदरा होने से सुकोमल के कोमल अंगों में चुभने लगा, अतः उसने कम्बल फेंक दिया तब सेठानी ने उस रत्न कम्बल की सुकोमल की पत्नियों की जूतियां बनवा दीं।

एक बार एक जूती को एक चील यशोभद्रा के घर से छत पर से उठा ले गई और राजा के घर जा कर पटक दिया। राजा ने बहुमूल्य रत्न कम्बल की जूती देखकर आश्चर्य किया कि मेरे राज्य में ऐसा भी धनिक है जिसकी स्त्री रत्नकम्बल की जूती पहनती है। पता लगा कर राजा स्वयं सुकोमल से

मिलने आया। सेठानी ने अपने भवन मे राजा को आता देख उसका बड़े समारोह से स्वागत किया। राजा ने सुन्दर युवक सुकोमल को देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रगट की और उसे साथ बिठाया।

सेठानी ने राजा की दीपक जला कर आरती की और उस पर मंगलीक सरसों वरसायी, दीपक का प्रकाश निकट देख कर सुकोमल के नेत्रों में पानी आ गया और आसन पर पड़ी हुई सरसों उसके चुभने लगी जिस से वह चल विचल होने लगा। राजा ने इसका कारण सेठानी से पूछा, सेठानी ने उत्तर दिया कि सुकोमल का पालन-पोषण रत्न आदि के शीतल प्रकाश में हुआ है, दीपक के उष्ण प्रकाश से इसके नेत्रों मे जल आ गया है। तथा कुर्सी पर पड़ी हुई सरसों इसको चुभ रही हैं अतः यह चल-विचल हो रहा है। राजा सुकोमल की कोमलता देखकर चकित रह गया।

राजा के लिये भोजन वनाते हुए सेठानी ने कमलपुष्प में रक्खे हुए सुकोमल के चावल भी मिला दिये। राजा और सुकोमल साथ ही साथ भोजन करने बैठे। सुकोमल कमलपुष्प में रखकर बनाये गये एक एक चावल चुन चुन कर खाने लगा, कौतूहल से राजा ने इसका कारण पूछा, सेठानी ने कहा कि महाराज कल कमलपुष्प में जो चावल इसके लिये रक्खे गये थे उनको यह चुन कर खा रहा है, दूसरे चावल इसे नहीं भाते। यह सुनकर राजा को बहुत आश्चर्य हुआ कि इसको इतनी सूक्ष्म पहिचान है। राजा सेठानी के सत्कार से प्रसन्न होकर तथा सुकोमल से मिलकर चला आया।

एक वार श्री गणधराचार्य, जो कि सुकोमल के मामा थे और अवधिज्ञानी थे, विहार करते उज्जयिनी आये और सुकोमल के भवन के पास एक बाग में ठहर गये। अवधिज्ञान से उनको सुकोमल की आयु बहुत थोड़ी ज्ञात हुई अतः सुकोमल को प्रबुद्ध करने के लिये रात्रि के नीरव (सुप्त) समय में उन्होंने उच्च स्वर से पद्यबद्ध संसार की दशा मिष्ट स्वर में कहनी प्रारम्भ की। मुनि वाणी सुनकर सुकोमल की नींद खुल गई। गणधराचार्य के स्वर द्वारा संसार की दशा सुनते ही सुकोमल को अपने पूर्वभवों का स्मरण हो आया। तत्काल भोगासक्त सुकोमल का मन भोगों से विरक्त हो गया। अब उसको क्षण भर भी घर में ठहरना असह्य हो गया। वह मुनि के निकट पहुँचने की युक्ति सोचने लगा क्योंकि द्वार पर कड़ा पहरा था।

तब उसने पगड़ी आदि कपड़ों को जोड़कर एक लम्बा रस्सा बनाया और अपने कमरे की खिड़की में उसे बांध कर उसके सहारे मकान के पीछे की ओर उतर गया। उतर कर सीधा गणधराचार्य के पास पहुंचा। गणधराचार्य से उसने प्रार्थना की कि महाराज मेरा उद्धार करो। गणधराचार्य ने कहा वत्स! तेरी आयु केवल तीन दिन की शेष है, जो कुछ करना है शीघ्र अपना कल्याण कर डाल। सुकोमल अपनी इतनी अल्प आयु जानकर और भी सचेत हो गया। उसने शरीर के समस्त वस्त्र आभूषण उतार कर मुनि दीक्षा ले ली और आत्मध्यान में तन्मय होने के लिये वन के एकान्त प्रान्त में चला गया-वहां अडोल पद्मासन लगा कर आत्मध्यान में निमग्न हो गया।

भूमि की ककड़ियां चुभने से सुकोमल के कोमल पैरों से रक्त निकलने लगा था किन्तु उन्होंने उस ओर ध्यान नहीं दिया। एक गीदड़ी अपने बच्चों के साथ खाने पीने की खोज में इधर उधर घूमती फिरती वहां आई। उसने मार्ग में कंकड़, पत्थर, पृथ्वी रक्त से युक्त देखे, उनको चाटते चाटते वह वहां

पर जा पहुंची जहां पर कि सुकोमल मुनि आत्मध्यान में लीन थे। सुकोमल मुनि को देखते ही गीदड़ी को पूर्व-जन्म का वैर स्मरण हो आया। पहले भव में वह गीदड़ी सुकोमल की भावी थी, सुकोमल के जीव ने उसको लात मारी थी, उस समय उसने सकल्प किया था कि 'मैं तेरी यह लात टांग) ही खाऊंगी।'

तदनुसार गीदड़ी रोष के साथ सुकोमल मुनि का एक पैर खाने लगी, उसके बच्चे तीन दिन तक सुकोमल मुनि की टांगों को खाते रहे। सुकोमल मुनि आत्मध्यान में निमग्न हो गये उनका उपयोग बाहर से हट कर अन्तर्निमग्न हो गया। तीन दिन पीछे वे अपने अटल आत्मध्यान के कारण मानव पर्याय छोड़कर सोलहवें स्वर्ग में जा पहुँचे।

इस तरह का कठोर तपश्चरण उनके द्वारा ही हो सकता है जो शरीर आत्मा का भेद विज्ञान पा कर जिनेन्द्र भगवान् को अपना लक्ष्य बनाते हैं, उनकी अनुपम वीरता का अनुकरण करके महान् उपसर्ग द्वारा भी अपने लक्ष्य-सिद्धि से विचलित नहीं होते।

हमको भी भगवान् जिनेन्द्र देव का उच्च आदर्श अपना कर दानवीर, त्यागवीर, धर्मवीर बनना चाहिये। जिनेन्द्र देव का उपासक कायर नहीं होता, उसका आत्मबल तथा मनोबल महान् होता है।

प्रवचन नं० १२७

स्थान— तिथि—

श्री दिगम्बर जैन नया मंदिर, कूचा सेठ, दिल्ली आश्विन कृष्णा १० सोमवार, १० अक्तूबर १९५५

दिगम्बर

जिस प्रकार जल स्वभाव से शीतल होता है, यदि उसको अग्नि द्वारा गर्म किया जावे तो भी देर तक जल को यों ही छोड़ देने पर स्वयं शीतल हो जाता है। जिन स्रोतों से जल ऊष्ण (गर्म) निकलता है, जलकी वह गर्मी भी स्वाभाविक नहीं होती, उस जल के नीचे कोई गन्धक आदि ज्वलनशील गर्म पदार्थ की खानि आदि होती है जिस कारण स्रोत का वह जल गर्म होता रहता है इसी कारण वह पृथ्वी से गर्म निकलता है किन्तु स्रोत से निकले हुए उस गर्म जल को भी यदि यों ही रख दिया जावे तो वह फिर अपनी स्वाभाविक शीतलता में आजाता है, इससे सिद्ध होता है कि जल का स्वभाव शीतल है।

जीव का स्वभाव भी शीतल है, उसमें जब किसी प्रतिकूल अनिष्ट बात को देखकर, सुनकर या विचार करके भयानक गर्मी का आवेश आता है जिससे कि वह एकदम अपने वश में नहीं रहता है, अपना विवेक, धैर्य, क्षमा, शान्ति खोकर मरने-मारने और ऊल-जलूल बकवास करने, गालियां, अपशब्द देनेके लिये तैयार हो जाता है, उसके नेत्रों और मुख-मंडल में रक्त उतर आता है जिससे वह लाल हो जाता है वह गर्मी जीव की स्वाभाविक नहीं होती, क्रोध कषाय के कारण बनावटी (वैभाविक)

होती है, इसी कारण थोड़ी देर तक ही उस गर्मी का प्रभाव रहता है तदनन्तर वह क्रोधी जीव स्वयं शीतल स्वभाव में आजाता है। द्वेष भावना चाहे उसके हृदय में भले ही बनी रहे परन्तु क्रोध का आवेश अधिक देर तक नहीं ठहर सकता। यदि किसी मनुष्य को क्रोध बहुत अधिक समय तक बना रहे तो उस क्रोध की गर्मी से वह पागल हो जायगा यहां तक कि उसकी मृत्यु भी हो सकती है। इस सब बात से प्रमाणित होता है कि क्रोध जीव का स्वभाव नहीं है, विभाव है—विकृत परिणाम है।

इसी तरह हिंसा करना जीव का स्वभाव नहीं है, विभाव है। इसीलिये कोई भी हिंसक, वह चाहे मनुष्य हो वा पशु, सदा हिंसा नहीं कर सकता। उसे अपने बच्चों, स्त्री, मित्र आदि के मारने के क्रूर परिणाम स्वप्न में भी नहीं होते उनकी रक्षा करने में वह सदा तत्पर रहता है, इसके सिवाय उसके सामने जब कोई दीन जीव आता है और अपने प्राणों की भिक्षा मांगता है तो उसके ऊपर उसको दया भी आजाती है उसकी हिंसा नहीं करता। यदि कोई व्यक्ति अहिंसा भाव से रहना चाहे तो वह जन्म भर रह सकता है, अहिंसा के कारण उसका आत्मा क्षुब्ध नहीं होता। सिंह हिंसक अवश्य होता है परन्तु सदा सबकी हिंसा न करता है, न कर सकता है, उधर हिरण, खरगोश को देखो वे अहिंसक प्राणी हैं, जन्म से लेकर मरण पर्यन्त अहिंसक बने रहते हैं; किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करते, इस अहिंसा के कारण उनमें न कोई विकार आता है, न उन्हें कोई कष्ट होता है। इससे सिद्ध होता है कि हिंसा करना जीव का स्वभाव नहीं है, अहिंसा भाव स्वभाव है।

पहनने ओढ़ने के विषय में विचार किया जावे तो ज्ञात होता है कि पशु पक्षियों की अपेक्षा मनुष्य में बहुत कुछ कृत्रिमता (बनावटीपन) आगया है। विभिन्न देश के रहने वाले स्त्री पुरुषों के विभिन्न वेश हैं, किसी देश के स्त्री पुरुष लम्बे कपड़े पहनते हैं, किसी देश के छोटे पहनते हैं, कोई ढीले कपड़े पहना करते हैं, कोई तंग वस्त्र पहनते हैं, कोई पेड़ों के पत्तों, छालों से शरीर को ढकते हैं, कोई पक्षियों के परों से शरीर आच्छादन करते हैं, कोई चर्म के वस्त्र पहनते हैं, किसी देश में प्रायः ऊनी वस्त्र काम में लिये जाते हैं, कहीं पर ऊनी सूती दोनों तरह के वस्त्र पहने जाते हैं।

अन्य देशों की बात छोड़कर हम भारत के विभिन्न प्रान्तों का पहनावा देखें तो उसमें भी परस्पर बहुत अन्तर है। पंजाब, बंगाल, मद्रास, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र प्रान्त के स्त्री पुरुषों का वेशभूषा विभिन्न प्रकार का है। आसाम के नागा लोग तथा अनेक देशों के मूल निवासी बहुत थोड़ा सा वस्त्र पहन कर प्रायः नग्न रहते हैं। इन सब बातों से यह बात ज्ञात होती है कि मनुष्य के वेशभूषा में बनावटी रूप आगया है।

पशु पक्षी सदा नग्न रहते हैं फिर न उनको शीत ऋतु (शर्दियों) में कफज्वर (निमोनिया) होता है, न वर्षाऋतु के अन्त में मलेरिया होता है और न ग्रीष्म ऋतु में उनको कभी गर्मी से पित्तज्वर होते सुना है। जंगलों में उनके लिये न कहीं अस्पताल खुले हैं, न समशीतोष्ण (एअरकण्डीशनके) भवन बने हुए हैं फिर वे सदा स्वस्थ हृष्ट पुष्ट रहते हैं। अपने लिये सुख साधनों की व्यवस्था करने वाला वस्त्रों से लदा हुआ सभ्यता का पुजारी मनुष्य ही प्रत्येक ऋतु में विभिन्न रोगों से पीड़ित हुआ करता है और प्लेग, हैजा, राजयक्ष्मा, मलेरिया आदि का शिकार होकर अकाल मृत्यु का शिकार होता रहता है।

मनुष्य के वस्त्र पहनने में दो कारण हैं —एक तो यह कि उसने अपनी शारीरिक सहनशक्ति को बिगाड़ लिया है इसी कारण वह पशु पक्षियों के समान अपने प्राकृतिक नग्नवेश में नहीं रह सकता। नग्न रहने पर शर्दी गर्मी लग जाने का उसे भय बना रहता है। दूसरे—मनुष्य के मन में उत्पन्न होने वाली कामवासना उसकी कामेन्द्रिय में विकार खड़ा कर देती है अपनी उस ऐन्द्रियिक निर्बलता को छिपाने के लिये अपने उन अंगों को वस्त्र से ढक कर गुप्त रखना पड़ता है जिससे उसके मानसिक विकार को अन्य व्यक्ति देख न सकें, उसे बाहर सभ्य सदाचारी जानते रहें।

कोई कोई साधुवेशधारी कामविकार को रोकने के विचार से अपनी मूत्र इन्द्रिय रस्सी से कसकर बांध देते हैं, कोई उसके साथ लोहे का टुकड़ा लटका देते हैं इत्यादि क्रिया कामवासना को रोकने के लिये करते हैं। संभवत: उन्हें मालूम नहीं कि कामवासना मन से उत्पन्न होती है, अत: इन्द्रिय के विकार को रोकने के लिये मन में अखण्ड-ब्रह्मचर्य की भावना जाग्रत रहना आवश्यक है। मूत्रेन्द्रिय को बांधना आदि अकार्यकारी हैं।

मनुष्य यदि प्रकृति में रहन सहन का अभ्यासी हो जावे तथा अपने मानसिक काम विकार पर विजय प्राप्त करले, तो फिर उसे कोई भी वस्त्र पहनने की आवश्यकता नहीं है।

भगवान् ऋषभनाथ ने जब घर परिवार से, संसार से, शरीर से तथा विषयभोगों से विरक्त होकर साधुदीक्षा ली। परिग्रह त्याग की पूर्ति के शरीर के सब वस्त्र उतार कर अपना नग्नवेश बनाया, क्योंकि वस्त्र लेने में द्रव्य खर्च करना पड़ता है जिससे फिर माया के चक्कर में आना पड़ता है। दूसरे शारीरिक मोह छोड़ने के लिये शरीर को नग्न रखकर प्राकृतिक शर्दी गर्मी को सहन करने योग्य बनाया। तीसरे अपने मानसिक ब्रह्मचर्य का प्रत्यक्ष प्रमाण संसार को कराने के लिये भी उन्होंने वस्त्र पहनना त्याग दिया। उसी नग्नवेश में तपस्या करके उन्होंने मुक्ति प्राप्त की। उनके उसी नग्नवेश को उनके अनुयायी साधुवर्ग ने परम्परा से अपनाया। पश्चात्वर्ती समस्त तीर्थंकर भी नग्न होकर ही साधु बने और अन्त तक नग्न रहे।

भगवान् महावीर के बाद सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय द्वादशवर्षीय अकाल पड़ने के समय कुछ जैन साधुओं ने भोजनचर्या के समय लंगोट पहनना प्रारम्भ कर दिया था, उसके वे अभ्यासी बन गये, जिससे कि विक्रम संवत् की दूसरी शताब्दी में जैन श्रमण संघ दिगम्बर, श्वेताम्बर रूप में विभक्त हो गया। दिशाओं को ही अपना प्राकृतिक अम्बर (वस्त्र) समझकर पहले की ही तरह नग्न रहकर तपश्चरण करने वाले साधुओं का नाम दिगम्बर प्रख्यात हुआ और श्वेत (सफेद) अम्बर (कपड़े) पहनने वाले श्वेताम्बर कहलाये।

जैनेतर उच्चकोटि के साधुओं ने भी दिगम्बर रूप अपनाया है। उपनिषदों के कथनानुसार परमहंस साधु दिगम्बर ही होते हैं। शुकदेव जी नग्न रहते थे, शम्मस आदि कुछ मुसलमान फकीर भी नग्न रहा करते थे।

श्री अकलंक देव ने स्तुति करते हुए जिनेन्द्र भगवान् को विश्वपूज्य बतलाने में एक हेतु उनके नग्नरूप को बतलाया है, उन्होंने लिखा है—

नो ब्रह्मांकित भूतलं न च हरेः शम्भोर्न मुद्राङ्कितं,

नो चन्द्रार्क करांकितं सुरपते र्वज्रांकितं नैव च ।
षड्वक्त्रांकित बौद्धदेवहुतभुक्यक्षोरगैर्नांकितं,
नग्नं पश्यत वादिनो जगदिदं जैनेन्द्र मुद्रांकितं ॥

अर्थात्—यह जगत् या इस जगत् के प्राणी ब्रह्मा के किसी चिन्ह से अंकित नहीं हैं, विष्णु और शम्भु की मुहर भी किसी पर नहीं लगी है, न चन्द्र सूर्य की किरणें किसी पर लगी हुई हैं, इन्द्र के वज्र का निशान भी किसी पर नही बना हुआ है, षण्मुख कार्तिकेय के चिन्ह से या बुद्ध, अग्नि, यक्ष, नागराज के चिन्ह से अंकित जगत् या जगत् के प्राणी हैं। हे वादी विद्वानो ! देखलो यह समस्त जगत् जिनेन्द्र के भगवान् की मुद्रा से अंकित नग्न दिखाई दे रहा है। प्रत्येक प्राणी भगवान जिनेन्द्र देव की नग्न मुद्रा मे ही उत्पन्न होता है।

आगे इसको स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

मौंजीदण्ड कमण्डलु प्रभृतयो नो लाञ्छनं ब्रह्मणो,
रुद्रस्यापि जटाकपाल मुकुटं कोपीन खट्वांगना ।
विष्णोश्चक्रगदादि शङ्खमतुलं बुद्धस्य रक्तांबरं,
नग्नं पश्यत वादिनो जगदिदं जैनेन्द्र मुद्रांकितम् ॥

यानी—जैन दर्शन के विरुद्ध वाद करने वाले वादी पण्डित जन ! ध्यान देकर देखो कि इस जगत् में किसी भी वस्तु पर या किसी भी जीव पर ब्रह्मा का चिन्ह मौंजी, दण्ड, कमण्डलु आदि कोई भी नहीं पाया जाता। महादेव का भी केशों की जटा, हाथ में लिया कपाल, चन्द्र मुकुट, कोपीन, खाट, स्त्री (पार्वती) आदि का कोई चिन्ह कहीं किसी पर अंकित नहीं दीख पड़ता । विष्णु के शंख, चक्र, गदा आदिक चिन्ह भी किसी पर दिखाई नहीं देता। बुद्ध का लाल वस्त्र भी किसी पर अंकित नहीं है, किन्तु समस्त जगत्, समस्त जगत् के प्राणी जिनेन्द्र भगवान् की नग्न मुद्रा से अंकित पाये जाते हैं।

अपने २ देश प्रदेश प्रान्त का मान्य शासक वही माना जाता है जिसकी मुहर के सिक्के (रुपया पैसा, गिन्नी, नोट आदि) चलते हैं, राजकीय व्यवहार के समस्त पदार्थों (टिकट, स्टाम्प आदि) पर जिसका चिन्ह अंकित होता है। तदनुसार जगत् में ब्रह्मा, विष्णु, महेश. बुद्ध, इन्द्र, यक्ष, आदि किसी भी देवकी मुहर नहीं पाई जाती किन्तु जिनेन्द्र भगवान् नग्न होते हैं, सो उनकी नग्नता की छाप संसार के सभी उत्पन्न होने वाले जीवों पर लगी होती है। अतः विश्व के पूज्य देव श्री जिन्नेद्र देव ही है।

जिनेन्द्र भगवान् की उस नग्न दिगम्बर मुद्रा को दीन हीन भीरु व्यक्ति धारण नहीं कर सकते, इसके लिये महान् मनोबल, अटूट साहस तथा अखण्ड ब्रह्मचर्य की आवश्यकता होती है। यदि इन बातों में कमी हो तो मनुष्य नग्न दिगम्बर मुद्रा धारण नहीं कर सकता। पशु ब्रह्मचर्य की कमी के कारण ही नग्न रहते हुए भगवान् जिनेन्द्र की नग्न दिगम्बर मुद्रा-धारक नहीं कहलाते। कवि ने कहा है—

अन्तर विषय-वासना वर्ते, बाहर लोकलाज भयकारी ।

तातैं परम दिगम्बर-मुद्रा धरि सकैं नहीं दीन संसारी ॥

यानी—सर्व साधारण मनुष्यों का मन काम वासना से भरा हुआ है, बाहर में उन्हें नग्न होने के लिये लोकलज्जा बाधा डालती है। इस कारण वे अपनी निर्बलता के कारण दिगम्बर दीक्षा नहीं ले सकते।

इसके साथ ही मुनियों के अन्य २७ गुणों का भी आचरण होना आवश्यक है। पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रिय दमन, छह आवश्यक तथा दिन में केवल एक बार ही भोजन करना, पानी भी उबाला हुआ उसी समय पीना, पृथ्वी पर, पत्थर या लकड़ी के तख्ते पर सोना, अपने बालों का अपने हाथों से लोंच करना, जीवन भर स्नान न करना इत्यादि कठोर व्रत भी कड़ाई के साथ आचरण किये जाते है। तब ही श्री जिनेन्द्र भगवान् की दिगम्बर मुद्रा का धारण होता है।

प्रवचन नं० १२८

स्थान— श्री दिगम्बर जैन लाल मंदिर, दिल्ली।

तिथि— आश्विन कृष्णा ११ मंगलवार, ११ अक्टूबर १९५५

कल्याण-पथ

अनेक कार्य ऐसे होते हैं जिनका फल तत्काल अच्छा दीखता है, परन्तु परिपाक जिनका अच्छा नहीं दिखाई देता। जैसे कि विशूचिका (हैजा) हो जाने पर रोगी को प्यास अधिक लगती है, अतः प्यास से छट-पटाता हुआ रोगी पीने के लिये पानी मागता है और समझता है कि यदि मुझको पीने के लिये पानी मिल जावे तो मेरे प्राण बच जावेंगे, अन्यथा जल न मिलने पर मेरी मृत्यु अवश्य हो जावेगी। इसीलिये वह उस समय जल पीने के लिये चिल्लाता है यदि कोई अज्ञानी पुरुष उसकी दशा पर तरस खाकर उसको पीने के लिये जल दे देवे तो उस सयय तो पानी पीकर उसको कुछ शान्ति हो जायगी, उसे सुख अनुभव होगा, परन्तु वह पिया हुआ पानी थोड़ी ही देर में रोग में वृद्धि करके प्राण-ग्राहक बन जायगा। इसी कारण जल के अनेक नामों में उसका एक नाम 'विष' भी है। अंग्रेजी ऐलोपैथिक दवाए मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थ मिले होने से, गोमांस, अंडे, मछली आदि के संयोग से तैयार की जाती हैं, अतः वे अभक्ष्य एवं अपेय तो होती ही हैं, किन्तु इसके साथ ही भारत जैसे उष्ण देश के रहने वालों को प्रकृति विरुद्ध होने से भी हानिकारक होती हैं। दूसरे उन दवाओं में यह विशेषता भी होती है कि एक चालू रोग को तो शान्त कर देती हैं, अतः उनके सेवन का तत्काल लाभ दिखाई देता है परन्तु वे अपने दूषित प्रभाव से अन्य किसी रोग को उत्पन्न कर देती हैं।

स्वदेश में विभिन्न वनस्पतियों से उत्पन्न औषधियां यद्यपि खाने पीने में प्रायः स्वादिष्ट नहीं होतीं। सनाय, गिलोय आदि ऐसी कटु औषधि हैं जिनको खाने पीने से मुख का स्वाद जिह्वा लोलुपी मनुष्यों को अरुचिकर प्रतीत होता है अतः वे गिलोय का रस या सनाय का काढ़ा कड़वे स्वाद का होने से पीना नहीं चाहते, परन्तु ये शुद्ध किन्तु कटुक औषधियां ज्वर दूर करने के लिये अमृत-समान लाभदायक हैं इसके

साथ ही शरीर में वे अन्य रोग भी उत्पन्न नहीं होने देतीं। परन्तु उनके परिणाम को (लाभ को) प्राप्त करने के लिये २-४ दिन की प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

इसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय से संसार का मोही जीव अन्य पदार्थों के संयोग से सुख शान्ति पाने की अभिलाषा करता है, पुरुष स्त्रियों के प्रसंग से और स्त्रियां पुरुषों के प्रसंग से सुख का अनुभव करती हैं, उनकी तत्काल इन्द्रिय वासना कुछ समय के लिये शान्त हो जाने से उन्हें सुख प्रतीत होता होगा किन्तु एक तो उससे दोनों की मूल शारीरिक शक्ति का ह्रास होता है, दूसरे वह भोग तृष्णा और भी अधिक प्रबल हो जाती है, अतः सुख की अपेक्षा दुःख अधिक मिलता हैं।

स्पर्शन-इन्द्रिय के समान ही अन्य इन्द्रियों के विषयभोगों से प्राप्त होने वाले सुख भी ऐसे ही है, उन इन्द्रियों की लालसा कुछ देर के लिये तृप्त होती है, उसके बाद फिर वही लालसा जाग्रत हो उठती है। भूख लगने पर भोजन किया, कुछ देर शान्ति रही, थोड़ी देर बाद मलमूत्र कर लेने पर फिर भूख ने आ दबाया। यदि मात्रा से कुछ अधिक खा लिया तो अजीर्ण हो जाने से दुःख होता है। यदि भूख कम लगे तो वैद्य से औषधि लेने की आवश्यकता समझी जाती है, मंदिर जी में भूख मिटाने के लिये (क्षुधारोग-विनाशनाय) प्रार्थना करते हैं, घर आकर भूख बढ़ाने के यत्न किये जाते हैं। जिस तरह हाथी तालाब में जाकर पहले खूब स्नान करता है। स्नान करने से उसके शरीर का मैल छूट जाता है, परन्तु तालाब से बाहर निकलते ही फिर अपनी सूंड से धूल मिट्टी उठाकर अपने ऊपर डाल लेता है और स्वयं अपना शरीर मैला कर लेता है। इसी तरह विषयी जीव अपनी इन्द्रियों की विषयकामना तृप्त करता है, तदनन्तर फिर विषयकामना को भड़काता है, और जब उसे इष्ट विषय नहीं मिलता तब व्याकुल होता है।

इस तरह संसार जिसको सुख समझता है वह सुख इन्द्रियों की खुजली कुछ देर मिट जाने का नाम है, उस इन्द्रिय सुख से शान्ति नहीं होती, अशान्ति या व्याकुलता बढ़ती रहती है। क्योंकि वह सुख अन्य पदार्थों के समागम से होता है अतः विषय भोगों की पराधीनता उसके साथ बन्धी हुई है। पराधीनता स्वप्न में भी सुखदायक नहीं है। यदि संसारी जीव विषयभोगों की आधीनता त्याग कर अपने आत्मसुख का अनुभव करें तो उन्हें वह अनुपम आल्हाद-सुख मिले जिसमें न आकुलता है, न चिन्ता है, न लालसा है, न अशान्ति है, न पराधीनता।

किन्तु वह आत्मिक सुख अन्य पदार्थों की ममता का त्याग करने से प्राप्त होता है, जब तक सांसारिक पदार्थों का ग्रहण होता है तब तक आत्मा की प्रवृत्ति बहिर्मुख होती है आत्मा से भिन्न पदार्थों में उपयोग रहा आता है। जब अन्य पदार्थों का त्याग करके मन आत्मा की ओर उन्मुख होता है तब आत्मा का वह सुख प्राप्त होता है। इसी कारण सर्व परिग्रह त्यागी मुनियो को नग्न दिगम्बर देखकर संसार की मोही जनता दुःखी समझती है परन्तु मुनि सर्व परिग्रह के त्याग द्वारा जो शान्ति सुख अनुभव करते हैं उस सुख में लीन होकर उन्हें सांसारिक पदार्थों के ग्रहण की प्रवृत्ति या इच्छा भी नहीं होती।

अनुभवी ऋषि ने लिखा है—

न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः।
यत्सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तवासिनः॥

अर्थात्—एकान्त स्थान में रहने वाले वीतराग मुनि को जो सुख होता है वैसा सुख न तो इन्द्र को होता है और न चक्रवर्ती को होता है।

उस समय जब कि भारत में मुसलमानी शासन था, अलीगढ़ के टप्पल के राजपूत सरदार का राज्य था। वहां पर फीरोजाबाद के निकटवर्ती एक गांव के रहने वाले पद्मावतीपुरवाल जातीय एक सज्जन भी रहते थे उनका नाम था ब्रह्मगुलाल। ब्रह्मगुलाल का एक मित्र मथुरालाल था। टप्पल का राजपुत्र भी ब्रह्मगुलाल का मित्र था।

ब्रह्मगुलाल अनेक प्रकार के स्वांग बनाने में बहुत निपुण थे। अनेक प्रकार के रूप बनाकर ब्रह्मगुलाल तथा मथुरालाल अपना तथा अन्य लोगों का मनोरंजन किया करते थे। राजदरबार में भी उनका अच्छा सन्मान था।

एक दिन टप्पल के राजा ने ब्रह्मगुलाल से कहा कि भाई! सिंह का रूप बनाकर दिखलाओ। ब्रह्मगुलाल ने कहा कि सिंह का रूप बनाने के लिये एक तो कुछ समय मिलना चाहिये तथा एक खून (एक मनुष्य की हत्या) मुआफ होना चाहिये क्योंकि सिंह का रूप दिखाते हुए किसी का खून (हिंसा) हो सकता है। राजा ने ब्रह्मगुलाल की दोनों बातें स्वीकार कर लीं।

ब्रह्मगुलाल ने थोड़े ही दिन में सिंह के रूप बनाने का अच्छा अभ्यास कर लिया। तब वह एक दिन सिंह का रूप बना कर राज सभा में दहाड़ता हुआ आया। सिंह का हूबहू रूप बनाया था, चालढाल भी बिलकुल सिंह की-सी थी, दहाड़ना भी सिंह के अनुरूप था।

राजा के लड़के ने सभा में एक बकरा बांध दिया और आप एक ऊंचे आसन पर बैठ गया। सिंह राजसभा में आकर खड़ा हो गया और पूंछ उठाकर चारों ओर देखने लगा। राजा के लड़के ने कहा तू सिंह है या गीदड़? अपने सामने खड़े हुए बकरे को भी नहीं मार सकता। तेरी माता को धिक्कार है।

पिछला वाक्य सुनकर सिंह को क्रोध आ गया और उसने उछल कर राजा के लड़के को इतने जोर की थाप मारी कि वह प्राण-रहित हो गया। कुछ देर ठहर कर सिंह रूप धारी ब्रह्मगुलाल सभा से चले गये। राजपुत्र के मर जाने का राजा को बहुत दुःख हुआ परन्तु ब्रह्मगुलाल को एक खून के मुआफ (क्षमा) कर देने को वचन दे चुका था, अतः रो धो कर चुप रह गया। राजपुत्र के मर जाने का ब्रह्मगुलाल को भी बहुत दुःख हुआ और ब्रह्मगुलाल ने अब स्वांग बनाना और राजसभा में आना छोड़ दिया।

एक दिन राजा ने ब्रह्मगुलाल को राजसभा में बुलवाया और कहा कि तुम एक वार अपने गुरु का रूप (नग्न दिगम्बर) बनाकर दिखलाओ। ब्रह्मगुलाल ने कहा कि राजन्! मैंने अब रूप बनाना छोड़ दिया है। राजा ने कहा कि यह रूप तो तुमको अवश्य बनाना पड़ेगा, अन्यथा तुम्हें दण्ड मिलेगा। राजा की हठ देखकर ब्रह्मगुलाल ने दिगम्बर मुनि का रूप बनाना भी स्वीकार कर लिया। वह दूसरे ही दिन समस्त वस्त्राभूषण उतार कर बिलकुल नग्न हो गये और अपनी बगल में मोर की पीछी दबाकर दूसरे हाथ में कमण्डलु लेकर ईर्यासमिति से चलते हुए राजसभा मे आये।

राजा ने साधु वेषधारी ब्रह्मगुलाल को अपने आसन से उतर कर नमस्कार किया, ब्रह्मगुलाल ने उसको धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दिया। राजा ने ब्रह्मगुलाल को ऊंचे आसन पर बिठाया और कुछ उपदेश देने को कहा।

ब्रह्मगुलाल ने राजा को तथा राजसभा में बैठे हुए समस्त लोगों को संसार की, शरीर तथा विषय-भोगों की निःसारता बतलाकर धर्म-आचरण करने का मनोहर उपदेश दिया, जिसे सुनकर सभा चकित रह गई।

अन्त में राजा ने ब्रह्मगुलाल से कहा कि भाई! यह रूप बनाकर तो तुमने कमाल कर दिया, अब तुम अपनी ही इच्छा से कोई इससे भी अच्छा रूप बनाकर दिखाओ। ब्रह्मगुलाल ने उत्तर दिया कि बस, राजन्! इस स्वांग को बनाकर बिगाड़ा नहीं जाता है, यह स्वांग (नग्न दिगम्बर रूप) ऐसा गहरा है कि अब इस पर और कोई रंग नहीं चढ़ सकता। परिग्रह त्याग करके जब मैंने मुनि-मुद्रा धारण कर ली, तब फिर वस्त्र पहन कर गृहस्थ नहीं बन सकता।

इतना कह कर ब्रह्मगुलाल अपने आसन से उठे और राजा को धर्म वृद्धि देते हुए नगर से बाहर की ओर चल पड़े। उनका मित्र मथुरालाल उनके पीछे दौड़ा कि मित्र! हंसी खेल में ही यह क्या कर रहे हो, घर चलो, हमको छोड़कर कहां जा रहे हो?

ब्रह्मगुलाल ने उत्तर दिया कि दिगम्बर रूप धारण करना हंसी मजाक नहीं है, यह तो असली रूप है, नकली नहीं है, जब सब कुछ त्याग दिया तब घर चलने की बात ही कहां रही, अब तो मेरा घर वन पर्वत है, मैं अपने कल्याण मार्ग पर जा रहा हूँ। यदि तू ने भी आत्म-कल्याण करना है तो मेरे साथ चल।

सब देखते रह गये, ब्रह्मगुलाल सच्चे दिगम्बर मुनि बनकर वन की ओर चले गये, फिर वहां से लौट कर नहीं आये।

किसी कवि ने कहा है—

परिग्रह मन व्याकुल करे, व्याकुलता दुख ठौर।
जो परिग्रह में सुख लखें, ते मूरख शिर मौर॥

यानी—संसार का परिग्रह मन में व्याकुलता उत्पन्न करता है, व्याकुलता दुःख का स्थान है। जो मनुष्य परिग्रह मे सुख समझते हैं वे मूर्ख शिरोमणि हैं।

राग उदय भोगभाव लागत सुहावने से, बिना राग ऐसे लागें जैसे नाग कारे हैं,
राग ही सों पाग रहे तन में सदीव जीव, राग गये आवत गिलानि होत न्यारे हैं।
राग सों जगत रीति झूठी सब सांच जाने राग मिटे सूझत असार खेल सारे हैं,
रागी बिन रागी के विचार में बड़ो ही भेद जैसे भटा पथ्य काहु काहु को बयारे हैं॥

यानी—राग के उदय से संसार के विषयभोग रुचिकर लगते हैं, वैराग्य हो जाने पर वे ही विषयभोग काले सर्प के समान भयानक दीखते हैं। राग के कारण यह जीव शरीर में तन्मय हो जाता

है, जब रागभाव हट जाता है तो इस शरीर से घृणा हो जाती है, फिर शरीर का साथ छोड़ने के लिये आत्मा तैयार हो जाता है। राग के कारण ही संसार की झूठी क्रियाएं सत्य दिखाई देती हैं, रागभाव दूर होते ही संसार के सारे धन्धे व्यर्थ दिखाई देते हैं। इस तरह रागी और विरागी के विचार में महान अंतर है। जैसे कि बैंगन किसी मनुष्य को लाभदायक है और किसी मनुष्य को वही बैंगन हानि करता है, वायु उत्पन्न करता है।

प्रवचन नं० १२६

स्थान—
श्री दिगम्बर जैन मंदिर कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि—
आश्विन कृष्णा १२ बुधवार, १२ अक्तूबर १९५५

वेदनीय कर्म

जगत् के समस्त जीव द्रव्य दृष्टि से एक समान हैं उनमें परस्पर रंचमात्र भी भेद नहीं है, सबमें एक सरीखे गुण, शक्तियां विद्यमान हैं। जैसे तालाब में भरे हुए जल की प्रत्येक बूंद एक सरीखी है, लोकाकाश मे विद्यमान असंख्यात कालाणु एक समान होते हैं। शुद्ध अवस्था में प्रत्येक आत्मा में जो अपने गुणों का पूर्ण विकास होता है वह समस्त मुक्त जीवों में सर्वथा समान है, अनन्तों मुक्त जीवों में से प्रत्येक मुक्त जीव केवल ज्ञानी है, अनन्त सुख-सम्पन्न, अनन्त शक्तिमान है। द्रव्य की अपेक्षा अनन्त संसारी जीवों में भी अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त बल मुक्त जीवों की ही तरह मौजूद है अन्तर केवल इतना है जो गुण मुक्त जीवों में व्यक्त हैं, वे ही गुण संसारी जीवों में अव्यक्त हैं। जब संसारी जीव अपने गुणों को पूर्ण व्यक्त कर लेता है तो वह भी सिद्ध, मुक्त हो जाता है।

इसी बात को क्षुल्लक मनोहरलाल वर्णी ने अपनी कविता में कहा है—

मैं वह हूं जो हैं भगवान्, जो मैं हूं वह हैं भगवान्।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान ॥१॥
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आश-वश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अज्ञान ॥२॥

यानी—आध्यात्मिक पुरुष अपने आत्म स्वरूप का चिन्तवन करके कहता है कि 'जो मैं हूं, भगवान् भी तो वे ही आत्मा हैं अथवा जो भगवान् हैं, वैसा ही मैं भी हूँ। मुझमें और भगवान् में आत्मा की दृष्टि से अन्तरंग भेद कुछ नहीं है, केवल यही एक ऊपरी अन्तर है कि भगवान् की विराग परिणति है और मैं राग भाव की कीचड़ में सना हुआ हूँ। मेरा स्वरूप सिद्ध परमात्मा के समान है, मैं अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त बल का भण्डार हूं। परन्तु सांसारिक विषयों की आशा-लालसा के कारण मेरी निर्मल ज्ञान शक्ति प्रच्छन्न हो गई है जिससे कि मैं अज्ञानी और दीन हीन भिखारी बन गया हूँ।

इस तरह द्रव्य की अपेक्षा अनन्तानन्त संसारी जीव परस्पर एक समान हैं परन्तु अपने अपने कर्म-बन्धन के कारण उनमें महान् भेद है, कोई जीव मनपर्यय ज्ञानी है, कोई अवधि ज्ञानी है, किसी मे मतिज्ञान श्रुतज्ञान ही है, अनन्तों जीवों में श्रुतज्ञान का क्षयोपशम तो है परन्तु उनमें मन न होने के कारण श्रुतज्ञान का उपयोग नहीं होता है। इसके सिवाय सभी मनपर्यय ज्ञानी एक समान नहीं हैं, न समस्त अवधिज्ञानी एक समान जानते हैं। मतिज्ञान श्रुतज्ञान के विषय में भी यही बात है। जिस जीव के जितना ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है उसमें ज्ञानगुण का विकास उतना ही होता है।

ज्ञान गुण की तरह दर्शन, सुख, बल गुण की अपेक्षा भी समस्त संसारी जीवों में परस्पर अन्तर पाया जाता है। दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय कर्मों का उदय जिस जीव के जितना अधिक होता है उस जीव का दर्शन, सुख, बल उतना ही कम होता है और जिस जीव के जितना उन कर्मों का क्षयोपशम जितना अधिक होता है उतना ही अधिक विकास उस जीव में उन गुणों का पाया जाता है।

इसी कारण एक कवि ने कहा है—

केऽपि सहस्रम्भरयो लक्षम्भरणश्च केऽपि नराः।
नात्मम्भरयः केचित् फल मेतत् सुकृत दुष्कृतयः ॥

यानी—कोई मनुष्य ऐसे हैं जो हजारों जीवों का पालन पोषण करते हैं, कोई भाग्यशाली ऐसे भी हैं जो लाखों जीवों का पेट भरते हैं। और कोई अभागे ऐसे भी हैं जो बेचारे अपना पेट भी नहीं भर सकते। यह पुण्य पाप कर्मों के फल की लीला है।

आठ कर्मों में तीसरे कर्म का नाम वेदनीय है। जिसके उदय से संसारी जीव इन्द्रिय जनित सुख का तथा शारीरिक, मानसिक, वाचनिक दुःख का वेदन करता है। वेदनीय कर्म के दो भेद हैं जिसके उदय से ससारी जीव सुख रूप अनुभव करता है वह साता वेदनीय कर्म है और जो दुःख रूप अनुभव करता है वह असाता वेदनीय कर्म है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में लिखा है—

अक्खाणं अणुभवणं वेयणियं सुहसरूवयंसादं।
दुक्खसरूवयसादं तं वेदयदीदि वेदणियं ॥१४॥

यानी—स्पर्शन आदि इन्द्रियों का अपने स्पर्श आदि विषयों का अनुभव करना वेदनीय कर्म है। जो इन्द्रियों द्वारा सुख स्वरूप अनुभव कराता है वह साता वेदनीय है और जो दुःख रूप अनुभव कराता है वह असाता वेदनीय है।

सुख आत्मा का अनुजीवी गुण है उसको अघाति वेदनीय कर्म किस तरह घातता है? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती इसी कर्मकाण्ड गोम्मटसार में कहते हैं—

घादिं व वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं।

इंदियादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पढिदंतु ॥१९॥

अर्थात्—घाति कर्म की तरह ही वेदनीय कर्म भी मोहनीय कर्म की सहायता से जीव के सुख गुण का घात करता है, इस कारण वेदनीय कर्म को पहले तीन घाति कर्मों के बीच में मोहनीय कर्म से पहले रक्खा गया है।

यानी–इन्द्रियों के विषयों को जीव जो सुख रूप या दुःख रूप अनुभव करता है वह तो वेदनीय कर्म का काम है इस कारण वह भी घाति कर्मों को तरह जीव के सुख गुण का घात करता है, परन्तु यह कार्य वह स्वयं केवल अपनी शक्ति से नहीं करता, मोहनीय कर्म की सहायता से ही करता है। जिस इन्द्रिय विषय में जीव का राग रूप परिणाम होता है वेदनीय कर्म उसको सुख रूप अनुभव कराता है और जिस इन्द्रिय विषयमें जीव का अरति(द्वेष)रूप परिणाम होता है उसे असाता वेदनीय कर्म दुःख रूप अनुभव कराता है।

नीम के पत्तों को खाने में मनुष्य के अरति रूप परिणाम होते हैं अतः नीम के पत्तों का लाचारी से खाना मनुष्य को दुःख रूप अनुभव होता है। और उन ही नीम के पत्तों के खाने में ऊंट, बकरी आदि जीवों के राग रूप परिणाम होते हैं इस कारण कडवे नीम के पत्ते खाने में ऊंट, बकरी आदि को सुख अनुभव होता है। सारांश यह है कि वेदनीय कर्म सुख दुःख का अनुभव मोहनीय कर्म की सहायता से ही करता है। इसी कारण जब मोहनीय कर्म नष्ट हो जाता है तब असाता वेदनीय कर्म दुःख रूप अनुभव नहीं करा सकता।

इसी लिये अर्हन्त भगवान् को असाता वेदनीय कर्म के कारण ११ परिषहें बतलाई गई हैं परन्तु मोहनीय कर्म न रहने से उनको दुःख का अनुभव नहीं होता क्योंकि उनके अनन्त सुख प्रकट हो चुका है।

जिस तरह किसी तलवार के ऊपर खांड की चाशनी गिर पड़ी, एक मीठे रस का लोलुपी तलवार की उस चासनी को चाटने लगा, चासनी चाटने से उसकी जीभ मीठा स्वाद लेने लगी, उसे सुख प्रतीत हुआ थोड़ी देर में जब तलवार की धार पर जीभ चासनी चाटने लगी तब उसकी तलवार की धार से जीभ कट गई, उस जीभ कट जाने से उसे दुःख हुआ। इसी तरह साता वेदनीय के उदय से सुख और असाता वेदनीय के उदय से दु.ख होता है।

प्रति समय जो सात कर्मों का बन्ध होने के लिये जो समयप्रबद्ध आता है उसमें सबसे अधिक द्रव्य वेदनीय कर्म को प्राप्त होता है क्योंकि वेदनीय कर्म की प्रतिसमय निर्जरा अन्य कर्मों की अपेक्षा अधिक हुआ करती है। श्री नेमिचन्द्र आचार्य ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे लिखा है—

सुहदुक्खणि मित्तादो बहुणिज्जरगोत्ति वेदणीयस्स।
सव्वेहिंतो बहुगं दव्वं होदित्ति णिद्दिट्ठं ॥१९३॥

यानी—सुख दुःख के निमित्त से वेदनीय कर्म की बहुत निर्जरा हुआ करती है इस कारण वेदनीय कर्म को अन्य कर्मों से अधिक कार्माण प्रदेश प्राप्त होते हैं।

जीव अपने आपको या दूसरे अथवा अपने आपके लिये तथा दूसरों के लिये दुःख दायक सामग्री

जुटाता है। तब जीव के दुःखदायक असाता वेदनीय कर्म का बन्ध हुआ करता है। जीव जब सबको सुखदायक सामग्री जुटाता है तब उसके सुख दाता साता वेदनीय कर्म का आस्रव होता है। इनका विशेष विवरण श्री उमास्वामी आचार्य ने यों किया है—

दुःख शोक तापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ।

अर्थात्—दुःख करना, शोक करना, सन्ताप करना, रोना, मारना, करुणाजनक रोना, ये क्लेश रूप कार्य स्वयं करना या दूसरों को कराना अथवा स्वयं भी करना और दूसरों को भी कराना इनसे असाता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

इसके सिवाय किसी दुःख में तड़फड़ाता देखकर प्रसन्न होना, दूसरे को सुखी देखकर ईर्ष्या करना, जलना, मन में दूसरों के लिये दुर्भावना करना, दूसरों को दुःख उत्पन्न करने वाले वचन कहना, मन में सदा दुःख चिन्तवन करना, आर्तध्यान करना, रौद्रध्यान रखना, सदा क्रोधी बने रहना, अन्य का अपमान करना, शिकार खेलना, जानवरों को परस्पर लड़ाना, कलह करना, किसी की शान्ति भङ्ग करना, अशान्ति उत्पन्न करना, आग लगा देना, पानी में विष मिला देना, गर्भपात कराना, दूसरों को भयभीत करना, रोने रुलाने वाली कथाएं करना, दुःख उत्पन्न कराने के प्रयोग दूसरों को सिखाना, विष, जाल, पिंजड़ा, हथियार आदि बनाना तथा बेचना। इन कामों से असाता वेदनीय कर्म बन्धता है।

साता वेदनीय कर्म के बन्ध कारणों का निर्देश करते हुए सूत्रकार ने लिखा है—

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ।

अर्थात्—जीवों पर दया करना, मुनि आदि व्रती पुरुषों को दान देना, राग सहित संयम पालन करना (प्रमत्त संयम), क्षमा करना, लोभ न करना, इनसे साता वेदनीय कर्म बन्धता है।

इसके सिवाय हृदय में सदा दयाभाव रखना, सबका भला विचारना, सबके साथ सुखदायक मीठे वचन बोलना, दूसरों को सुखी देखकर प्रसन्न होना, दूसरों का दुःख दूर करने की चेष्टा करना, शान्त रहना, धर्म ध्यान के परिणाम रखना, प्रसन्न चित्त रहना, आनन्द-उत्पादक कथाएं कहना, दूसरों का झगड़ा विवाद मिटाना, सबसे मित्रता करना, दूसरों का भय दूर करना, चिन्ता व्याकुलता न स्वयं करना, न दूसरों को कराना, नम्रचित्त रहना, दुखियों का दुःख दूर करने की चेष्टा करना। इत्यादि कार्य साता वेदनीय कर्म का बन्ध कराते हैं।

असाता वेदनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर की है, इसका बंध मिथ्यादृष्टि जीव करता है। साता वेदनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति १५ कोड़ाकोड़ी सागर की है और जघन्य स्थिति ८ मुहूर्त की है।

साता वेदनीय कर्म के उदय से मिलने वाला वास्तविक सुख नहीं होता, यह तो सुखाभास होता है। वास्तविक सुख तो मोहनीय कर्म के नाश होने से प्रगट होता है जो आत्मा से ही उत्पन्न होता है, जिस में लेशमात्र भी दुःख, चिन्ता, व्याकुलता नहीं होती और न कभी वह नष्ट होता है या कम होता है

सदा एक-सा बना रहता है। उसी आध्यात्मिक सुख के प्राप्त करने का उद्देश्य अपने सामने रखकर तप, त्याग संयम करना आवश्यक है।

दुःख कम करने तथा दुःख से छूटने का सरल उपाय यह है कि दुःख आ जाने पर अधीर न बने, धैर्य और साहस से काम ले, अपने से नीची परिस्थिति (अधिक दुःखी) वाले जीवों की ओर देखकर सन्तोष करे कि उनसे तो मैं बहुत अच्छा हूं। दुःख के समय सदा अपने मन में णमोकार मन्त्र का जाप करते रहना चाहिये। अपने मन को दूसरी बातों में उलझा देना चाहिये, अच्छी पुस्तकों का स्वाध्याय करना चाहिये। भगवान् की पूजा, भक्ति, दान, परोपकार में और अधिक प्रवृत्ति करनी लाभदायक है।

यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि जिस तरह डरने से डर अधिक लगता है इसी तरह दुःख करने से दुःख अधिक कष्ट देता है। साहसी वीर बनकर हंसते हुए दुःख को शान्ति से सहन करना चाहिये, ऐसा करने से दुःख स्वयं घट जाता है, स्वस्थ परिणाम ही सुख की भूमिका हैं।

प्रवचन नं० १३०

स्थान— तिथि—

श्री दिगम्बर जैन, अनाथाश्रम दरयागंज, दिल्ली। आश्विन कृष्णा १३ वृहस्पतवार, १३ अक्टूबर १९५५

दिवङ्गत आचार्य शान्तिसागर जी

हम जिन महान् जल से भरे हुए समुद्रों को प्रति समय उतने ही जल से भरा हुआ देखते हैं उनमें एक इञ्च भी कम पानी कभी दिखाई नहीं देता, बड़े बड़े सरोवर सूख जाते हैं, गर्मियों में अनेक नदी नाले सूख जाते हैं, यमुना नदी में ग्रीष्म ऋतु में जब पानी घट जाता है तब दिल्ली में रह कर नल का पानी पीने वाले लोगों को यमुना में पानी कम हो जाने से पीने, स्नान करने का जल थोड़ा मिलने लगता है, अधिक पानी खर्च करने पर सरकार नियन्त्रण लगा देती है। (स्वच्छ कुएं के जल का व्यवहार करने वालों पर कभी नियन्त्रण नहीं लगता) परन्तु समुद्र के जल में प्रति समय प्रत्येक ऋतु में आने वाले अनेक जल यानों [जहाजों] पर किसी भी देश की सरकार ने समुद्र में पानी की कमी अनुभव करके कभी ऐसा नियन्त्रण नहीं लगाया, हालां कि नदी तालाबों की तरह समुद्र के जलकणों को भी सूर्य का प्रखर ताप सदा जला जला कर भाप बनाकर उड़ाता रहता है, आकाश में बनने वाले बादलों का बहुत कुछ भाग तो समुद्री जल की भाप से बने हुए बादलों का है। वर्षाती वायु [मानसून] भी सदा समुद्र की ओर से ही चला करती है। समुद्र में कभी भी पानी की कमी न होने का कारण कवल एक ही है और वह है हजारों नदियों का जल प्रति समय समुद्र मे पहुँचते रहना। यदि नदियां अपना जल देकर समुद्र का पेट न भरती रहें तो दिखाई देने वाले समुद्रों में भी पानी की कमी आ जावे और विभिन्न देशों की सरकारों को अपने अपने जहाज समुद्र मे चलाने के लिये नियन्त्रण लगाने की योजना बनानी पड़े।

ठीक, इसी तरह करोड़ों वर्ष पहले भगवान् ऋषभनाथ ने अपने कठोर तपश्चरण द्वारा प्रथम ही अपने आत्मा को सौटची सुवर्ण की तरह शुद्ध करके जिस विश्व कल्याणकारी जैनधर्म का उपदेश

जनता को दिया था वह जैनधर्म भी आज उपलब्ध होना कठिन था, यदि उत्तरोत्तर समय समय पर भगवान् अजितनाथ आदि तीर्थंकर उसका पुनः पुनः महान् प्रचार न करते रहते। गत ढाई हजार वर्ष का समय महान् क्रान्तिकारी व्यतीत हुआ है समस्त देशों में महान् राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिवर्तन हुए है। इस धर्म के क्षेत्र भारतवर्ष में भगवान् महावीर के निर्वाण के अनन्तर अनेक उल्लेखनीय उथल पुथल हुए हैं, अनेक शासकों के शासन चले, अनेकों के नष्ट हुए। दिल्ली तो अनेक बार शासनीय परिवर्तनों के कारण बनती बिगड़ती रही है। अनेक धर्म भारत में उत्पन्न हुए और नष्ट भी ऐसे हुए कि उनका चिन्ह ग्रन्थों में उल्लेखों के सिवाय और कुछ नहीं मिलता। बौद्धधर्म कभी भारत में वायु की तरह फैल गया था किन्तु उसके विरोधियों ने उसे यहां से उखाड़ दिया। इस्लाम, पारसी, ईसाई धर्म भारत से बाहर के देशों से आकर भारत में फैल गए। ऐसे उल्लेखनीय महान तूफानी परिवर्तनों मे जैनधर्म की ज्योति जगी रही, इस भोग प्रधान कलियुग में जैनधर्म के अनुयायियों की संख्या तो अवश्य कम हो गई परन्तु जैनधर्म की सत्ता बौद्धधर्म की तरह भारत से उच्छिन्न नहीं हुई, उसका मुख्य कारण जैनधर्म तथ्य तत्वों के सिवाय भगवान् महावीर की शिष्य परम्परा द्वारा अपने अपने समय में जैनधर्म का प्रचार करते रहना है। जिस तरह समुद्र की जल राशि नवीन नवीन नदियों के जल प्रवाह से बनी रही है इसी तरह जैनधर्म के प्रचारकों द्वारा समय समय पर जैनधर्म का प्रचार होता रहा है जिससे कि पीढ़ी दर पीढ़ी की जैन जनता अपने पुनीत धर्म-आराधन में संलग्न रही आई और भगवान् ऋषभनाथ का संचालित तथा श्री वीर प्रभु का प्रचारित जैनधर्म आज भी जगमगा रहा है।

भगवान् महावीर की शिष्य परम्परा में श्री भद्रबाहु, धरसेन, कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, अकलंक देव आदि महान् विद्वान् प्रभावशाली आचार्य अनेक प्रकार से अपने अपने समय में जैन शासन की प्रभावना तथा प्रचार करते रहे हैं। आज आप जिन दिवङ्गत दिगम्बराचार्य शान्ति सागर जी को श्रद्धांजलि अर्पण करने के लिये यहां पर एकत्र हुए हैं, उन श्री शान्तिसागर महाराज ने भी आधुनिक युग में भगवान् महावीर के धर्म को प्रचारित तथा प्रसारित करने में जैन संस्कृति की सुरक्षा में अच्छा अभिनन्दनीय कार्य किया है, वे यहां दिल्ली में भी लगभग २४ वर्ष पहले वि० सं० १९८८ में चातुर्मास योग कर गये हैं, अतः आप में अनेक बड़े बूढे स्त्री, पुरुष उनसे सुपरिचित हैं। श्री दिगम्बर जन लाल मन्दिर के बाहरी अहाते में पूर्व दक्षिण के कोने पर एक संगमर्मर की छोटी सी गुमटी उसी चातुर्मास के स्मरण में बनी हुई है उस पर उनका तथा उनके संघवर्ती साधुओं का सक्षिप्त जीवन परिचय शीशाक्षरों में अंकित है। उनके द्वारा जो सिद्धक्षेत्र कुन्थलगिरि पर यम सल्लेखना की गई थी उसका समाचार पाकर हमारे हृदय में भी यह भावना उदित हुई थी कि आचार्य महाराज के निकट पहुँच कर उनके उस पवित्र कार्य में यथायोग्य सहयोग दिया जावे। किन्तु लगभग डेढ़ हजार मील दूर क्षेत्र होने से तथा चातुर्मास के कारण भावना फलित न हो सकी। आचार्य श्री ने एकान्त प्रान्त में प्रारम्भ की हुई सल्लेखना को आदर्श ढंग से सम्पन्न किया और दशलक्षण पर्व के पहले स्वर्गारोहण किया।

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
स जातो येन जातेन याति जाति समुन्नतिम्॥

इस परिवर्तन शील संसार में जन्म-मरण की परम्परा चल रही है, प्रत्येक प्राणी मर कर नियम

से दूसरा जन्म लेता है। किन्तु जन्म लेना उसी का सफल एवं गणनीय तथा उल्लेखनीय है जिसके कारण जाति, वंश, धर्म प्रगति करता है, उनकी उन्नति हुआ करती है।

आचार्य शान्तिसागर जी वैसे ही गणनीय महान् पुरुषों में थे, उनकी अतुलनीय सेवाओं से प्रभावित होकर हजारों व्यक्तियों के सम्मेलन ने विभिन्न अवसरों पर उनको चारित्र चक्रवर्ती, योगीन्द्र चूड़ामणि आदि अनेक सम्माननीय पदों से सम्मानित किया था।

श्री मानतुङ्ग आचार्य ने भगवान् आदिनाथ की स्तुति करते हुए लिखा है—

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मि,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम्॥

यानी—सैंकड़ों मातायें सैंकड़ों पुत्र उत्पन्न करती हैं परन्तु हे भगवन्! आप सरीखा सुपुत्र आपकी माता के समान और कोई उत्पन्न नहीं किया करती। जिस तरह सूर्य को उत्तर, दक्षिण, पश्चिम दिशायें भी धारण करती हैं परन्तु उसका उदय तो केवल पूर्व दिशा से ही हुआ करता है।

इसी प्रकार आचार्य शान्तिसागर जी महाराज जैसे सुपुत्र को सत्यवती जैसी ही माता उत्पन्न कर सकती है। माता पिता के शुभ संस्कारों के कारण ही लोक-नेता, प्रभावशाली सच्चरित्र व्यक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। एक कवि ने कहा है—

जननी जने तो भक्त जनि, कै दाता कै सूर।
नांतर तिरिया बांझ रह, क्यों खोवत है नूर॥

यानी—हे माता! अगर तू पुत्र उत्पन्न करना चाहती है तो तू या तो धर्मात्मा पुत्र पैदा कर, या दानवीर पुत्र को जन्म दे अथवा तू शूरवीर को उत्पन्न कर। यदि ऐसे पुत्र उत्पन्न नहीं कर सकती तो तेरा बन्ध्या (बांझ) रहना अच्छा है जिससे तेरे शरीर का सौन्दर्य तो बिगड़ने न पावे।

हां तो, कोल्हापुर के निकट भोज ग्राम में श्री भीमगौड़ा पाटील की धर्मपत्नी श्री सत्यवती की कुक्षि से सं० १९२९ में आषाढ़ बदी ६ को आचार्य श्री का जन्म हुआ। आपका जन्म नाम सातगौड़ा था। बचपन से आपको धार्मिक कार्यों से रुचि थी। ९ वर्ष की आयु में ही आपका विवाह हो गया परन्तु ६ मास बाद ही उस ६-७ वर्ष की पत्नी का अपने पिता के यहां शरीरांत हो गया। तदनन्तर युवावस्था आने पर भी आपने विवाह नहीं किया। अतः एक प्रकार से आप बालब्रह्मचारी ही रहे। अच्छे पौष्टिक, सात्विक भोजन तथा ब्रह्मचर्य के कारण आपका शरीर अच्छा शक्तिशाली था। एक बार आपने पानी से भरा हुआ चरस भी कुए से खींचा था।

खेती में अधिक आरम्भ होता है अतः अपने पैतृक कारबार (खेतीबाड़ी) में सातगौड़ा का मन

नहीं लगा, अतः कपड़े का व्यापार करते रहे, परन्तु आपका सांसारिक व्यापार में चित्त नहीं लगता था आप दुकान बन्द करके एक अध्यात्म प्रेमी रुद्रप्पा के साथ आत्मचर्या करने एकान्त में गांव से बाहर चले जाते थे। आपने अपने पिता जी से घर वार छोड़कर मुनि दीक्षा लेने की इच्छा व्यक्त की परन्तु अपने जीवन काल तक सातगौड़ा को ऐसा न करने की सम्मति दी। तब पिता के स्वर्गवास हो जाने पर कुछ दिन बाद ४१ वर्ष की आयु में क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। तब से ही आप अधिक लोक कल्याण तथा आत्म-साधना में प्रवृत्त हुए। आपने उसी समय से जैन संस्कृति की सुरक्षा तथा प्रसार में योग देना प्रारम्भ किया। कोल्हापुर राज्य में जैन गृहस्थों में अज्ञानता-वश जो मिथ्या प्रवृत्तियां चल पड़ी थीं, उनको आपने प्रभावशाली प्रचार द्वारा दूर कराया, इस कारण आप अपनी क्षुल्लक अवस्था से प्रख्यात हो गये। आप पांच वर्ष तक क्षुल्लक रहे तदनन्तर गिरनार क्षेत्र पर तीर्थ वन्दना के समय ऐलक दीक्षा ग्रहण की।

तत्पश्चात् वि० सं० १९७७ में ४७ वर्ष की आयु में आपने श्री १०८ मुनि सिद्धसागर जी से मुनिदीक्षा ग्रहण की उस समय आपका नाम 'शान्तिसागर' रक्खा गया। उसी समय से आपके महत्त्व-पूर्ण जीवन का अध्याय प्रारम्भ हुआ। आप अपने नाम के अनुरूप यथार्थ में शान्ति के अविचल अथाह सागर थे।

मुनि बन जाने पर आप का प्रभावशाली धर्मप्रचार और भी अधिक प्रगतिशील बन गया। आप के उग्र तपोबल के कारण आपसे अनेक व्यक्तियों ने मुनिदीक्षा ली, अनेकों ने ऐलक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी पद ग्रहण किया, अनेक महिलाओं ने भी व्रत ग्रहण किये इस तरह दिगम्बर जैन समाज में संयम का नव-प्रभात सा हुआ। ७ वर्ष पीछे आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज ने बम्बई के उदार धार्मिक सेठ श्री घासीलाल पूनमचन्द्र जी के प्रबन्ध मे अपने सघ सहित सम्मेदशिखर की यात्रा के लिये सं० १९८४ में विहार किया, तब से आप उत्तर प्रान्त के परिचय में आये। आपका संघ बड़ी प्रभावना के साथ सम्मेद-शिखर पर पहुँचा। वहां पर बड़ा भारी अपूर्व मेला हुआ।

सम्मेदशिखर से विहार करके आपने कटनी, ललितपुर, मथुरा, दिल्ली, जयपुर, ब्यावर, उदयपुर, प्रतापगढ़ आदि नगरों में क्रमशः सं० १९८५ आदि में चातुर्मास किये। इस ७-८ वर्ष में आपने मध्य-प्रदेश, विहार, उत्तरप्रदेश, दिल्ली प्रान्त, पजाब, राजस्थान में पैदल विहार करते हुए हजारों गांवों और सैंकड़ों नगरों, कस्बों में अच्छा स्मरणीय धर्म प्रवाह बहाया। उसके बाद गुजरात, काठियावाड़ होते हुए दक्षिण महाराष्ट्र की ओर लौट गये। इस विहार में लाखों स्त्री पुरुषों को उल्लेखनीय आध्यात्मिक लाभ हुआ।

तदनन्तर आप दक्षिण में विहार करते रहे। आपसे मुमुक्षु स्त्री पुरुषों ने मुनि, ऐलक, क्षुल्लक, आर्यिका, क्षुल्लिका, ब्रह्मचारी आदि पद के व्रत ग्रहण किये। आपके ऐसे शिष्यों की संख्या लगभग ७०० है। इससे कम दर्जे के व्रती शिष्यों की संख्या बहुत है। आपके १० वर्ष ज्येष्ठ भ्राता ने भी आपसे मुनि दीक्षा ग्रहण की जिनका नाम श्री वर्द्धमानसागर है। अभी शेडवाल में उनका चातुर्मास है। वीर संवत २४७८ में आपके ८१ वें जन्म दिवस पर फलटण में आपकी हीरक जयन्ती मनाई गई।

आपकी दृष्टि क्षीण होती जा रही थी जिससे ईर्यासमिति तथा एषणा समिति में धीरे धीरे आप को वाधा आती प्रतीत हुई अतः आपने इस वर्ष चातुर्मास वारामती नगर में न करके समाधिमरण करने

के अभिप्राय से एकान्त शान्त वन प्रदेश में स्थित श्री कुन्थलगिरि क्षेत्र पर अन्तिम चातुर्मास किया। इस चातुर्मास में आपको जब यह निश्चय हो गया कि मेरे नेत्र अब संयम साधन में सहायक न हो सकेंगे तो संचित रत्नत्रय निधि को अपने साथ सुरक्षित ले जाने के अभिप्राय से आपने स्वस्थ दशा में समाधिमरण ग्रहण किया, और बड़ी शान्ति, धैर्य तथा साहस के साथ स्वर्गारोहण किया। इस सल्लेखना काल मे लगभग एक हजार स्त्री पुरुषों ने कुन्थल गिरि क्षेत्र पर दूरवर्ती क्षेत्रों से पहुंचकर आचार्य महाराज के अन्तिम दर्शन किये।

हमारी भावना है कि आचार्य श्री अल्प समय में मुक्ति प्राप्त करें।

प्रवचन नं० १३१

स्थान— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि— आश्विन कृष्णा १४ शुक्रवार, १४ अक्टूबर १९५५

परीक्षा का समय

संसार में वास्तविक (असली) पदार्थ का मूल्य तभी आंका जाता है जब कि उसकी तुलना में अवास्तविक (नकली) पदार्थ आता है। सुवर्ण का बहुमूल्य देकर सुवर्ण को आदर इसी कारण ससार मे मिला है कि उस सरीखे उसी रंग के चमकने वाले पीतल, मुलम्मा आदि नकली पदार्थ विद्यमान हैं जिन का रूप रंग चमक थोड़े ही समय पीछे बदल कर काली हो जाती है। संसार में चमकदार विविध रंगों मे पाया जाने वाला कांच न होता तो संभव है विविध वर्णों के रत्नों को सन्मान तथा बहुमूल्यता इतनी न मिली होती। खालिस घी का आदर इसी कारण और अधिक जनता करने लगी है कि वनस्पति तेल भी घी का रूप धारण करके बाजार में आ गया है।

दुर्जन, कपटी, विश्वासघाती, मिष्टभाषी किन्तु साथ ही कृष्ण हृदय, हीनाचारी व्यक्ति जगत् में मौजूद हैं इसी कारण संसार में सज्जन, परोपकारी, सत्यभाषी, स्वच्छ हृदय वाले, सदाचारी व्यक्तियों का सन्मान होता है। यदि अन्धकार न होता तो सूर्य चन्द्र- दीपक के महत्व को अनुभव करता। योगियों, तपस्वियों, साधुओं को जगत् इसी कारण पूजता है कि वह स्वयं विषयभोगों की कीचड़ में सना हुआ व्याकुल हो रहा है। प्राणहारक विष इस संसार में है इसी कारण प्राणरक्षक अमृत का नाम भी सुनने में आता है। मीठे जल को कोई भी विशेष आदर न मिल पाता यदि अपेय खारे जल के समुद्र तथा कूप न होते।

संसार में यथावसर उपयोगिता सभी तरह के पदार्थों की है, मुलम्मे और कांच को भी काम में लिया जाता है, जिस काम में वे आते हैं उस काम में सोना और रत्न नहीं आ सकते। अन्धकार न हो तो मनुष्य के विश्राम मे हानिकारक विघ्न पड़ जावे, बहुत से व्यक्तियों का तो व्यापार ही समाप्त हो जावे। विष अनेक औषधियों में प्रयुक्त होकर अमृत-जैसा उपयोगी बन जाता है। खारा जल न हो तो भोज्य पदार्थों को स्वादिष्ट बनाने वाले लवण (नमक) की कमी बहुत कष्टदायक होती। दुष्ट व्यक्तियों के दमन के लिये सज्जन पुरुष विफल रहते है, दुष्टों का दमन दुर्जन व्यक्तियों द्वारा ही संभव है इसके सिवाय भी वे

अनेक अवसरों पर अच्छे उपयोगी सिद्ध होते है।

फिर भी असली पदार्थों की जो उपयोगिता है उतनी उपयोगिता नकली पदार्थों की नहीं है, इसी कारण यथावसर उपयोगी होते हुए भी नकली पदार्थ असली पदार्थों की तुलना में हीन श्रेणी के ही सिद्ध होते हैं इसी कारण जो अधिक आदर सन्मान सुवर्ण, चांदी, रत्न आदि पदार्थों को दिया जाता है वह उचित ही है।

परन्तु एक सरीखी दिखने वाली दो वस्तुओं की जब तक जांच न की जावे तब तक घटिया बढ़िया या असली नकली का निर्द्धारण नहीं हो सकता। अपरीक्षक व्यक्ति अनेक बार मुलम्मे को सोने के मूल्य में खरीद लिया करते हैं। एक बार एक अंग्रेज लाखों रुपयों के नकली हीरे (कांच) भारत मे रत्नों के मूल्य पर बेच गया, एक चतुर रत्न परीक्षक ने सूक्ष्म परीक्षा के अनन्तर उसकी धोकेबाजी को समझा।

मनुष्यों के मस्तक पर नहीं लिखा होता कि अमुक मनुष्य सज्जन है या अमुक मनुष्य दुर्जन है। दुर्जन मनुष्य ऐसे अच्छे नपे तुले ढंग से अपनी चेष्टा और व्यवहार प्रदर्शित करते हैं कि उन्हें सब कोई अपरिचित्त व्यक्ति सज्जनोत्तम पुरुषोत्तम ही समझते हैं उनकी दुर्जनता तो परीक्षा करने से ही मालूम होती है। यों तो बाहर से सभी सदाचारी दिखाई देते हैं, किन्तु परीक्षा के समय जो आचार भ्रष्ट नहीं होते संसार सदाचारी उन ही व्यक्तियों को मानता है।

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते, येषां न चेतांसि त एव धीराः।

यानी—पथ भ्रष्ट होने के, बिगड़ने के कारण मिल जाने पर भी जिन के चित्त में कोई विकार नहीं आने पाता वे पुरुष ही सच्चरित्र धीर वीर होते हैं।

रावण बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करने के लिये अपने शान्तिनाथ चैत्यालय में दृढ़ पद्मासन लगा कर बैठ गया। राम लक्ष्मण को जब इसका पता चला तब हनुमान आदि को चिन्ता हुई कि बहुरूपिणी विद्या सिद्ध होजाने पर रावण दुर्जेय (कठिनाई से जीतने योग्य) योद्धा बन जायगा, अतः किसी तरह उसे पथ भ्रष्ट करना चाहिये जिससे कि यह विद्या सिद्ध न कर सके। इस विचार से उन्होंने लंका में पहुंच कर रावण के समक्ष रावण की पट्टरानी मन्दोदरी के अपमान करने आदि के ऐसे असह्य दृश्य दिखलाये जिससे कि स्वाभिमानी रावण अपनी मंत्रसिद्धि की तन्मयता छोड़ कर अपनी पट्टरानी के सन्मान बचाने के लिये उठ खड़ा होवे। परन्तु रावण धीर वीर था जिस उद्देश्य के लिये बैठा था, उस उद्देश्य को सिद्ध करने से पहले वह अपने आसन से उठना नहीं चाहता था, अतएव अपने ध्यान में रहा आया। अपनी परीक्षा में पास हुआ जिससे कि उसको पारितोषिक में बहुरूपिणी विद्या सिद्ध हो गई।

रामचन्द्र जब संसार से मुक्त होने के लिये आत्म ध्यान में निमग्न हुए, उस समय उनकी प्रिय रानी सीता के जीव ने, जो कि उस समय नारी पर्याय छोड़ कर प्रतीन्द्र बन चुका था, मोह वश विचार किया कि रामचन्द्र का ध्यान भंग हो जावे तो मैं और वे भवान्तर में साथ २ मुक्ति प्राप्त करें। अभी से वे यदि मुक्त हो गये तो मुझे उनका वियोग उठाना पड़ेगा। इस भावना से प्रतीन्द्र ने विक्रिया से

सीता का रूप बना कर ध्यानारूढ़ रामचन्द्र के सामने अनेक प्रकार पत्नी-उचित हाव भाव, विलास विमुल श्रुति मधुर प्रेम भरे कोमल वचन प्रयुक्त किये, इसके सिवाय ऐसी भी अनेक अन्य चेष्टायें की जिन से उत्तेजित होकर राम अपना ध्यान छोड़ दें और मेरे संसार के साथी बने रहे। अथवा मुक्तिदाता शुक्ल ध्यान से तो कुछ च्युत हो ही जावें जिससे मेरे समान देव पर्याय-प्राप्त कर लें। किन्तु 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' यानी—जो सांसारिक कार्यों में शूरवीर होते हैं वे धर्म साधन में भी शूरवीर होते हैं, के अनुसार रामचन्द्र की धर्म वीरता या ध्यान वीरता की परीक्षा का समय था इसमें वे फेल कैसे हो जाते। तदनुसार वे अपने अटल ध्यान से जरा भी विचलित न हुए और कर्म क्षय करके मुक्त हो गये।

एक नगर में एक धार्मिक प्रकृति का राजा न्यायपूर्वक राज्य करता था उसकी एक वयस्क सर्वाङ्गसुन्दरी कन्या थी।

एक दिन एक चोर रात्रि के समय राज महल में चोरी करने गया और राजा के कमरे के पास छिपकर बैठ गया। सोने के कमरे में रानी राजा के पास आई और बातें करने लगी, चोर भी कान लगाकर राजा रानी की बातों को सुनने लगा। रानी ने राजा से वार्तालाप के प्रसंग में कहा कि राजन्! अपनी पुत्री विवाह के योग्य सयानी हो गई है, आप उसके विवाह के लिये कोई योग्य वर भी नहीं देखते। आखिर राज्य के कार्यों की तरह यह कार्य भी अवश्य करना है।

राजा ने कहा—पुत्री के लिये मैंने धनिक या राजपुत्र नहीं देखना, ऐसे व्यक्ति प्रायः आचारहीन दुर्व्यसनी होते हैं। मैं तो पुत्री के लिये सुन्दर सदाचारी स्वस्थ साधु पुरुष देखूंगा। पुत्री का विवाह करके उसको अपना आधा राज्य दे दूंगा। धन और राज्य की अपेक्षा मैं सदाचार को विशेषता देता हूं। रानी ने कहा आपका विचार तो ठीक है परन्तु यह कार्य शीघ्र करना चाहिये। राजा ने कहा यदि मुझे कल ही ऐसा वर मिल गया तो मैं कल ही पुत्री का विवाह कर दूंगा। रानी सन्तुष्ट होकर सोने के लिये चली गई।

चोर ने विचार किया कि मैं भी अपने भाग्य की परीक्षा करूं, यदि राज कन्या मुझे मिल जावे तो सब पाप संकट दूर हो जायेंगे। ऐसा विचार कर वह बिना चोरी किये राज महल से वापिस चला आया, और प्रातः होते ही अपना रूप धार्मिक साधु का-सा बनाकर एक स्वच्छ स्थान पर वहां जा बैठा जहां से प्रतिदिन राजा सवेरे निकला करता था।

राजा प्रतिदिन प्रातः वायु सेवन (सैर) के लिये जाया करता था, उसने मार्ग में साधुवेशधारी तरुण चोर बैठा देखा। राजा को रात की बात याद आ गई उसने इस साधु वेशधारी चोर को देख कर विचार किया कि पुत्री के लिये यह वर उपयुक्त होगा। ऐसा निश्चय करके उसने बड़े सन्मान के साथ रथ में बिठा लिया और राजमहल में उसे ले गया।

चोर बहुत प्रसन्न हुआ कि मेरा प्रयत्न सफल हो गया। तदनन्तर उसने विचार किया मैंने बनावटी रूप से साधु का रूप बनाया उसका फल तो मुझ को यह मिला, यदि मैं सचमुच साधु बन जाऊँ तो सदा के लिये पूर्ण-सुखी मुक्त हो जाऊँ। इस कारण अब मेरी परीक्षा का समय है इसमें मुझे अनुत्तीर्ण (फेल) न होना चाहिये।

राजा उस साधु को लेकर राज महल में पहुँचा उसे सन्मान के साथ ऊँचे आसन पर बिठाया। रानी ने भी उसे पसन्द कर लिया तब राजा ने नम्रता के साथ उससे निवेदन किया कि आप मेरी पुत्री स्वीकार कीजिये और राजमहल में रह कर आनन्द कीजिये, दहेज मे आप को आधा राज्य दूंगा।

चोर सावधान होकर बोला कि राजन्! यदि गृहस्थी की कीचड़ में ही फंसने की इच्छा होती तो मैं साधु क्यों बनता, मैं तेरी पुत्री का पति नहीं बनना चाहता, मैं तो मुक्ति का पति बनूंगा, यह कह कर वह वन में चला गया और मुनि दीक्षा लेकर तप करने लगा।

परीक्षा यद्यपि बहुत कठिन चीज है, परीक्षा का नाम सुनते ही धीर वीर मनुष्य भी घबरा जाते है, परन्तु मनुष्य का उत्थान भी तो परीक्षा के द्वारा ही होता है। परीक्षा में उत्तीर्ण होने वाले व्यक्ति ही अच्छा यश और प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं, साथ ही उनको सफलता का आर्थिक पारितोषिक भी प्राप्त होता है। विद्यार्थी वर्ष भर तक पढ़ने लिखने में घोर परिश्रम करते हैं, उस परिश्रम का फल उनको तब ही प्राप्त होता है जब कि वे अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण (पास) हो जाते हैं। यदि वे परीक्षा के समय असफल रहते हैं तो उनको फिर उतना ही परिश्रम साल भर तक करना पड़ता है।

इसी प्रकार आत्मध्यान में बैठे हुए मुनियों पर दुष्ट लोग आकर उपसर्ग करते हैं, शारीरिक कष्ट देते हैं, उस समय उन मुनियों के कष्ट सहन, क्षमा, धैर्य आदि गुणों की परीक्षा का अवसर होता है। यदि उस परीक्षा में वे असफल हो जावें, उस उपसर्ग के कारण आत्म ध्यान से च्युत हो जावें तो उनकी जो महान् कर्म निर्जरा होने वाली थी वह नहीं हो पाती। इसके सिवाय उनको कर्म-बन्ध और हो जाता है जिससे उनका संसार भ्रमण और अधिक लम्बा हो जाता है।

ध्यान निमग्न साधुव्रतधारी युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव को लोहे के अग्नि तप्त आभूषण उनके शत्रु ने पहनाये। यदि उस समय वे पाण्डव ध्यान छोड कर उस शत्रु की खबर लेते तो उनका शारीरिक कष्ट तो दूर हो जाता किन्तु वे अपनी परीक्षा मे फेल हो जाते जिससे कि मुक्ति तथा आत्मशुद्धि न मिल पाती। उस थोड़े से समय में उनके अनेक भवों के संचित कर्मों की निर्जरा हो गई।

गजकुमार मुनि के शिर पर उनके शत्रु ने अग्नि जलाई, उन्होंने उस परीक्षा के समय आत्मध्यान न तोड़ा जिससे उन्होंने आत्मशुद्धि प्राप्त की। यदि अपने ध्यान से विचलित होकर वे उस शत्रु से लड़ने खड़े हो जाते तो कर्मशत्रु उनकी आत्मा को हरा देता। सुकोमल मुनि यदि जरा सा हाथ हिला देते तो गीदड़ी भाग जाती और उनका शरीर सुरक्षित रहा आता। उनका शरीर तो ध्यान भङ्ग करने से बच जाता परन्तु आत्मा परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने से कर्मों की मार से न बच पाता, उनकी आत्मविशुद्धि न हो पाती।

अतः धर्म साधन करते समय, आत्म चिन्तन करते समय कोई कष्ट उपस्थित हो तो धर्मनिष्ठ व्यक्ति का कर्तव्य है कि उस कष्ट की ओर उपयोग लगा कर अविचल रूप से अपनी आत्मशुद्धि की प्रक्रिया में भङ्ग न पड़नेदे।

मृत्यु निकट आने के समय धर्मात्मा व्यक्ति व्याकुल या चिन्तित नहीं होता बल्कि उस समय अपनी विचारधारा धर्म चिन्तन में एकाग्र करके शान्ति तथा निर्भयता से मृत्यु का आलिङ्गन करता है।

वह उस शारीरिक मोह में न फँस कर आत्मशुद्धि के लिये तन्मय हो जाता है। शारीरिक मोह, पारिवारिक मोह तथा परिग्रह वह छोड़ देता है और वीर मरण द्वारा अपनी अन्तिम आध्यात्मिक परीक्षा में सफलता प्राप्त करता है।

प्रवचन नं० १३२

स्थान— तिथि—

श्री दिगम्बर जैन नया मन्दिर, धर्मपुरा, दिल्ली आश्विन कृष्णा १५ शनिवार, १५ अक्टूबर १९५५

शील की क्षमता

जगत् का प्रत्येक पदार्थ जब अपने स्वरूप में परिणमन करता है तब उसकी समस्त शक्तियां पूर्ण विकसित होती हैं और वह अनन्त शक्तिशाली होता है। जब एक कोई पदार्थ अन्य पदार्थ के संसर्ग से अपने स्वभाव को विकृत बना लेता है तब उसकी विकसित शक्तियां अवरुद्ध हो जाती हैं, उसकी शक्ति परिमित हो जाती है, वस्तु की दृष्टि से वह दीन हीन हो जाता है।

संसारी दशा में जीव पौद्‌गलिक कर्मों के संसर्ग से हीन शक्ति, परतन्त्र बन गया है। जड़ पुद्‌गल ने उसका अनन्त ज्ञान, अनन्तबल बहुत कुछ कम कर दिया है जिससे अनन्तज्ञानी, अनन्तबली आत्मा अज्ञानी (अल्पज्ञानी) और बलहीन दीन दरिद्र दिखाई देता है, कर्म जैसा उसे नचाता है वैसा रूप रख कर अनिच्छा से भी नाचना पड़ता है। पौद्‌गलिक कर्म भी जीव के संसर्ग से अपनी स्वतन्त्रता खो बैठता है।

शील, स्वभाव, प्रकृति आदि शब्द एकार्थ वाचक है। जीव को अपने स्वभाव से भ्रष्ट मोह कर देता है, जो व्यक्ति आत्मचिन्तन या आत्मचर्या के द्वारा मोह को पराभूत कर देता है, वह महान् शक्तिशाली बन जाता है। मोही परिणामों में पुंवेद (स्त्री के साथ रमण करन के भाव), स्त्रीवेद (पुरुष के साथ रमने की इच्छा) तथा नपुंसकवेद (हीजड़ेपन से स्त्रियों तथा पुरुषों से रमण करने की इच्छा) जीव को बहुत बलहीन बना देते हैं। सिंहों को भी कान पकड़ कर अपने आधीन करने वाला पराक्रमी पुरुप यदि कामवासना का शिकार बन जावे तो स्त्रियों से अपनी इच्छा तृप्त करने के लिये उनके सामने रतिकर्म के लिये गिड़गिड़ाता हुआ घुटने टेक देता है, दीन हीन बलहीन बन जाता है। और काम पर विजय पा लेता है वह महान् शक्तिशाली होकर सब से अजेय बना रहता है।

भगवान् पार्श्वनाथ काशी नरेश राजा अश्वसेन के पुत्र थे। माता पिता आदि की प्रेरणा पाकर भी उन्होंने विवाह नहीं किया और तरुण कुमार वय में ही घर बार राज्यपाट छोड़ कर मुनि बन गये। एकान्त बन प्रान्त में वे आत्मध्यान कर रहे थे, तब कामदेव और उसकी पत्नी रति (कवि-कल्पित) उधर से होकर निकले। परम सुन्दर युवक भगवान् पार्श्वनाथ को साधु वेश में देख कर रति अपने पति के साथ वार्तालाप करने लगी—

कोऽयं नाथ ! जिनो, तव वशी, हुं हुं प्रतापी प्रिये,
हुं हुं तर्हि विमुञ्च कातरपते शौर्यावलेपक्रियाम् ।
मोहोऽनेन विनिर्जितः प्रभुरसौ तत्किंकरा के वयम्,
इत्येवं रतिकाम जल्पविषयः पार्श्वप्रभुः पातु वः ॥

रति ने अपने पति कामदेव से पूछा कि 'यह सुन्दर तरुण साधु कौन है ? कामदेव ने कहा कि यह 'जिन' हैं। रति ने पुनः पूछा कि 'क्या ये तुम्हारे वश में है (कामवासना के शिकार हैं) कामदेव ने उत्तर दिया कि नहीं, नहीं, ये बड़े प्रतापी हैं। रति ने कहा कि हे कायर पति ! तुम तब शूरवीरता की हुंकार छोड़ दो। कामदेव ने कहा—हमारे राजा मोह को इन्होंने जीत लिया है तब हम इनके सामने क्या चीज हैं। क्योंकि हम तो मोह के चाकर है।' ऐसे भगवान् पार्श्वप्रभु हमारी रक्षा करें।

पुरुष के शरीर में वीर्य सब से उत्कृष्ट धातु है, विषयवासना से उस वीर्य का नाश होता है, वीर्य की कमी से मनुष्य की शारीरिक शक्ति क्षीण होती रहती है, जो मनुष्य ब्रह्मचर्य द्वारा अपने वीर्य की रक्षा करते हैं, उनका शरीर बलवान बना रहता है, मुख मण्डल पर तेज चमकता है, मस्तिष्क तथा आत्मा तेजस्वी रहता है। ऐसी ही बात स्त्रियों के विषय में है। काम क्रीडा से उनके शरीर की भी उत्कृष्ट धातु नष्ट होती रहती है जिससे उनके शरीर मस्तिष्क तथा आत्मा मे निर्बलता का प्रवेश होता है। 'ब्रह्मचारी सदा शुचिः' ब्रह्मचारी पुरुष, स्त्री, सदा पवित्र रहते हैं। ब्रह्मचर्य के कारण प्रकृति तथा सौभाग्य उनके संकटों को दूर करता रहता है।

सूक्तिमुक्तावलीकार ने लिखा है—

हरति कुलकलङ्कं लुम्पते पाप पङ्कं, सुकृतमुपचिनोति श्लाघ्यता मातनोति ।
नमयति सुरवर्गं हन्ति दुर्गोपसर्गं, रचयति शुचि शीलं स्वर्गमोक्षो सलीलम् ॥

यानी—पवित्र ब्रह्मचर्य अपने वंश के कलंक को दूर कर देता है, पाप कीचड़ को धो देता है। पुण्य का सचय करता है, ससार में महत्व प्रकट करता है, देवो को भी अपने चरणों में झुका देता है, महान उपद्रवों को नष्ट कर देता है तथा स्वर्गमोक्ष मे सरलता से मनुष्य को पहुँचा देता है।

लंकाधिपति रावण अच्छा बलवान तथा धर्मात्मा प्रतापी पुरुष था। अजेय राजा इन्द्र को भी रावण ने युद्ध में हराकर अपने आधीन कर लिया था। कैलाश पर्वत को भी उठाने का यत्न किया था। अच्छा सुन्दर पराक्रमी योद्धा था। उसने अनन्तवीर्य केवली के सामने यह व्रत लिया था कि जो परस्त्री मुझे न चाहेगी, मैं भी उसको न चाहूंगा, किसी भी स्त्री का बलात् (जबरदस्ती) शील भंग न करूंगा।

किन्तु रावण को जब दुर्मति सवार हुई तो उसने छल से सीता का अपहरण किया। दुर्भाग्य से उसे अपना व्रत याद नहीं रहा। सती सीता जब अपने पति राम के सिवाय अन्य किसी को अपना अङ्ग स्पर्श न कराना चाहती थी तब रावण का कर्तव्य था कि वह अबला सीता के सतीत्व का ध्यान रख कर उसका बलपूर्वक हरण न करता। यद्यपि लंका में ले जाकर रावण ने सीता को अपने अनुकूल करने के लिये बहुत से प्रयत्न किये। किन्तु सीता न किसी प्रलोभन में आई और न किसी भय के कारण उसने

रावण की बात मानी। अभिमानी रावण की प्रार्थना का लंका में ही इस तरह ठुकराया जाना रावण का महान् अपमान था; परन्तु रावण फिर भी अपने व्रत पर दृढ रहा, उसने सीता की अनिच्छा देख कर उसका शील भङ्ग न किया—सीता से बलात्कार न किया। रावण यदि चाहता तो सीता का सतीत्व भङ्ग कर सकता था परन्तु यह अत्याचार उसने नहीं किया। सीता को अपहरण करने की एक गलती कुमति-वश कर चुका था, उसने दूसरी गलती करना उचित न समझा। इतने अंश मे रावण का चरित्र उज्ज्वल एवं प्रशंसनीय प्रतीत होता है परन्तु उसने जो सीता का अपहरण करके अपयश कमाया उस अपयश में उसका वह प्रशंसनीय कार्य विलीन हो गया।

उधर सीता की ब्रह्मचर्य भावना को देखिये। मन्दोदरी स्वयं बहुत सुन्दरी गुणवती पतिपरायणा थी, उसने अपने पति रावण को परस्त्री सीता को बुरी दृष्टि से देखने का कुपरिणाम अच्छी तरह सुझाया, यह भी कहा कि यदि आप को मेरे सौन्दर्य में कुछ कमी नजर आती हो, तो मैं विद्याधरी हूं इससे भी अधिक सुन्दर रूप बना कर आप का मनोरंजन कर सकती हूँ। मेरे सिवाय आप के और बहुत सी एक से बढ़ कर एक सुन्दरी पत्नियां है, सीता पर नारी है, पति परायणा है, अपने पति राम के सिवाय अन्य किसी भी व्यक्ति को, वह चाहे इन्द्र ही क्यों न हो, नहीं चाहती। अतः उस बेचारी को उसके पति के पास पहुँचा दो, ऐसा करने में आप का यश उज्ज्वल होगा, अनिष्ट की आशंका न रहेगी। परन्तु दुर्भाग्य की प्रेरणा से रावण को अपनी पत्नी की हित-वार्ता न सुहाई। उसने मंदोदरी को कहा कि जा, तू समझा बुझा कर सीता को मेरे अनुकूल कर। मन्दोदरी अनिच्छा से भी पति की प्रेरणा पाकर सीता के पास पहुँची। ऊपरी मन से उसने सीता को कहा भी कि तू रावण को पति भाव से स्वीकार कर ले।

मन्दोदरी की बातें सीता को रावण से भी अधिक बुरी लगीं, उसने मन्दोदरी को फटकार बतलाई कि तू राजपुत्री और राजपत्नी बन कर दूती का काम करने आई है, तुझे लज्जा नहीं आती। क्या तेरे हृदय में पतिव्रत नहीं है? त अपने पति को अपने ही सामने पथभ्रष्ट देखना चाहती है, तू अपने पति को व्यभिचारी बनाना चाहती है? तेरा पति मेरे साथ जो अन्याय करना चाहता है उस अन्याय में तू भी सहायक बन रही है, मैं क्या समझूं कि तू राजा मय की सुपुत्री है। सती स्त्री की भावना मेरे हृदय में नहीं है, तुझे अपने मुख से ऐसे अनुचित वचन निकालते हुए हजार बार लज्जा आनी चाहिये। क्या तूने मेरे पति को कायर समझा है? मेरा एक एक दुख भरा श्वास और मेरे पति का एक एक नोकीला बाण इस लंका के एक एक कण को बखेर देगा। मै तुझे सदाचारिणी कैसे समझूं। जा हट मेरे सामने से, मैं तेरे-जैसी स्त्रियोंका मुख भी नहीं देखना चाहती, तू एक पर-स्त्री-चोर की पत्नी है, तेरे हृदय में स्त्रियोचित सद्भावना नष्ट हो चुकी है, तभी ऐसी बातें मेरे सामने करने के लिये तुझे साहस हुआ है। जा अपने पति को कह दे, कि सीता तुझ-जैसे कुल कलंक की परछाईं भी नहीं देखना चाहती, तू अपने को वीर समझता है और चोरों की तरह मेरे पति की अनुपस्थिति में मुझे बलपूर्वक वहाँ से ले आया। मेरे पति के सामने लाता तो तुझे वीर माना भी जाता। तूने अपने कुल को तथा अपनी वीरता को कलंकित किया है, और अब मेरे ब्रह्मचर्य को भ्रष्ट करके, अबला पर अपने बल का दुरुपयोग करके अपने ऊपर दूसरा कलंक थोपना चाहता है। मैं शारीरिक शक्ति में तेरे पति से कम हूं, अबला हूं, इसी कारण वह मुझे जबरदस्ती यहां ले आया, परन्तु मेरा आत्मा तो निर्बल नहीं है, मेरा आत्मबल तेरे पति के आत्मबल से बहुत बड़ा है, इस कारण अपने पति से कह दे कि सीता के जीवित-शरीर से तू अपनी दुर्वासना पूर्ण नहीं कर सकता। जा, फिर मेरे सामने दुराचारिणी दूती के समान बनकर, ऐसा प्रस्ताव लेकर न आना।

सीता के सत्य, किन्तु बाण की नोक से भी अधिक तीक्ष्ण वचनों का एक एक अक्षर मन्दोदरी के हृदय में घुस गया और उसे महान दुःख उत्पन्न करने लगा, उसे बहुत लज्जा आई, सीता के दृढ़ सच्चरित्र और पवित्र मनोबल से वह बहुत प्रभावित हुई, उसको सीता के वचनों के अनुसार अपने पति का भावी अनिष्ट प्रत्यक्ष दीखने लगा, उसका हृदय कांप गया। वह अपने आप को धिक्कारने लगी। सीता की किसी भी बात का उत्तर मन्दोदरी से देते न बना और चुपचाप खिसिया कर, लज्जित होकर वहां से उठ कर चली गई।

सीता की बातें अपनी पत्नि से सुनकर रावण का विवेक अभिमान वश जाग्रत न हो सका, सीता को यों ही राम को लौटा देना उचित न समझा, अतः उसने युद्धक्षेत्र में राम, लक्ष्मण को हरा देने का निर्णय किया।

राम रावण का घनघोर युद्ध हुआ, रावण के पक्ष की बहुत हानि हुई, फिर भी कायर की भांति युद्ध करना उसने उचित न समझा, उसे अपनी अजेय शक्ति का अभिमान बना रहा। अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये उसने बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर ली। उसका चमत्कार दिखला कर सीता के हृदय में यह विश्वास उत्पन्न किया कि अब राम, लक्ष्मण को युद्ध क्षेत्र में मार देना मेरे लिये एक सरल बात है।

रावण का चमत्कारी बल देख कर अपने पतिके अनिष्टकी आशंका से सीता का हृदय थर्रा गया, वह नेत्रों से आंसू डालती हुई रावण से बोली, कि मेरे पति के ऊपर प्रहार करने से पहले मेरे पति को मेरा यह सन्देश दे देना कि "आप से मिलने की आशा में ही मेरे ये श्वांस चल रहे हैं, तुम्हारी अनुपस्थिति (मरण) में मैं पल भर भी जीवित न रह सकूंगी।" सीता इतना कहते कहते मूर्छित होकर गिर पड़ी।

सीता की पति में दृढ़ श्रद्धा देखकर तथा उसके हृदय की वेदना अनुभव करके रावण को बहुत दुःख हुआ और अपने अन्याय तथा त्रुटि का पहले पहल अनुभव हुआ, तब उसका विवेक जाग्रत हुआ किन्तु अभिमान भी जाग्रत था अतः अभिमान की छाया में विवेक की प्रेरणा पाकर रावण ने निश्चय किया कि आज युद्ध में राम लक्ष्मण को जीवित पकड़ कर उनको सन्मान के साथ सीता को लौटा दूंगा और अपने पाप का प्रायश्चित करूंगा। रावण की यह सद्भावना सफल न हुई और वह युद्ध क्षेत्र में लक्ष्मण के बाणों से मारा गया।

सीता का पति से मिलाप हुआ, बड़े प्रेम और सन्मान के साथ राम अपनी पतिव्रता सती पत्नी को अपने साथ अयोध्या ले गये। राम सीता के प्रेम-मिलन के फल-स्वरूप सीता गर्भवती हुई, किन्तु सीता का दुर्भाग्य अभी समाप्त न हुआ था, दुष्ट मूर्ख लोगों ने परस्पर मे आशंका प्रगट की कि सीता रावण के यहां दीर्घ समय तक रह कर सच्चरित्र न रही होगी, रावण ने उसका सतीत्व अवश्य भङ्ग किया होगा, फिर भी राम ने सीता को अपने पास रख लिया।

सीता का अपवाद राम ने भी सुना, उन्हें सीता की सच्चरित्रता पर अटल विश्वास था किन्तु लोगों की आशंका पलटने का उनके पास कोई उपाय न था, अतः प्रजा में न्याय मर्यादा तथा सदाचार स्थिर रखने के लिये निर्दोष सीता को छल से भयानक वन में निराश्रय छोड़ दिया। सीता की असह्य वेदना फिर साकार हो आई. अब की बार अपने गर्भ की रक्षा के उद्देश्य से जीवित रही। वन में राजा

वज्रजंघ आया और अपनी बहिन बना कर उसको घर ले गया, वहां सीता ने दो वीर पुत्रों को जन्म दिया, कालान्तर में सीता और राम का फिर मिलाप हुआ। परन्तु सीता को अपने सतीत्व की परीक्षा के लिये अग्नि परीक्षा देनी पड़ी।

सीता का मन पवित्र था उसे अपने शील पर अटल विश्वास था, अतः वह अपने शील की परीक्षा देने के लिये निःशंक होकर अग्निकुण्ड में कूद पड़ी। सीता के शील के प्रभाव से उसे दैवी सहायता प्राप्त हुई, जनता ने देखा कि धधकती हुई अग्नि शान्त होकर पानी बन गई है और कमल पुष्प पर बैठी हुई सीता अपने निर्दोष शील की परीक्षा कराने मे पूर्ण सफल हुई है।

सीता और रावण को हुए हजारों वर्ष हो गये किन्तु आज भी रावण को जनता धिक्कार देती है और संसार सीता के पवित्र ब्रह्मचर्य की सन्मान के साथ प्रशसा करता है।

प्रवचन नं० १३३

स्थान— श्री दिगम्बर जैन मंदिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि— आश्विन शुक्ला १ रविवार, १६ अक्टूबर १६५५

प्रज्ञा का प्रयोग

जीव और निर्जीव पदार्थ में अन्तर केवल ज्ञान और अज्ञान (ज्ञान का अभाव) का है। ज्ञान-गुण विशिष्ट जीव होता है और ज्ञान से शून्य पदार्थ निर्जीव, अचेतन, जड़ या अजीव कहे जाते हैं। यों अजीव पदार्थों में भी अनन्त अचिन्त्य शक्तियां है जो कि प्रत्येक जीव पर अपना बहुत भारी प्रभाव डालती हैं। ऐसे ऐसे विष हैं जो स्वल्प मात्रा में भी यदि वायु मंडल में फैल जावें तो लन्दन सरीखा विशाल नगर, जिसकी जन संख्या लगभग एक करोड़ है, के रहने वाले समस्त स्त्री पुरुष, पशु, यहां तक कि आकाशचारी पक्षी तक १०-५ मिनट में ही मृत्यु के अतिथि बन जावें। परमाणु बम, उद्जन बम अचेतन पदार्थ ही तो हैं जो कि क्षण भर में बड़े बड़े नगरों को विध्वंस करने की क्षमता रखते है।

अन्य जड़ पदार्थों की चर्चा छोड़ो, जीव को पालतू बन्दर की तरह संसार में नचाने वाला पदार्थ भी तो, जिसे कि कर्म कहते हैं, जड़ ही है। जीव की समस्त शक्तियां सूक्ष्म कार्माण वर्गणाओं ने अभिभूत कर रक्खी हैं, अनन्त शक्तिशाली जीव का अतुल पराक्रम कुण्ठित कर दिया है, पालतू पशु की तरह कर्म का दास बन गया है। जिसके लिये कि कवि कहता है—

किं करोति नरः प्राज्ञः प्रेर्यमाणः स्वकर्मभिः।
प्रायेण हि मनुष्याणां बुद्धिः कर्मानुसारिणी॥

यानी—बुद्धिमान् मनुष्य भी बेचारा क्या करे, उसकी बुद्धि कुछ काम नहीं करती, अपने कर्मों की प्रेरणा से ही उसे चलना पड़ता है। मनुष्य की बुद्धि प्रायः अपने उदित कर्म के अनुसार होती है।

सिद्धान्तकार भी कहते हैं कि—

वैद्या वदन्ति कफ पित्तमरुद्विकारं, सांवत्सरा ग्रहगतं प्रवदन्ति दोषम् ।
भौतोपसर्गनिपुणाः प्रवदन्ति भौतं, सन्तो वदन्ति च पुराः कृतपुण्यमेव ॥

यानी—मनुष्य जब किसी विपत्ति में फंस कर क्षीण शक्ति हो जाता है उस समय वैद्य वात पित्त कफ का विकार उस विपत्ति का कारण बतलाते हैं, ज्योतिषी लोग शनि, राहु, मंगल आदि ग्रहों की दृष्टि उस विपत्ति का कारण कहते हैं, भूत प्रेत की वाधा मन्त्रों द्वारा दूर करने वाले उस विपत्ति को भूत, प्रेत की वाधा बतलाते हैं, परन्तु सिद्धांत वेत्ता सज्जन उसे पूर्व समय में शुभ कर्म संचित न करने का फल बतलाते हैं।

वैद्य, मन्त्रवादी, ज्योतिषी की अपेक्षा सिद्धांत-वेत्ता के कहने में इस कारण सत्यता है कि अशुभ कर्म के उदय में न कोई अच्छी से अच्छी औषधि काम देती है, न ज्योतिषियों के अनिष्टगृह निवारण के प्रयोग सफल होते हैं और न मन्त्र वादियों के शक्तिशाली मन्त्र उस विपत्ति से छुटकारा दिलावे हैं, अशुभ कर्म तो मनुष्य को ऐसा झकझोर डालता है कि संसार के सभी उपाय उसको शांत करने में निष्फल रहते हैं।

ऐसा बलवान कर्म भी तो जड़ ही है, फिर मनुष्य अपनी बुद्धि का क्या अभिमान कर सकता है परन्तु यह विचार भी निरा सत्य नहीं है, ज्ञान संसार में सब से बड़ी शक्ति है, ज्ञान की तुलना में जगत् के समस्त जड़ पदार्थों की सम्मिलित शक्ति भी हेय है। ज्ञान के बल पर मनुष्य दुर्द्धर्ष प्रकृति को अपने संकेत पर नचा रहा है। पृथ्वी के भीतर, पृथ्वी के ऊपर, अगाध जल के भीतर, हजारों मील तक फैले हुए समुद्र की छाती पर तथा विशाल आकाश पर, सूक्ष्म वायु पर, शब्द की धारा पर, दाहक अग्नि पर इस तरह राज्य कर रहा है, मानों उसने इन पदार्थों को अपना आज्ञाकारी दास ही बना लिया है। विशाल पर्वतों को छील छाल कर मिट्टी का टीला-सा बना डाला है, महान् विशाल नदियों को नाली की तरह बना कर उनसे यथेच्छ—भूमि सिंचाई, विद्युत् निर्माण (विजली तैयार करना) आदि का कार्य ले रहा है, जगत् में भरे हुए परमाणुओं से बने सूक्ष्म स्कन्धों को भी पकड़ कर उनके तोड़ने से उत्पन्न महान् शक्ति को 'परमाणु शक्ति' आदि नाम देकर परमाणु बम बनाने, विजली बनाने, जहाज चलाने आदि में अपने बुद्धि बल से ही सफल हो रहा है। इस तरह ज्ञान एक ऐसी शक्ति है जिसके कारण वह समस्त जड़ पदार्थों को अपने संकेत पर इस तरह नचा रहा है जिस तरह कलाकार कठपुतलियों को नचाता है।

किन्तु खेद है कि ऐसे शक्तिशाली ज्ञान को पाकर मनुष्य उसको अपने हित के लिये प्रयुक्त नहीं करता। इसका ज्ञान जड़ पदार्थों के विकास में तो लगा हुआ है परन्तु अपने चैतन्य विकास में, आत्मा को कर्मों की दासता से मुक्त करने मे रंच भर भी प्रयत्नशील नहीं है, इसी कारण मनुष्य को शान्ति नहीं मिल पाती।

एक अन्धा मनुष्य रात्रि को अपने एक हाथ में जली हुई लालटेन और दूसरे हाथ में लाठी लेकर गली में से लाठी टेकता हुआ धीरे-धीरे चला जा रहा है। गली में आने जाने वाले स्त्री पुरुषों ने

उससे पूछा कि सूरदास जी ! तुम्हें अपने नेत्रों से तो कुछ दिखलाई देता नहीं फिर लालटेन लेकर चलने से क्या लाभ ? लालटेन का प्रकाश तो नेत्र वाले मनुष्यों को लाभदायक है, आप के लिये तो सूर्य का प्रकाश भी अन्धकार के ही समान है।

उस अन्धे ने अपने कोमल मधुर स्वर में नम्रता के साथ उत्तर दिया कि मित्रों ! मैं यह लालटेन अपने लिये लेकर नहीं चल रहा, मुझे इससे कुछ दिखाई नहीं देता, यह लालटेन तो मैं आंखों से देखने वाले उन स्त्री, पुरुषों के लिये लेकर चल रहा हूं जो कि मार्ग मे धक्के मार कर चलते है, यह लालटेन उन को सचेत करती है कि भाई देख भाल कर चलो, तुम्हारे सामने कोई मनुष्य आ रहा है।

नेत्र रखने वाले भी स्त्री पुरुष जिस तरह उस अन्धे का ध्यान न रख कर धक्के देते थे, या पृथ्वी को न देखकर पत्थर आदि से टकरा कर किसी खड्डे या नाली आदि में गिर पड़ते है, नेत्रों का उपयोग अपने हित में भी नहीं किया करते, उसी तरह यह पर्याप्त ज्ञानशक्ति का स्वामी मनुष्य भी अपने ज्ञान का उपयोग आत्म-उन्नति मे रच मात्र नहीं करता। यदि यह अपने ज्ञान का प्रयोग आत्म हित में कभी करे तो इस मनष्य का दीन हीन निर्बल अशक्त आत्मा अनन्त वैभवशाली पूर्ण सुखी बन जावे।

महान् लौकिक ज्ञान प्राप्त करके भी मनुष्य जब तक आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त न करे तब तक उस लौकिक ज्ञान से शारीरिक प्रयोजन या सांसारिक प्रयोजन ही सिद्ध हो सकता है आत्मा की शुद्धि या आत्मा की शान्ति आत्मा का आल्हाद उससे कुछ भी नहीं मिल सकता। कभी कभी तो विवेक न होने से लौकिक ज्ञान भी उपहास का कारण बन जाया करता है।

एक बार चार विद्वान् एकत्र होकर एक दूसरे नगर में अपनी विद्वत्ता के बल पर द्रव्य उपार्जन करने के लिये चल पड़े। उन विद्वानों में एक तो न्याय शास्त्र के पारङ्गत नैयायिक थे। दूसरे व्याकरण विषय के प्रकाण्ड पण्डित थे, तीसरे ज्योतिष विषय के अनुभवी विद्वान् थे। चौथे आयुर्वेद के अच्छे ज्ञाता थे।

वे चलते चलते उस नगर के निकट जा पहुँचे तब उन्होंने विचार किया कि पहले बगीचे में भोजन बनाकर भूख शान्त कर लें, ठीक मुहूर्त से नगरमें प्रवेश करेंगे। नैयायिक जी बर्तन लेकर नगर में घी खरीदने गये वहां एक रुपये का घी खरीद कर उन्होंने अपनी तर्क शक्ति का प्रयोग किया कि 'घृताधारं पात्रं, वा पात्राधार घृत' यानी—घी के आधार यह बर्तन है अथवा बर्तन के आधार यह घी है (घी में बर्तन है या बर्तन मे घी है)। अपनी तर्क को सिद्ध करने के लिये उन्होंने बर्तन उलटा कर दिया जिससे घी जमीन पर गिर पड़ा, धूल मिट्टी में मिल गया। नैयायिक जी ने कहा, ठीक, बर्तन के आधार घी था, (पात्राधारं घृतं) इस तरह बाजार से खाली हाथ चले आये।

वैद्य जी को शाक खरीदने भेजा गया। वैद्य जी ने बाजार के सभी शाकों की वैद्यक आधार से से परीक्षा की, उनको कोई भी शाक निर्दोष प्रतीत न हुआ, नीम के पत्ते उन्हें स्वास्थ्य के लिये लाभदायक मालूम हुए, अतः वे नीम के पत्ते तोड़कर ले आये।

उधर वैयाकरण जी को दाल शाक बनाने के लिये बिठाया गया। दाल उबल कर खुदर खुदर करने लगी, वैयाकरण जी ने कहा यह अशुद्ध बोल रही है। अतः उन्होंने दाल को उठा कर फेंक दिया कि यह व्याकरण शास्त्र के अनुसार शुद्ध उच्चारण नहीं करती।

इस तरह तीन विद्वानों की विद्वत्ता के प्रयोग से खाना पीना खराब हो गया। नगर में प्रवेश करने का मुहूर्त ज्योतिषी जी से निकलवाया गया। ज्योतिषी जी ने समस्त ग्रह नक्षत्र देखकर रात्रि को दो बजे नगर में घुसने का शुभ मुहूर्त निकाला। तदनुसार चारों विद्वान् रात्रि को ठीक दो बजे नगर में घुसने के लिये पहुंचे तो देखते हैं कि नगर का द्वार बन्द है। तब उन्होंने नगर में भीतर घुसने का शुभ मुहूर्त टाल देना ठीक न समझा, अतः वे अन्य कोई मार्ग देखने लगे। उनको गन्दे नाले का बड़ा मुख खुला हुआ दीखा सो चारों विद्वान् उसी मार्ग से घुसकर नगर में भीतर पहुँचे। परन्तु गन्दे नाले की कीचड़ से उनके वस्त्र कीचड़ में सन गये।

रात्रि के दो बजे गन्दे नाले के मार्ग से घुसते हुए जब पुलिस के सिपाही ने देखा तो उन्हें चोर समझकर पकड़ लिया और रात के लिये हवालात में बन्द कर दिया। दूसरे दिन उन चोरों को राजा के सामने उपस्थित किया गया। राजा ने जब उन विद्वानों के बयान सुने तब उसने मुस्करा कर कहा कि तुम लोग लौकिक विद्या प्राप्त करके भी उसके व्यवहार में कोरे हो। 'यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम्।' यानी—जिसको व्यावहारिक समझ नहीं है, शास्त्रीय ज्ञान उसकी क्या सहायता कर सकता है ? राजा ने उन्हें लज्जित करके छोड़ दिया।

अतः लौकिक विद्यायें पढ़ कर उनका क्रियात्मक व्यवहार जब तक न सीखा जावे तब तक वे लौकिक विद्यायें भी मनुष्य को लाभ नहीं पहुँचा सकतीं, इस लिये केवल पढ़ लेना ही कल्याणकारी नहीं है उसका क्रियात्मक उपयोग सीखने पर ही उस ज्ञान से लाभ मिलता है।

इसी प्रकार प्रत्येक स्त्री पुरुष को थोड़ी बहुत अध्यात्मविद्या भी अवश्य पढ़नी चाहिये, जिससे उसको आत्मा, महात्मा, परमात्मा, संसार, मोक्ष, कर्मबन्धन, कर्मक्षय आदि के विषय में, शरीर और आत्मा के विषय में प्रयोजन की बातें मालूम हो जावें। सिद्धान्त ग्रन्थों को पढ़ कर आत्मा-संबन्धी विशेष ज्ञान प्राप्त हो जाय वह तो और भी अच्छा है।

परन्तु आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही आत्म-उन्नति नहीं हो जाती। आत्म-कल्याण के लिये जब तक कुछ क्रियात्मक आचरण नहीं होगा तब तक उस आध्यात्मिक ज्ञान से भी कुछ लाभ नहीं। क्योंकि ज्ञान मात्र से कभी कार्य नहीं बना करता। जो बातें आत्म-हित के लिये उपयोगी हैं उनका आचरण होने से ही आत्मा की प्रगति होती है। अतः जो मनुष्य हेय उपादेय की समझ रखते हुए भी हेय (त्यागने योग्य) पदार्थों से मोह नहीं तोड़ता और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) बातों का आचरण नहीं करता उसको समझदार या विद्वान् कैसे माना जावे।

विद्वान् यथार्थ में वही है जो अपनी प्रज्ञा का प्रयोग आत्म कल्याण के लिये करता है। जिसने अपनी प्रज्ञा का प्रयोग संसार भ्रमण को और लम्बा करने के लिए किया उस व्यक्ति को वास्तव में मूर्ख ही समझना चाहिए।

'शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा, यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्' यानी अनेक विषयों के ग्रन्थ पढ़ कर भी उन पर आचरण (अमल) न करने वाला व्यक्ति मूर्ख है, विद्वान वही है जो उस ज्ञान का आत्म हित के लिए कुछ आचरण भी किया करता है।

प्रवचन नं० १३४

स्थान— तिथि—
श्री दिगम्बर जैन मंदिर, कूचा सेठ दिल्ली। आश्विन शुक्ला २ सोमवार, १७ अक्टूबर १९५५

व्रत की दृढ़ता

जो व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के शरीर को जीतकर उन पर शासन करना चाहे अथवा जो मनुष्य दूसरे मनुष्यों के हृदयों को जीतकर उन पर अपनी आज्ञा चलाना चाहे उसको सबसेप्रथम अपने हृदय पर विजय प्राप्त करनी चाहिये। अपने आपको जीते बिना मनुष्य किसी दूसरे को कदापि नहीं जीत सकता। इसका कारण यह है कि संसारी जीवों को विषय भोगों की इच्छा निर्बल बनाती रहती है, उस निर्बलता के वश होकर मनुष्य अपने लक्ष्य से भ्रष्ट होकर दास बन जाता है, उसका पुरुषार्थ बलहीन हो जाता है। अतः वह दूसरों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि जो व्यक्ति विषय भोगों के दास बनकर आत्म नियन्त्रण न कर सके उनको बाहरी शत्रुओं ने आकर दबा लिया। दिल्ली राज्य सिंहासन पर बैठकर शासन करने वाला चौहान-वंशीय रायपिथौरा पृथ्वीराज बहुत वीर था, उसने अपने पराक्रम से विदेशी आक्रमणकारी शहाबुद्दीन गौरी को १७ बार युद्धक्षेत्र में हराकर बन्दी बनाया था. किन्तु राजनीति की कमी से तथा अपनी शक्ति के अभिमान में १७ बार पकड़ कर उसे छोड़ दिया. पृथ्वीराज चौहान के पतन का कारण एक तो यह राजनैतिक गलती हुई। दूसरी गलती पहले वह यह कर चुका था कि अपनी मौसी के पुत्र कन्नौज के राजा जयचन्द, जो कि उसका मौसेरा भाई था, की सुन्दर युवती लड़की संयुक्ता के रूप पर आसक्त होकर उसका कन्नौज से अपहरण कर लाया, और दिल्ली आकर संयुक्ता के साथ विवाह करके उसको अपनी पत्नी बनाया। यह बात क्षत्रिय धर्म के विरुद्ध थी, परन्तु कामातुर होकर उसने यह अकार्य किया, जिससे राजा जयचन्द उसका प्रबल शत्रु बन गया और अपने अपमान का बदला लेने के लिये शहाबुद्दीन गौरी से मिल गया, उस देशद्रोह जातिद्रोह के कारण १८ वीं बार शहाबुद्दीन गौरी से पृथ्वीराज पर आक्रमण करा कर पृथ्वीराज का पतन कराया। भारत देश में तभी से मुसलमानों का शासन प्रारम्भ हुआ।

मुसलमानों मे भी अधिकतर बादशाह कामातुर, विषयी, मद्यपायी होते रहे अतः उनका शासन भी न टिक सका। लखनऊ के नवाबों की नवाबी कामासक्त होने के कारण ही समाप्त हुई।

काम, क्रोध, मान, मोह, लोभ, ईर्ष्या ये मनुष्य के अन्तरंग शत्रु हैं, इन अन्तरंग शत्रुओं को बिना जीते मनुष्य अपने मन पर विजय नहीं पा सकता और मन पर विजय प्राप्त किये बिना उसमें अन्य व्यक्तियों को जीतने योग्य शक्ति नहीं आने पाती। इसी आत्म शक्ति को विकसित करने के लिये जैनधर्म ने मनुष्य को प्रारम्भ से विविध प्रकार के व्रत ग्रहण करने की शिक्षा दी है। जिससे मन तथा इन्द्रियां जो आत्मा को विषय भोगों में फंसाकर बलहीन न बनाने पावें और मनुष्य प्रारम्भ से ही इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने का अभ्यासी बनता जावे। इस दृष्टि से छोटे छोटे व्रत भी आत्मा की छिपी हुई महान् शक्ति का प्रादुर्भाव करते रहते हैं।

व्रतों के निर्दोष पालन करने के लिये उपदेश दिया गया है कि 'समीक्ष्य व्रतमादेयं मात्तं पाल्यं प्रयत्नतः।' अर्थात्–अपनी शक्ति को तथा व्रत की मर्यादा को अच्छी तरह जांच करके अपनी शक्ति के अनुसार कोई भी व्रत ग्रहण करना चाहिये। जो व्रत ग्रहण कर लिया जावे उसको प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिये। यदि कदाचित् उस व्रत में कोई त्रुटि हो जावे तो उस त्रुटि को दूर करते रहना चाहिये।

व्रती पुरुष पतन के कारण मिल जाने पर भी पतित नहीं हो पाता क्योंकि उसके मन पर व्रत का अंकुश लगा रहता है। जो मनुष्य व्रती नहीं होते, उनका मन उच्छृंखल होता है, अतः गिरावट का अवसर आने पर वह पाप के गड्ढे में गिर जाता है।

जैन कुल में जन्म लेकर मद्य पीने, मांस, अंडे व शहद तथा उदम्बर फल खाने का त्याग स्वयं हो जाता है क्योकि कुलाचार से ये पदार्थ जैनों के घरों मे नहीं आते। फिर भी जब तक इन मद्य, मांस, मधु, उदम्बर फलों के खाने पीने का नियमानुसार त्याग न किया जावे तब तक वह पवित्र कुलाचार दृढ़ नहीं रहने पाता। इसका परिणाम कभी कभी यहां तक दिखाई देता है कि कोई कोई जैन युवक अपने मद्यपायी, मांसभक्षी मित्रों की संगति में पड़कर शराब पीने तथा मांस, अंडा खाने के अभ्यासी बन जाते हैं। जैनधर्म का अनुयायी मांस या अंडा खाने लगे इससे अधिक पतन किसी जैन का और क्या हो सकता है। इस कारण चले आये कुलाचार का पालन भी व्रत नियम लेकर ही करना चाहिय।

नीतिकार ने जो कहा है कि—

विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।

यानी—सदाचार से गिरने (पतित होने) के कारण मिलने पर भी जिनके मन में विकार नहीं आने पाता वे ही मनुष्य धीर वीर होते हैं।

इस नीति के अनुसार धीर वीर बनने वाले व्रती पुरुष ही हो सकते हैं जो किसी तरह का व्रत नहीं लेते वे विकार के कारण मिल जाने पर सदाचार से पतित हो जाया करते हैं, अतएव व्रत, त्याग, नियम, सयम आदि आत्मबल को बढ़ाने वाले, आत्मा को पवित्र तथा धीर वीर बनाने वाले हैं, जो मनुष्य अपना उत्थान करना चाहता हो उसको अपने योग्य कुछ न कुछ व्रत अवश्य ग्रहण करने चाहियें।

मनको विकृत करने वाला सबसे बड़ा दोष 'काम' है। काम विकार के कारण स्त्री तथा पुरुष ऐसे ऐसे भयानक पाप और कुकृत्य कर बैठते है जिनकी तुलना अन्य किसी दुराचार से नहीं की जा सकती। इस कारण सदाचार पालन करने के लिये स्त्रियों को पतिव्रत नियम लेना चाहिये कि मैं अपने विवाहित पति के सिवाय अन्य किसी पुरुष को, वह चाहे कितना ही सुन्दर, बलवान और धनवान क्यों न हो, स्वप्न में भी अपना शरीर न छुआऊंगी। पर पुरुष मेरी दृष्टि मे पिता व भ्राता के समान है।

इसी प्रकार पुरुषों को भी पत्नीव्रत बड़ी कड़ाई के साथ ग्रहण करना चाहिये कि मैं अपनी विवाहित पत्नी के सिवाय अन्य किसी स्त्री का, वह चाहे जितनी आकर्षण रखने वाली सुन्दरी युवती क्यों

न हो, कभी अपना अङ्ग स्पर्श न कराऊंगा। उसके साथ काम क्रीड़ा न करूंगा। अपनी पत्नी के सिवाय संसार की सब मुझसे छोटी लड़कियां मेरी पुत्री के समान हैं, मेरे बराबर आयु वाली बहिन के समान हैं और मुझसे बड़ी माता के समान हैं।

बहुत प्राचीन समय की बात है कि उज्जयिनी नगरी में एक सुदर्शन सेठ रहते थे। सौभाग्य से उनको गृहस्थाश्रम के समस्त सुख प्राप्त थे। वे बड़े सुन्दर थे, उनकी सुन्दरता पर स्त्री पुरुष मोहित हो जाते थे। उनकी भार्या भी बहुत सुन्दरी गुणवती थी, एक पुत्र था तथा घर में अपार लक्ष्मी थी। और इन सबसे बढ़कर वे सदाचार सम्पन्न थे। अन्य स्त्रियों के साथ काम क्रीड़ा का उनके त्याग था। अष्टमी और चतुर्दशी को रात के समय नगर के बाहर स्मशान मे आत्मशुद्धि के लिये नग्न हो खड़े होकर प्रतिमायोग (आत्म ध्यान) किया करते थे।

एक बार वह अपने रथ मे बैठे हुए जा रहे थे कि उस नगर की रानी ने उनको देख लिया। सुदर्शन सेठ का सुन्दर तरुण आकर्षक शरीर देखकर वह उन पर मोहित हो गई, और उनके साथ अपनी काम वासना तृप्त करने के लिये अपनी दासी भेजकर सुदर्शन सेठ को किसी बहाने से अपने महल में बुला लिया और उनसे अपनी वासना तृप्त करने की चेष्टा की, तब सुदर्शन सेठ ने रानी के जाल से बचने के लिये कहा कि बहन ! मैं तो नपुंसक हूं। सुदर्शन सेठ की बात को सत्य समझकर रानी ने दुखित तथा लज्जित होकर सुदर्शन सेठ को महल से चला जाने दिया।

एक बार वसन्त ऋतु की शोभा देखने के लिये सुदर्शन सेठ की पत्नी अपनी दासी और पुत्र के साथ रथ में बैठकर निकली। अचानक रानी की दृष्टि उस पर पड़ी, उसने भोला भाला सुन्दर पुत्र सेठानी की गोद मे देखकर अपनी सखी से पूछा कि यह पुत्र किसका है? उसकी सखी ने उत्तर दिया कि यह पुत्र सेठ सुदर्शन का है। अपनी सखी की बात सुनकर रानी ने अपने मन में कहा कि 'सुदर्शन सेठ ने मुझसे अपने नपुंसक होने की बात असत्य कही थी। किसी तरह वह फिर यहां मेरे पास आजावे तो मैं उसके साथ अपनी इच्छा पूर्ण करूं।'

उसने एक निपुण दूती द्वारा यह कार्य कराना चाहा। दूती ने सुदर्शन सेठ के घर जाकर सेठानी से बात करते हुए यह मालूम कर लिया कि सुदर्शन सेठ अष्टमी चतुर्दशी को रात्रि के समय प्रतिमायोग के लिये स्मशान में जाया करता है।

उज्जयिनी के सात द्वार थे, जिन पर कि पहरा रहता था, रात्रि को कोई भी अपरिचित या संदिग्ध व्यक्ति नगर में न जा सकता था। दूती ने मनुष्य के आकार के मिट्टी के सात पुतले बनवाये। रात को वह एक पुतला कन्धे पर रखकर नगर के एक द्वार से घुसने लगी, पहरेदार ने रोका तो न रुकी। तब पहरेदार ने जैसे ही उसे पकड़ा तो दूती के कन्धे पर रक्खा हुआ पुतला गिर गया। तब दूती क्रोध के साथ बोली कि आज रानी को कामदेव की पूजा करनी थी, उसके लिये यह कामदेव की मूर्ति लिये जा रही थी, तूने उसे गिराकर तोड़ डाला है, अब देख, तुझे इस अपराध का कितना कड़ा दण्ड मिलता है। पहरेदार ने दूती की बात सत्य मान कर दूती से नम्रता के साथ क्षमा मागी।

इसी प्रकार दूती ने दूसरी रात को दूसरे द्वार से, तीसरे दिन तीसरे द्वार से वैसा ही किया और

झूठा बहाना बनाकर पहरेदारों को भयभीत करके अपने वश में कर लिया। जब सातों दरवाजों के पहरेदार उसके परिचित हो गये और उसके बश मे हो गये तब जिस रात को सुदर्शन सेठ ने स्मशान में जाकर प्रतिमायोग किया उस रात को ध्यानारूढ सेठ सुदर्शन को अपने कंधे पर उठाकर नगर के द्वार में से ले आई, पहरेदार ने रानी की दासी समझकर उसे चले जाने दिया। इस तरह उस चालाक दूती के द्वारा सुदर्शन सेठ रानी के महल मे पहुंच गये।

रानी ने सुदर्शन सेठ को अपने पास पहुँचा देखा तो उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने पहले तो सुदर्शन सेठ को कामवर्द्धक रागभरी मीठी बातों द्वारा कामलीला के लिये उत्तेजित करने की चेष्टा की, किन्तु सुदर्शन स्मशान भूमि की तरह रानी के महल में भी ध्यानारूढ़ निश्चेष्ट खड़े रहे। तब रानी उनके शरीर से चिपट गई, जोर से उनका आलिंगन किया, इस पर भी सुदर्शन सेठ का मन विचलित न हुआ, न इन्द्रिय में विकार आया। तब अधीर होकर कामातुर रानी ने सुदर्शन सेठ को बल पूर्वक अपने पलंग पर लिटा लिया उससे सब तरह की काम चेष्टाएँ करने लगी।

संसार में कामातुर मनुष्य तो अपनी कामपिपासा तृप्त करने के लिये स्त्रियों पर बलात्कार किया करते हैं, किन्तु कोई कोई निर्लज्ज कामातुर स्त्रियां भी अपनी कामेच्छा पूर्ण करने के लिये पुरुषों से बलात्कार करती हैं, जैसा कि रानी ने सुदर्शन सेठ से किया। परन्तु सुदर्शन सेठ धन्य है, वह रानी की उन सभी चेष्टाओं से कामातुर न हुआ उसके मन और इन्द्रिय में जरा भी विकार न आया। आत्मध्यान में तन्मय रहा।

रानी ने जब अपनी सारी चेष्टाएं विफल होती देखीं तो अपने शरीर के कपड़े अपने हाथों से फाड़कर शरीर पर अपने नाखूनों के खरोंच लगा लिये और जोर जोर से चीखने लगी। रानी का चीखना सुनकर राजा दौड़ा आया। मायाविनी रानी ने फरेब बनाकर राजा से कहा कि देखिये इस कामातुर बदमाश ने चुपचाप यहां आकर मुझसे बलात्कार करने की चेष्टा की है, आप न आते तो यह मेरा शील अवश्य भंग कर देता। अब आपको दिखाने के लिये चुपचाप साधु की तरह खड़ा हो गया है।

राजा ने रानी की बात पर विश्वास करके बिना कुछ जांच पड़ताल किये सुदर्शन सेठ को शूली पर चढ़ाकर मार डालने की आज्ञा दी। उज्जयिनी की जनता असमञ्जस में थी कि पक्का पर-स्त्री त्यागी (ब्रह्मचारी) सुदर्शन सेठ रानी से बलात्कार करने राजमहल मे क्यों और कैसे गया। सुदर्शन सेठ अपने ऊपर उपसर्ग जानकर आत्म ध्यान में निमग्न रहे, उन्होंने अपनी कुछ सफाई नहीं दी। जब उनको शूली पर चढ़ाया गया, तो सच्चे रहस्य को जानने वाले देवों ने अपने चमत्कार द्वारा शूली पर सिंहासन बना दिया जिस पर बैठे हुए सेठ सुदर्शन को सारी जनता ने देखा। देवों ने तथा मनुष्यों ने सेठ सुदर्शन का जय जय कार किया। तब राजा को सुदर्शन सेठ की सच्चरित्रता का तथा रानी के दुराचार का पता लगा। राजा अपने अविवेक पर तथा रानी के दुराचार पर लज्जित हुआ। सुदर्शन सेठ कुछ समय बाद मुनि होकर तप करके पटना से मुक्त हुए।

ग्रहण किये हुए व्रत का पालन सेठ सुदर्शन के समान करना चाहिये।

प्रवचन नं० १३५

स्थान— तिथि—

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली। आश्विन शुक्ला ३ मंगलवार, १८ अक्टूबर १६५८

शारीरिक मोह

बनावटी सौन्दर्य बनाने वाले स्त्री पुरुष मुख पर पाऊडर लगाते है। बालों की सफेदी छिपाने के लिए उनको खिजाब आदि लगा कर काला कर लेते हैं। तेल, वैसलीन आदि लगाकर मुख मण्डल पर कान्ति लाने का यत्न करते है। ओष्ठ, नखों आदि पर लाल रंग लगा लेते हैं। इसी तरह बहुत से मनुष्य अपना बनावटी ठाठ दिखाने के लिए किराये पर सुन्दर वस्त्र लेकर विवाह आदि उत्सवों में सम्मिलित हुआ करते है, बहुत से व्यक्ति विवाह क समय वर के भी कपड़े उधार या किराये पर ले लेते है। ऐसा ही एक विलासप्रिय (शौकीन) मनुष्य किसी बरात में सम्मिलित होना चाहता था, परन्तु उसके पास उसका शौक पूरा करने के लिए अच्छे कपड़े नहीं थे।

वह एक धोबी के पास गया, धोबी को कपड़ों के किराये का प्रलोभन देकर, धोबी के पास आये हुए किसी अन्य मनुष्य के कपड़े अपने शरीर के नाप के लेकर घर आया और उन किराये के वस्त्रों को पहन कर अपनी बनावटी रईसी जतलाता हुआ, अभिमान और अकड़ के साथ बरात में सम्मिलित हो गया। जो लोग उससे अपरिचित थे, उन्होंने उसे अच्छा प्रभावशाली धनाढ्य समझा।

संयोग से उसी बरात में वह मनुष्य भी आया हुआ था जिसके कपड़े वह धोबी से लेकर पहन आया था, उसने जब अपने कपड़े उस बनावटी रईस के शरीर पर देखे, तो उसे पहले कुछ सन्देह हुआ। फिर उसने उन वस्त्रों पर अपने चिन्ह देख कर निश्चय कर लिया कि ये वस्त्र मेरे ही हैं। तब उसने सारे बरातियों के सामने उसे लज्जित किया और बरात में ही अपने समस्त वस्त्र उतरवा लिए। उस बनावटी रईस की रईसी का सारा नशा रफू चक्कर हो गया, उसकी अकड़ और अभिमान मिट्टी में मिल गया, यहाँ तक कि उसको बरात छोड़ कर चुपचाप भागना पड़ा।

ठीक इसी तरह स्त्री पुरुषों को यह शरीर कर्म द्वारा कुछ समय के लिए किराये पर मिला हुआ है, इस अस्थायी घर में रह कर मनुष्य शरीर की सुन्दरता पर मोहित हो गया है। रात दिन इसी की सेवा सुश्रूषा में लगा रहता है, शरीर को अपना ही मान बैठा है, इसके द्वारा आत्म कल्याण ता क्षण भर भी नहीं करता, सदा इसके शृङ्गार में तन्मय रहता है। जिस प्रकार घोड़े का सईस रात दिन घड़े की सेवा किया करता है, उसको खिलाता है, पानी पिलाता है, मालिश करता है, उसकी लीद साफ करता है, सब तरह की सेवा चाकरी करता हुआ अपना जीवन बिता देता है किन्तु कभी उस पर सवारी करके लाभ नहीं कर पाता, ठीक वैसी ही दशा इस शरीर-मोही जीव की जन्म भर बनी रहती है। शरीर को अपनी ही वस्तु समझ कर इसे अभिमान हो जाता है, किन्तु आयु कर्म जब इससे बलात यह किराये का घर खाली कराता है, तब इसका सारा नशा उतर जाता है। यह शरीर किसका है, जीव का अपना है या किराये का है. इसका निर्णय उस समय जीव को होता है। इसकी सारी शान, सारी ऐंठ, अकड़, मिट्टी में मिल जाती है।

संसारी जीव के साथ ऐसी घटना अनन्तों बार हो चुकी है और दूसरों के साथ होने वाले इस व्यवहार को देखता रहता है, परन्तु फिर भी इस शरीर का दास बना हुआ, अपने अविनश्वर स्थायी सौन्दर्य को भूल गया है और इस शरीर की अस्थायी विनश्वर सुन्दरता पर मोहित हो गया है।

कविवर भूधरदास जी ने शरीर का अन्तरंग चित्र खींचते हुए लिखा है—

मात पिता रज वीरज सों उपजी सब सात कुधात भरी है,
माखिन के पर माफिक बाहर, चाम के बेठन बेढ़ धरी है।
नाहिंतो आय लगें अब ही बक वायस जीव बचै न घरी है,
देह दशा यह दीखत भ्रात घिनात नहीं किन बुद्धि हरी है ॥ २० ॥

जैनशतक

मनुष्य का यह शरीर, जिस पर कि मुग्ध होकर मनुष्य अपने आप को भूल गया है, उन महा अशुचि मलिन पदार्थों से उत्पन्न हुआ है जिन्हें मनुष्य स्वयं अपवित्र घृणित मानता है। वीर्य का जरासा भी धब्बा लगते ही उस वस्त्र को अपवित्र समझ कर धो डालता है, स्वयं स्नान करता है। स्त्रियां जिस रज के निकलने पर तीन दिन तक अपवित्र रहती हैं, दर्शन, पूजन स्वाध्याय आदि धार्मिक कार्य तथा भोजन बनाना आदि व्यावहारिक कार्य नहीं किया करतीं, उस रज और वीर्य से मनुष्य से शरीर का निर्माण होता है। रस, रक्त, मांस, चर्बी, हड्डी, मज्जा, वीर्य से घृणित धातुऐं तथा थूक, नासिकामल, कफ आदि इस शरीर में भरे हुए हैं। जिस प्रकार मक्खी के बहुत पतला चमकीला पर होता है वैसीही पतली चमकीली चर्म की चादर से ये रक्त, मांस, चर्बी, हड्डी, पेशाब, कफ आदि घृणित दुर्गन्धित पदार्थ ढके हुए हैं। यदि यह चमड़े की चादर शरीर पर न होता तो नेवले, कौए, गिद्ध, कुत्ते, बिल्ली आदि मांस भक्षी पशु पक्षी इसे घड़ी भर भी न रहने देते। भाई शरीर की ऐसी घिनावनी दशा देख कर भी तुझे शरीर से घृणा नहीं आती, तेरी बुद्धि किसने छीन ली है।

एक बार शर्दी के दिनों में काश्मीर में दो लड़कों ने विचार किया कि मिट्टी के बर्तन में पानी भर कर छत पर रख दें; रात में ठण्डक से वह पानी जम कर बर्फ हो जायगा उस जमाई हुई बर्फ को दूसरे दिन खावेंगे। ऐसा निश्चय करके एक मिट्टी का छोटा सा बर्तन ढूंढ लाये। फिर इधर उधर पानी देखने लगे शीघ्रता में उन्हे पानी न मिला, तब दोनों ने अपने पेशाब से उस बर्तन को भर लिया और उसको झटपट छत के ऊपर रख आये। रात की ठण्डक में वह पेशाब जम कर सफेद बर्फ बन गया।

दूसरे दिन दोनों बच्चे अपने प्रयत्न से जमाई हुई उस बर्फ को छत से उठा लाये और उसे देख कर बड़े प्रसन्न हुए। वे उस बर्फ को खाने का विचार करने लगे, तब उनमें से एक बोला कि भाई पेशाब की बर्फ है इसे धो लेना चाहिये। जब वे बर्फ धोने लगे तो इतने में उन में से एक बच्चे का पिता आ गया। उसने उनसे पूछा कि क्या कर रहे हो? तब उन बच्चों ने बर्फ दिखा कर कहा कि अपने पेशाब की जमाई हुई बर्फ को खाने के लिये पानी से धोकर शुद्ध कर रहे हैं। पिता बोला बेटा! पेशाब की बर्फ धोने से शुद्ध नहीं हो सकती, इसकी तो जड़ ही अशुद्ध है, उसकी शुद्धि नहीं हो सकती।

ऐसी ही बात शरीर के विषय में है, वज्रनाभि चक्रवर्ती की वैराग्य भावना में भूधरदास जी ने लिखा है—

देह अपावन अथिर घिनावनि या में सार न कोई।
सागर के जल सों शुचि कीजे तौहू शुद्ध न होई॥

यानी—यह शरीर अपवित्र, अस्थिर घिनावना है इसमे श्रेष्ठ वस्तु कोई भी नहीं है। यदि इस शरीर को समुद्र के अपार जल से भी धोकर शुद्ध किया जावे तो भी यह शरीर पवित्र नहीं हो सकता।

जिस तरह टट्टी पेशाब के भरे हुए घड़े को ऊपर पानी डाल डाल कर साबुन से मल मल कर शुद्ध नहीं किया जा सकता, उसी तरह समस्त नदियों और तालाबों में स्नान करके भी शरीर की अशुद्धि दूर नहीं की जा सकती। लोग मुख धोकर, १०-५ कुरले करने के अनन्तर मुख को शुद्ध समझ लेते हैं किन्तु शुद्धि की यह कल्पना ही है, कुरले कर लेने के बाद भी मुख में थूक लार आदि अशुचि पदार्थ रहते ही हैं। यदि कुरले कर लेने पर मनुष्य किसी पर थूक दे, तो फिर मुख शुद्धि की यथार्थता सामने आ जाती है।

कविवर भूधरदास जी कहते हैं—

नवमल-द्वार स्रवैं निशि वासर, नाम लिये घिन आवै,
व्याधि उपाधि अनेक जहां तहां, मूरख मोह बढ़ावै।

यानी—दो कान, दो नथुवे, एक मुख, दो नेत्र, मूत्रेन्द्रिय तथा गुदा, शरीर के नौ द्वारों से रात दिन शरीर के भीतर का मैल बहता रहता है, उन मैलों का नाम लेते हुए भी घृणा आती है। जिस टट्टी नासिका मल, कफ आदि को देख कर मनुष्य नाक भौं सिकोड़ता है, वे ही घृणित वस्तुएँ शरीर के भीतर प्रतिक्षण बन बन कर बाहर निकलती रहती हैं। इसके सिवाय वात, पित्त, कफ के बिगड़ने से शरीर में अनेक प्रकार के रोग शरीर में उत्पन्न हुआ करते हैं, बाहरी पदार्थों के आघात से अनेक औपाधिक रोग शरीर में पैदा हो जाते हैं। ऐसे शरीर से प्रेम मूर्ख पुरुष ही बढ़ा सकता है।

एक कल्पित कथा है कि मार्ग में एक जगह टट्टी पड़ी हुई थी, नगरपालिका म्युनिसिपालिटी का एक कर्मचारी जब उसको उठाने लगा तो वह टट्टी उससे बोली कि सावधान, अपने गंदे हाथ मुझ से मत लगा। वह कर्मचारी टट्टी की बात सुन कर दङ्ग रह गया। उसने टट्टी से कहा कि क्या मेरे हाथ तुझ से भी अधिक गन्दे हैं? इसके उत्तर में टट्टी बोली कि हां, तेरे हाथ मुझ से भी अधिक गन्दे हैं। यह सुन कर कर्मचारी ने कौतूहल के साथ टट्टी से पूछा—'कैसे।' टट्टी ने उत्तर दिया कि 'मैं कल दूध के रूप में थी, मेरे भीतर से सुगन्धि आ रही थी, एक सफेद स्वच्छ रंग ऐसा था कि देखने वालों के नेत्र मुझे देखने के लिये लालायित होते थे, ऐसे आकर्षक रूप दूध की दशा मे मेरा था। एक भले आदमी ने मुझे उठा कर पी लिया, अपने मुख मार्ग से ले जाकर अपने पेट में पहुँचा लिया। ४-५ घंटे पेट में रखकर गुदा मार्ग से जब मुझे बाहर निकाला तब मेरी यह दशा हो गई कि सब कोई मुझ से घृणा करने लगा,

अब फिर तू मुझसे हाथ लगाने आगया है, पता नहीं तेरा हाथ लग जाने से अब मेरी और भी क्या दुर्दशा हो। नगरपालिका का कर्मचारी टट्टी की युक्तियुक्त बात सुनकर दंग रह गया और उसको कुछ सन्तोष जनक उत्तर न दे सका।

संसार में सुगन्धित रंग विरंगे फूल, मनोहर फल, तेल, इत्र, अनेक सुगन्धित वनस्पतियां तभी तक सुन्दर और सुगन्धित रही आती हैं जब तक कि इस शरीर से उनका समागम नहीं होने पाता, शरीर से समागम हो जाने के बाद (भोग उपभोग में आने पर) उनकी सुगन्धि और आकर्षक रूप नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। इसी लक्ष्य से श्री पं० दौलतराम जी ने कहा है 'जे जे पावत वस्तु जगत में, ते इन सर्व बिगारी'। यानी—संसार में कपूर आदि जो-जो पवित्र पदार्थ हैं इस शरीर ने उन सबको विकृत करके बिगाड़ डाला है। उनको अपवित्र कर दिया है।

पं० भूधरदास जी रहस्य की बात कहते हैं—

> **पोषत तो दुख दोष करै अति शोषत सुख उपजावै,**
> **दुर्जन देह सरूप बराबर मूरख प्रीति बढावै।**
> **राचन योग्य सरूप न याको विरचन योग्य सही है,**
> **यह तन पाय महातप कीजे यामें सार यही है॥**

अर्थात्—जिस तरह सर्प आदि दुष्ट जीवों को दूध आदि पिलाकर पुष्ट करो तो उनमें विष आदि की ही वृद्धि होती है, दुष्ट मनुष्यों के पालन पोषण करने से संसार में दुष्टता की वृद्धि होती है, स्वयं अपने पालन पोषण करने वाले को दुखदाता बन जाते हैं और यदि दुष्टों को दण्ड देकर दबा दिया जावे तो वे सीधे होकर सुखकारी बन जाते हैं। इसी प्रकार यह शरीर पुष्ट हो जाने पर धर्मध्यान, पूजन, स्वाध्याय में प्रमाद उत्पन्न करता है। कामवासना, अभिमान आदि की वृद्धि करता है और यदि उपवास, एकासन, आत्मध्यान, कायोत्सर्ग आदि कार्यों द्वारा इस शरीर को दण्डित किया जावे, सुखाया जावे तो यही शरीर आत्मा को सुखदायक बन जाता है। इस तरह शरीर और दुर्जन मनुष्य का स्वभाव प्रायः एक समान है। अतः शरीर से प्रीति अज्ञानी ही किया करते हैं। यह शरीर रुचि या अनुराग करने योग्य नहीं है, विरक्ति करने योग्य है। इसीलिये इस शरीर को पाकर महान तपश्चरण करना चाहिये, मानव शरीर का सार-अंश इतना ही है।

संसार का प्रत्येक पदार्थ किसी अपेक्षा से लाभदायक है और किसी दृष्टिकोण से वह हानिकारक भी है, यही सिद्धान्त शरीर पर भी लागू होता है। यों सुन्दरता में तथा अनेक प्रकार की विक्रिया आदि विशेषताओं के कारण देवों का दिव्य शरीर मनुष्य के औदारिक शरीर से अच्छा है, परन्तु सात कुधातुमय यह शरीर यदि ठीक तरह से प्रयोग में लिया जावे तो यही औदारिक शरीर दिव्य शरीर से भी अधिक लाभदाता है, जिस संयम का परिपालन देव नहीं कर सकते उस संयम को इस औदारिक शरीर द्वारा ही धारण किया जा सकता है। जिस ध्यान के द्वारा यह आत्मा कर्मपुञ्ज भस्म करके परमात्मा बन जाता है वह धर्मध्यान, शुक्लध्यान भी इसी शरीर के द्वारा ही हो सकता है। इस आत्मा का पूर्ण

अभ्युदय इस शरीर के सहारे सम्पन्न होता है। अतः यह अपवित्र भी शरीर आत्मा की पवित्रता का परम-साधन है।

इन सब बातों को दृष्टि में रखकर मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने शरीर का आवश्यकतानुसार पालन-पोषण भी करे। रोग आदि व्याधियों से भी उसकी सुरक्षा करे, आवश्यकता अनुसार नींद लेकर शरीर को कुछ विश्राम भी दे, परन्तु अपनी सारी शक्ति इसी की सेवा में न लगा दे, इस नौकर से अपना आत्मकल्याण का कुछ काम भी लेवे। नौकर का काम नौकर से अवश्य कराना चाहिये। मस्तिष्क आत्म-चिन्तन का कार्य कुछ समय अवश्य करे। नेत्रों से भगवान् का दर्शन, शास्त्रों का स्वाध्याय, गुरु का दर्शन करे, मुख से भगवान् की स्तुति करे, शास्त्र पाठ करे, गुरु स्तवन करे, मधुर सत्य भाषण करे, हित मित प्रिय वचन बोले। हाथों से भगवत्पूजन, दान, परउपकार करे। दीन दुखियों को हाथ का अवलम्बन दे, शुभ कार्य करे, पैरों से तीर्थयात्रा करे, प्रति दिन मन्दिर जावे, गुरु के पास जावे, अच्छे कार्य करने के लिये गमन करता रहे। कानों से शास्त्र का उपदेश गुरु की शिक्षा का श्रवण करता रहे। तथा शरीर को जड़ पौद्गलिक समझ कर इससे मोह ममता न करे, इसे पर-पदार्थ ही समझता रहे।

प्रवचन नं० १३६

स्थान— श्री दिगम्बर जैन मंदिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि— आश्विन शुक्ला ४ बुधवार, १६ अक्टूबर १६५५

नश्वरता

गंगा नदी हिमालय पर्वत से निकली है, उसके उद्गम स्थान को गंगोत्री कहते हैं। अपने उद्गमस्थान से निकल कर वह बहुत दूर तक पर्वतों में बहती रही है, उसके बाद मैदान में उसका बहाव प्रारम्भ हुआ है। मैदान में बहते हुए गंगा का प्रवाह सैकड़ों मीलों तक बहता हुआ हरिद्वार, प्रयाग, बनारस, पटना आदि नगरों को लांगता हुआ कलकत्ता के निकट समुद्र में जाकर मिल गया है। भारत के उत्तरी क्षेत्र से निकल कर दक्षिण पूर्व तक उसका प्रवाह चल रहा है। गंगा का यह लम्बा प्रवाह निरन्तर चलता रहता है, कभी उसमें रुकावट नहीं आती। मनुष्य प्रयाग, बनारस आदि किसी एक नगर को लक्ष्य करके यों भले ही समझ ले कि गंगा का जल आज भी वही है जो दस वर्ष पहले था, परन्तु वास्तविकता यह है कि गंगा का जल कहीं भी स्थिर नहीं है, यह सतत बह रहा है। बहाव का मतलब ही यह है कि जो जल के कण आज हरिद्वार में हैं वे कल बहकर वहां से ५०–१०० मील दूर पहुंच जायेंगे। प्रतिक्षण वे आगे आगे चलते चले जायेंगे। बहते बहते जब वे जल कण समुद्र में पहुंच जायेंगे तब वे समुद्ररूप हो कर ठहर जायेंगे। प्रवाह का जो भाग उत्तर से दक्षिण की ओर बह गया वह फिर लौटकर वापिस नहीं आता।

समुद्र में पहुंच कर गंगा का प्रवाह थंभ तो गया परन्तु वहां पर भी वह निष्क्रिय नहीं बना रहता, वहां पर सूर्य का ताप उन जल कणों को भाप बनाकर उड़ाता रहता है, समुद्री जल भाप बनकर

बादल रूप में परिणत होता रहता है। बादल वायु के झकोरों से उड़ते उड़ते कहीं के कहीं जा पहुंचते हैं, ठंडे पवन के कारण वे पुनः जल कण बनकर भूमंडल पर बरस जाते हैं।

ऐसा ही क्रम अन्य पदार्थों का है। यद्यपि जल, वायु आदि अनेक पदार्थ गतिशील हैं वे प्रति समय स्थान स्थानान्तर रूप गति करते रहते हैं, अतः उनकी क्रियाशीलता सब किसी को दिखाई देती है परन्तु जो पदार्थ एक ही स्थान पर रहे आते हैं, गतिशील नहीं हैं। प्रतिक्षण परिणमन उनमें भी होता रहता है। पदार्थ का जो रूप पहले क्षण में होता है, वह दूसरे क्षण में नहीं रहने पाता। जो रूप दूसरे क्षण में है, वह तीसरे क्षण में नहीं रहता, प्रतिक्षण पलटता रहता है। इस कारण वह अपने स्थान पर ही रह कर प्रकारान्तर से गतिशील बना रहता है। जिस तरह घडी अपने एक स्थान पर रहते हुए अपनी टिक टिक आवाज़ के साथ प्रतिसमय चलती रहती है, उसकी कोई भी सुई स्थिर नहीं रहती, निरन्तर चलती रहती है। घंटे की सुई बहुत धीमी चलती है, मिनट की सुई की चाल उससे तेज है और सैकण्ड की उससे भी अधिक शीघ्रगामी है। हमारी दृष्टि से सैकण्ड की चाल दीख पडती है परन्तु सूक्ष्म विचार दृष्टि से देखें तो उसकी चाल प्रतिक्षण चालू है। क्षण तो सैकण्ड से बहुत तेज है, एक सैकण्ड में असंख्य क्षण होते हैं। सारांश यह है कि घड़ी अपनी जगह पर रहती हुई भी बहुत तेजी के साथ प्रकारान्तर से चल रही है।

घड़ी की चाल की तरह ही प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण रूपान्तर करती जा रही है। जिस तरह वायुयान (हवाई जहाज) में क्रिया स्वयं होती है, उड़ने की शक्ति उसमें किसी दूसरे पदार्थ से नहीं आया करती, उसी में निहित है परन्तु उसको वायु का सहारा मिलना भी नितान्त आवश्यक है, वायु न हो तो कोई भी वायुयान उड़ नहीं सकता। इसी तरह यद्यपि प्रत्येक पदार्थ में परिणमन करने की उपादान शक्ति विद्यमान है किन्तु काल द्रव्य की सहायता भी उन्हें अपेक्षित रहती है। इसी कारण इस बात को यों कह लिया जावे कि काल द्रव्य किसी भी पदार्थ को एक ही दशा में नहीं रहने देता, स्वयं प्रतिसमय बदलता रहता है और अन्य पदार्थों को बदलाता रहता है, तो कुछ अनुचित नहीं है।

खेत में गेहूँ का दाना बोया जाता है, उसे पृथ्वी, जल, वायु की गर्मी, नमी हवा आदि लगती है वह गेहूँ का बीज प्रतिक्षण बदलता हुआ अंकुर निकालता है फिर स्वयं अदृश्य होकर क्रमशः पौधा बनता चला जाता है और छह मास के भीतर अपना बचपन, प्रौढ़ता और वृद्ध अवस्था बिता कर अन्त में जीव शून्य होकर मर जाता है। यदि उस गेहूँ को न बोया जाय तो क्रम से उसका आटा, रोटी, भोजन, टट्टी आदि पर्याय पलटती जाती हैं। यदि गेहूँ को यों ही किसी भण्डार में पड़ा रहने दिया जाय, तो वह एक स्थान पर अछूता पड़ा हुआ गेहूं भी प्रतिसमय पुराना होता जाता है और उसका अन्तस्तत्व बदलता जाता है। बदलते बदलते उसका खाद्य-उपयोगी तत्व क्षीण होता जाता है और कुछ दिन में वह सड़ कर धूल हो जाता है। यही बात लोहा, सोना, पत्थर आदि कठोर पदार्थों के विषय में है। पर्वत दीखने को जैसे के तैसे दीखते हैं, जैसे दस वर्ष पहले हिमालय था वैसा ही १० वर्ष बाद भी है परन्तु यह अपरिवर्तन मोटी दृष्टि से है, सूक्ष्म दृष्टि से तो प्रतिसमय उसके कण कण में परिवर्तन हो रहा है।

मनुष्य के लिये भी यह बात है। कभी वह पिता के कुछ वीर्य कणों से रज कण माता के गर्भाशय में सम्बद्ध होकर गर्भ का प्रारम्भ करते हैं, वह गर्भ प्रतिक्षण गर्भाशय में बढ़ता रहता है, प्रथम मास में बहुत छोटा होता है फिर प्रति मास उल्लेखनीय वृद्धि करता हुआ नौ मास में पूर्ण हो जाता है।

तब वह मनुष्य का पुतला माता के उदर से बाहर आता है तब उसका शैशवकाल प्रारम्भ होता है। समय प्रति समय, दिन प्रति दिन, मास प्रति मास, वर्ष प्रति वर्ष बढता हुआ वह क्रमशः चलने फिरने लगता है, बोलने लगता है, बुद्धि परिपक्व होती जाती है, खेलने कूदने लगता है, शरीर बढ़ता रहता है, फिर वह किशोर वय में आता है। किशोर अवस्था समाप्त होकर नया यौवन प्रारम्भ होता है, शरीर तथा आत्मा के गुणों में और अधिक विकास होता जाता है। शारीरिक वृद्धि, बल, पराक्रम ३५ वर्ष तक उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, यौवन अपनी पूर्णता पर जा पहुंचता है। तदनन्तर शारीरिक वृद्धि रुक जाती है, प्रौढ अवस्था प्रारम्भ होती है। शरीर का विकास तो थम जाता है परन्तु आत्मा का विकास नहीं थमता। बुद्धि में विकास होता रहता है अनुभव बढ़ता रहता है।

शरीर की वृद्धि रुक जाती है किन्तु उसमें परिवर्तन चालू रहता है। ४० वर्ष पीछे शारीरिक तत्व पुराने होने लगते हैं, शरीर का ह्रास होना प्रारम्भ होता है, प्रौढ़ता बढ़ती जाती है, वृद्ध अवस्था निकट आती जाती है। साठ वर्ष के बाद वृद्ध अवस्था शुरू हो जाती है, शरीर का बल क्षीण होता हुआ शरीर को सभालने में असमर्थ होने लगता है। यह निर्बलता बढ़ते बढ़ते प्रायः १०० वर्ष तक पहुँच जाने पर शरीर को झकझोर डालती है, तब आत्मा शरीर को अपने अयोग्य समझ कर छोड़ जाता है, जिसको कि शारीरिक मृत्यु कहते हैं।

शरीर के इस प्रतिक्षण के परिवर्तन से तथा शरीर की मृत्यु से कोई भी व्यक्ति नहीं बचता। इन्द्र, धरणीन्द्र, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण आदि पराक्रमी पुरुष जिनका कि जीवन में प्रायः कभी मान भग नहीं होता, जिनके प्रबल पराक्रम के सामने समस्त जनता झुकती है, मृत्यु के सामने उनका भी मान-भग हो जाता है, उन्हें भी झुकना पड़ता है।

कविवर भूधरदासजी कहते हैं—

कैसे कैसे बली भूप भूपर विख्यात भये, वैरी कुल कांपे नैक भौंह के विकार सों,
लंघेगिरि सायर दिवायर से दिपैं जिनो कायर किये हैं भट कोटिन हुँकार सों।
ऐसे महामानी मौत आये हू न हार मानी, क्योंहि उतरे न कभो मान के पहार सों,
देवसों न हारे पुनि दानेसों न हारे, और काहूसों न हारे इक हारे होनहार सों ॥७२॥

अर्थात्—कैसे कैसे महान् बलवान् राजा इस पृथ्वी पर प्रसिद्ध हो चुके हैं जिनकी जरासी क्रोध भरी टेढ़ी भौं को देखकर शत्रु पक्ष भय से कांपने लगता है। जिन्होंने दिग्विजय करने के लिये उन्नत अलघ्य पर्वतों को उल्लघन किया, अपार सागरों को पार किया। जिनका तेज सूर्य के समान दैदीप्यमान था। करोड़ों योद्धा जिनकी जरासी हुंकार सुनते ही शूरवीरता खोकर कायर बन जाते थे। ऐसे महाअभिमानी शक्तिशाली राजा, जो कि मृत्यु का भी भय न खाते थे, जो कि अपने जीवन मे कभी भी अभिमान के पर्वत से नीचे न उतरे, जो न देवों से कभी हारे, न राक्षसों से जिन्होंने कभी हार खाई, इनके सिवाय वे कभी किसी से भी न हारे, उनको यदि हारना पड़ा तो अपनी दुर्भाग्यवश होने वाली बुरी होनहार से हारना पड़ा। यानी—दुर्भाग्य ने उनके सारे बल पराक्रम तेज का नष्ट भ्रष्ट कर डाला। जैसे सुभौम चक्री।

इसके आगे वे लिखते हैं—

लोहमई कोट केई कोटन की ओट करो कांगुरेन तोप रोपि राखो पट भेरिकै,
इन्द्र चन्द्र चौकायत चौकत है चौकी देहु चतुरंग चमू चहुँ ओर रहो घेरिकै।
तहां एक भौंहरा बनाय बीच बैठो पुनि बोलो मत कोऊ जो बुलावै नाम टेरि कैं,
ऐसे परपंच पांति रचो क्यों न भांति भांति के तौहू न छोरै जम देखो हम हेरिकैं ॥

यानी—कोई मनुष्य मृत्यु से बचने के लिये ऐसा बड़ा मजबूत किला बनवावे जिसके अनेक फौलादी (लोहे) परकोटे हों और उन कोटों के कांगुरों पर (ऊपर) दूर तक गोला बरसाने वाली तोपें रखदी गई हों, उस किले के समस्त द्वार अभेद्य फाटक लगाकर बन्द कर दिये हों, उन द्वारों पर इन्द्र, चन्द्र, धरणीन्द्र निरन्तर पहरा दे रहे हों, उस किले की रक्षा के लिये घुड़-सवार, रथ-सवार, हाथी-सवार और पैदल सेना चारों ओर से घेरे हुए तैयार खड़ी हो। उस किले के भीतर एक ऐसा तलघर (पृथ्वी के भीतर घर) बनवाकर उसमें चुपचाप बैठ जावे, कोई भी उसका नाम पुकार पुकार कर बुलावे तो भी कुछ उत्तर न दे। ऐसे तरह तरह के सभी प्रपंच क्यों न कर लिये जावें परन्तु यमराज (मृत्यु) वहाँ भी उसको नहीं छोड़ सकता, मृत्यु वहाँ पर भी आकर देख ही लेती है। ऐसा हम निःसन्देह समझते हैं अर्थात् मृत्यु सभी जगह पहुँच जाती है उसके लिये अभेद्य या न पहुँचने योग्य बाधा कोई भी नहीं है।

जिस प्रकार इस अभिमानी मनुष्य का जीवन क्षण-भगुर नश्वर है, इसकी धन सम्पत्ति लक्ष्मी भी चंचल-चलायमान है। उसको न आते हुए देर लगती है, न जाते हुए कुछ देर लगती है। नीतिकार ने कहा है—

सदायाति यदा लक्ष्मी नालिकेर फलाम्बुवत्।
विनिर्याति यदा लक्ष्मीर्गजभुक्तकपित्थवत् ॥

यानी—जब धन आता है तो छप्पर फाड़कर ऊँचे वृक्ष पर लगे हुए नारियल के फल में आये हुए पानी की तरह धन चुपचाप आजाता है। और दुर्भाग्यवश जब वह धन चले जाने का मार्ग बनाता है तब ऊपरी सब ठाठ बने रहते भी ऐसे चला जाता है जैसे खाये हुए कैथ को हाथी अपनी टट्टी के साथ निकाल देता है। हाथी कैथ का फल बिना तोड़े फोड़े साबुत खाजाता है। जब वह खाया हुआ कैथ टट्टी के साथ हाथी के पेट से बाहर निकलता है तब वह वैसा ही पूरा साबुत निकलता है टूटा फूटा या छेद्रदार नहीं होता, परन्तु भीतर से बिल्कुल पोला रबर की गैंद की तरह खाली होता है, उसमें से गूदा किस तरह हाथी के पेट में निकल जाता है यह पता नहीं चलता।

भारत में पाकिस्तान बनने से पहले सिन्ध पंजाब आदि पाकिस्तानी प्रान्त में बड़े बड़े सेठ, जमींदार, व्यापारी, उद्योगी धनिक हिन्दू थे, पाकिस्तान बनते ही उनकी सम्पत्ति नष्ट भ्रष्ट होगई, उनके दरिद्र होते हुए कुछ भी देर न लगी। भारत में ६४० राजा लोग थे, उनका राज्य छिनते एक वर्ष भी न लगा, आज वे ही राजा महाराजा अपने निर्वाह के लिये भी परमुखापेक्षी बन गये हैं। जमीन्दारों की जमीनें छिन जाने से, जागीरदारों की जागीरें छिन जाने से जमींदारों जागीरदारों की ऐसी

दुर्दशा हुई है कि उनमें से बहुत से पागल हो गये हैं। इस प्रकार लक्ष्मी के आते जाते देर नहीं लगती, लक्ष्मी सदा किसी के पास स्थिर नहीं रहती।

जिस युवा-अवस्था (जवानी) पर मनुष्य को अभिमान होता है, एक साधारण से रोग के लग जाने पर जवानी का जोश कपूर की तरह उड़ जाता है।

मित्र, स्त्री, पुत्र परिवार के बिछुड़ते देर नहीं लगती है, अच्छे स्वस्थ बलवान् मनुष्य जरासी दुर्घटना से मृत्यु के मुख में चले जाते हैं। इस प्रकार इस संसार में सभी पदार्थ क्षण-भंगुर हैं, क्षण-स्थायी हैं। फिर मनुष्य का गर्व करना वृथा है।

इन सब बातों को ध्यान में रखकर मनुष्य को अपने जीवन में झटपट अच्छे कार्य कर डालने चाहियें, क्योंकि जीवन प्रत्येक क्षण में ऐसा बीतता जाता है जिस तरह फूटे हुए घड़े में से एक एक बूंद पानी टपक टपक कर कम होता जाता है। आलस्य में एक सैकण्ड भी न खोना चाहिये।

मनुष्य जीवन का सब से बड़ा काम आत्मा की शुद्धि करना है। आत्मा पापाचरण द्वारा मलिन होता है और धर्माचरण द्वारा स्वच्छ होता है। इस कारण जिस तरह बाहरी शान के लिये स्वच्छ वस्त्र पहनते हो उसी तरह भीतरी शान के लिये धर्माचरण से आत्मा को स्वच्छ बनाते रहो। जीवन के प्रत्येक समय वीतराग सर्व हितकारी अर्हन्त भगवान् को न भूलो और न अपनी मृत्यु को भूलो।

प्रवचन नं० १३७

स्थान— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि— आश्विन शुक्ला ५ बृहस्पतिवार २० अक्तूबर १९५५

सुजन–समागम

यह संसार विचित्र प्राणियों से भरा हुआ है। किन्हीं जीवों में क्रोध कषाय की उग्रता पाई जाती है, जरा जरा सी बात पर उनका क्रोध जाग्रत हो उठता है। क्रोध कषाय आत्मा की एक ऐसी अग्नि है जो अपने आपको तथा दूसरों को भस्म कर देती है। क्रोध में अन्धा होकर जीव का चित्त ठिकाने नहीं रहता उसकी बुद्धि उसका विवेक विदा हो जाता है, अतः वह न तो स्वयं कुछ विचार सकता है और उस समय न किसी दूसरे का उपदेश उसके लिये कार्यकारी होता है, उसके हृदय की महान शीलता जाती रहती है, किसी की भी तीखी हितकारी बात उसे सहन नहीं होती, उसकी शांति सन्तोष दब कर निकम्मे हो जाते हैं। यदि वह साधु हो तो भी उस समय क्रोध के कारण चाण्डाल बन जाते हैं, उसके हृदय से दया जाती रहती है, क्रूरता उसका स्थान ले लेती है। क्रोधी मनुष्य इस तरह क्रोध के कारण अपने कोमल स्वच्छ भावों की हत्या कर लेता है।

उसके बाद अपने मुख से गाली गलौज अपशब्द बकता हुआ दूसरे के हृदय में क्षोभ उत्पन्न करता है, इसका परिणाम यह होता है कि सुनने वाला निर्बल असहाय हुआ तो भयभीत होकर दुःखित हृदय से उन अपशब्दों को सुनता रहता है, उसके दुर्वचनों से उसका हृदय रो उठता है, उसके हृदय में

तरह तरह के बुरे भाव उत्पन्न होते हैं और वह उस अपमान का बदला लेने का निश्चय कर लेता है। कालान्तर में वह किसी उपाय से उन दुर्वचनों का दण्ड देने की योजना करता है और अवसर पावे ही उसका सर्वनाश कर डालता है।

यदि क्रोधी दुर्वचन सुनने वाला बलवान होता है तो उसमें भी क्रोध जाग्रत हो उठता है, जिस तरह अग्नि के संयोग से ठंडी लकड़ी भी अग्नि का रूप धारण कर लेती है इसी तरह शान्त मनुष्य भी क्रोधी के समागम से क्रोधी बन जाता है। उस समय वह भी उन दुर्वचनों का उत्तर दुर्वचनों से देता है। तब उन दोनों में परस्पर लात मुक्का, थप्पड़, मल्लयुद्ध प्रारम्भ हो जाता है। लाठी, तलवार, बन्दूक, छुरे का प्रयोग होने लगता है, रक्तपात आरम्भ हो जाता है जिससे दोनों घायल होकर शारीरिक हानि उठाते हैं। अहिंसा का पाठ भूलकर हिंसा पर उतारू हो जाते हैं। भयानक युद्ध, हत्याकाण्ड, अग्निकाण्ड इस क्रोध कषाय के कारण हो जाते हैं।

भगवान् नेमिनाथ से जब ये पूछा गया कि सुन्दर विशाल द्वारिका नगर इसी तरह हरा भरा कब तक बना रहेगा? भगवान् नेमिनाथ ने उत्तर दिया कि जबतक इसी नगर का निवासी द्वीपायन शान्त है तब तक द्वारिका शान्त रहेगी। जिस दिन द्वीपायन मुनि की क्रोध अग्नि प्रज्वलित होगी तब द्वारिका भी उसके क्रोधसे अग्निमय होकर भस्म हो जायगी। शराब पीकर उन्मत्त हुए व्यक्ति द्वीपायन का क्रोध जाग्रत करेंगे। यह कार्य १२ वर्ष में होगा। बारह वर्ष में द्वारिका नगर जल कर भस्म हो जायगा।

यथार्थ भविष्यवक्ता भगवान् नेमिनाथ के वचन सुनकर द्वारिका के अनेक नर नारी संसार का वैभव विनश्वर समझकर विरक्त हो गये और अपना आत्म कल्याण करने के लिये मुनि, आर्यिका आदि की दीक्षा लेकर द्वारिका से बाहर चले गये। द्वीपायन ने अपने ऊपर से द्वारिका नगर जलाने का कलंक दूर करने के लिये बारह वर्ष तक द्वारिका से दूर रहना कल्याणकारी समझा, अतः वह द्वारिका से बहुत दूर देश-देशान्तरों में विहार कर गया। उधर कृष्ण, बलभद्र ने द्वारिका नगर से सारी शराब निकलवाकर द्वारिका के बाहर कुण्डों में फिकवा दी। इस प्रकार द्वारिका की रक्षा के लिये प्रयत्न किये गये।

किन्तु भवितव्यता दुर्निवार है, होनहार घटना होकर रहती है। तदनुसार द्वीपायन देश देशान्तरों में विहार करते हुए एक एक दिन गिनता रहा और अपनी समझ के अनुसार बारह वर्ष पूरे हुए जानकर द्वारिका की ओर चल पड़ा। अधिक मास (मलमास, लोंद का महीना) का उसको ध्यान न रहा इस कारण वह बारह वर्ष से पहले ही द्वारिका की सीमा में आ गया।

कवि ने ठीक कहा है—

सा सा सम्पद्यते बुद्धिः सा मतिः सा च भावना।
सहायास्तादृशाज्ञेया यादृशी भवितव्यता॥

यानी—जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है वैसी ही मनुष्य की विचारधारा बनती है, वैसी ही मति और भावना होती है तथा समस्त सहायक सामग्री भी वैसी ही आ मिलती हैं।

उधर महाराज कृष्ण ने द्वारिका की समस्त शराब जो नगर के बाहर कुण्डों में फिकवा दी थी,

कभी सूख गई, कभी जल वर्षा से फिर नशीली हो गई, उन कुण्डों में महुए के फल गिरते रहे जिससे कुण्डों का जल और अधिक मादक (नशीला) बन गया।

संयोग से उन ही दिनों द्वारिका के यदुवंशी राजकुमार वन क्रीड़ा के लिये द्वारिका के बाहर वन में घूमते फिरते क्रीड़ा करते रहे। खेलते कूदते उनको प्यास लगी तब उन्होंने अपनी प्यास बुझाने के लिये उन कुण्डों का जल पीलिया। कुण्डों का जल शराब और महुओं के कारण नशीला हो गया था, अतः उस जल को पीकर वे तरुण राजकुमार नशे में झूमने लगे उसी समय उनको द्वीपायन मुनि मिल गये। नशे के झोंके में उन राजकुमारों ने द्वीपायन पर, यह कहते हुए, कि द्वारिका को जलाने वाला यह द्वीपायन आ गया, इसको मारकर यहां से भगा दो। ईंट, पत्थर, मिट्टी के ढेले फेंके, जिससे द्वीपायन मुनि का क्रोध भड़क उठा। द्वीपायन की क्षमा शान्ति जाती रही, उनके नेत्र लाल हो गये, भौंहें चढ़ गईं, क्रोध से शरीर कांपने लगा, उसने क्रूर दृष्टि से द्वारिका की ओर देखा।

द्वीपायमान मुनि को तपोबल से तजस ऋद्धि प्राप्त हो गई थी, अतः जैसे ही उसने द्वारिका नगर की ओर क्रोधित होकर देखा कि उसके बाएं कन्धे से सिन्दूर के रंग का प्रज्वलित गोला निकला और उसने द्वारिका में चारों ओर आग भड़का दी।

उधर यदुकुमारों ने घर जाकर द्वीपायन मुनि के आने तथा उस पर ईंट, पत्थर बरसाने की घटना सुनाई। इस दुर्घटना को सुनकर कृष्ण और बलभद्र बहुत घबड़ाये, उन्हें द्वारिका के भस्म हो जाने की आशका होने लगी। उन्होंने भड़कती हुई आग को बुझाने का बहुत यत्न किया, समुद्र के जल से भी उसे शान्त करना चाहा, किन्तु वह जल तेल की तरह से आग को और भी अधिक भड़काने लगा, आग बुझाने के जब सब यत्न व्यर्थ हुए, तब वे दोनों भाई भागकर द्वीपायन मुनि के पास गये, और उनसे क्रोध शान्त करने तथा द्वारिका को भस्म होने से बचाने की प्रार्थना की, मरणोन्मुख द्वीपायन ने अपने हाथ की दो उङ्गलियाँ उठाकर संकेत किया कि द्वारिका में से अब केवल दो ही व्यक्ति बच सकोगे।

तब दुःखी होकर कृष्ण बलभद्र फिर दौड़ भाग कर घर आये और अपने माता पिता को उस धधकती हुई महा अग्निकाण्ड से बचाने के लिये उन्हें रथ में बिठा कर ले जाने लगे तो रथ के पहिये पृथ्वी में अड़ गये, रथ जरा भी आगे न बढ़ सका। उधर उनके माता पिता आग की लपटों में आगये। तब हार कर भग्न हृदय होकर कृष्ण बलभद्र रोते विलखते, द्वारिका को भस्म होते देखते हुए द्वारिका से बाहर चलें गये। वन में जरतकुमार ने हिरण समझ कर प्यास में लेटे हुए कृष्ण पर बाण चलाया जिससे बिना पानी पिये ही उनका निधन हो गया। द्वीपायन भी अपने तैजस गोले से स्वयं भस्म हो गया।

इस तरह क्रोधी मनुष्य क्रोध में आकर अपना तथा दूसरों का विनाश कर डालता है। रींछ को क्रोध के समय यदि आस पास कोई प्राणी न दीखे तो अपना ही शरीर चबा डालता है। सिंह, चीता, भेड़िया आदि क्रोधी दुष्ट स्वभाव से कितनी हिंसा किया करते हैं।

सूक्ति मुक्तावली में कहा है—

सन्तापे तनुते भिनत्ति विनयं सौहार्दमुत्सादय-

त्युद्वेगं जनयत्यवद्यवचनं सूते विधत्ते कलिम् ।
कीर्तिं कृन्तति दुर्मतिं वितरति व्याहन्ति पुण्योदयं,
दत्ते यः कुगतिं स हातुमुचितो रोषः सदोषः सताम् ॥ ४७ ॥

यानी—क्रोध कषाय सन्ताप फैलाती है, विनय को नष्ट कर देती है, मित्रता भङ्ग कर देती है, व्याकुलता उत्पन्न करती है, अपशब्द मुख से निकलवाती है, कलह उत्पन्न कराती है, यश का नाश करती है। दुर्बुद्धि वितरण करती है, पुण्य कर्म को नष्ट करती है, दुर्गति में पहुँचाती है, ऐसी अनेक दोष युक्त क्रोध कषाय सज्जन पुरुषों को त्याग देनी उचित है ।

दुर्जन जीवों में जिस तरह बात बात पर क्रोध उमड़ पड़ता है उसी तरह अभिमान, छल, दम्भ, द्वेष, ईर्ष्या में भी वे सदा जला करते हैं । सब का बुरा चिन्तवन करते रहते हैं, किसी का उत्कर्ष उनको सहन नहीं होता। अन्य जीवों को विपत्ति ग्रस्त देख कर प्रसन्न होते हैं । व्यभिचार में तन्मय रहते हैं, सती स्त्रियों का शील खण्डन करने के लिये तैयार रहते हैं । झूठ, विश्वासघात, कृतघ्नता जिन में कूट कूट कर भरे होते हैं, किसी का शुभ चिन्तन तो स्वप्न में भी नहीं करते, लोभ के पुतले होते हैं । अन्याय, अनीति, अत्याचार करना जिनका दैनिक कार्य होता है ।

यदि संसार में सभी जीव दुर्जन हो जावें तो वे परस्पर लड़ झगड़ कर नारकीय दृश्य उपस्थित कर दें । संसार का व्यवहार, शान्ति, सुख, सन्तोष क्षण भर भी न रहने पावे । पापाचार, फूट, पाखण्ड, विद्वेष, मायाचार नंगे नाचने लगें ।

दुष्टों से विपरीत सरल प्रकृति के जीव सज्जन होते हैं जिनका व्यवहार सीधा सच्चा होता है, शान्त प्रकृति वाले होते हैं, अभिमान से जो दूर रहते हैं, असत्य भाषण, मायाचार, विश्वासघात करना जिन्हें नहीं आता, सदाचार, अहिंसा, ब्रह्मचर्य जिनमें देदीप्यमान होते हैं । भगवद्भक्ति, गुरुभक्ति, दान, परोपकार में जो सदा तत्पर रहते हैं, जो बुराई के बदले में भी भलाई करते हैं, कभी किसी का हृदय से भी अशुभ चिन्तवन नहीं करते । किसी को दुःखी देखकर जिनका हृदय दया से भर जाता है, जिनकी वाणी में नम्रता और मधुरता टपकती है, जो धर्म कार्य में परायण रहते हैं, अन्याय अत्याचार से बचे रहते हैं, वे व्यक्ति भद्र परिणामी सज्जन होते है ।

जिस तरह दुर्जनों के समागम से दुष्टता, अशान्ति, दुर्नीति, दुराचार प्रकट होता है उसी तरह सज्जनों के समागम से सदाचार, सुख, शान्ति अनायास प्राप्त होते है ।

सज्जन प्रकृति का निरूपण करते हुए नीतिकार लिखते हैं—

न ब्रूते परदूषणं परगुणं वक्त्यल्पमप्यन्वहं,
सन्तोषं वहते परर्द्धिषु पराबाधासु धत्ते शुचम् ।
स्वश्लाघां न करोति नोज्झति नयं नौचित्यमुल्लंघय-
त्युक्तोऽप्यप्रियमक्षमां न रचयत्येतच्चरित्रं सताम् ॥

यानी—जो कभी किसी दूसरों के दोष नहीं कहता, दूसरे के थोड़े से गुणों को भी रात दिन कहता रहता है, दूसरों की उन्नति में जिसको सन्तोष होता है और दूसरों को दुःखी देख कर जिसे दुःख होता है। जो अपनी प्रशंसा नहीं करता है, न नीति को कभी छोड़ता है, न किसी योग्य बात का उल्लघन करता है, यदि कोई मनुष्य उसको कठोर शब्द भी कह डाले तो जो कभी क्रोध नहीं करता। ये सब चरित्र सज्जन पुरुषों के होते हैं।

जिस तरह कोयले की दलाली करने में भी हाथ काले हो जावे हैं, उसी तरह दुर्जनों की संगति करने पर मनुष्य के सदाचार पर काला धब्बा लग जाता है। तथा जैसे सुगन्धित पुष्प-वाटिका में घूमने पर बिना फूल तोड़े भी सुगन्धि से चित्त प्रसन्न हो जाता है, उसी तरह सज्जन पुरुषों की संगति से मनुष्य में ज्ञान, नीति, सदाचार का विकास स्वयं हो उठता है।

इस कारण मनुष्य जीवन का लाभ उठाने के लिये दुष्ट समागम से दूर रह कर सज्जन व्यक्तियों का संसर्ग करना चाहिये। सज्जन पुरुषों के कारण ही संसार में धर्म, न्याय, नीति, विवेक, सदाचार, ब्रह्मचर्य, सुख, सन्तोप, उल्लास, शान्ति, प्रेम, क्षमा, धैर्य दिखाई देते है। मनुष्यों का सभ्य शिक्षित समाज उपलब्ध होता है।

मुनि, साधु, व्रती तपस्वी लोग संसार के सब से बड़े सज्जन हैं जो संसार से कुछ भी न लेकर सदा धर्म, सदाचार का प्रचार करते रहते हैं। उनसे कम श्रेणी के सज्जन वे व्यक्ति है जो साधु व्रती पुरुषों के पद-चिन्हों पर चल कर यथाशक्ति सदाचार पालन करते हैं। किसी का अनिष्ट नहीं करते, शक्ति-अनुसार पर-उपकार किया करते हैं।

प्रवचन नं० १३८

स्थान—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि—
आश्विन शुक्ला ५ शुक्रवार, २१ अक्तूबर १९५५

वैराग्य

लंका के अधिपति रावण की पट्टराणी सीता से कम सुन्दरी न थी, विद्याधर राजा मय की सुपुत्री थी। स्त्री उचित समस्त गुण उसमें विद्यमान थे, सती पति परायणा थी, तरुणी अनिन्द्य सर्वांग सुन्दरी युवती थी। इसके अतिरिक्त अपने पति को रूप माधुर्य पिलाने के लिये देवियों जैसा और भी अधिक सुन्दर रूप बना लेने की प्रवीणता भी उसमें विद्यमान थी, रावण में उसका गाढ़ा अनन्य स्नेह था। तथा मन्दोदरी के सिवाय और भी हजारों सुन्दरी युवतियां पत्नी रावण के रणवास में थीं। रावण ने अनन्तवीर्य केवली के समक्ष इस रूप में व्रत भी ग्रहण किया हुआ था कि जो स्त्री मेरे ऊपर आसक्त होकर मुझको न चाहेगी, मेरे साथ कामक्रीडा करने को तैयार न होगी, मैं भी उसको न चाहूँगा, उसके साथ कामक्रीड़ा न करूंगा, यानी—बलपूर्वक किसी भी स्त्री का सतीत्व भङ्ग न करूंगा। तदनुसार दीर्घ-काल तक अपने आधीन सीता के रहने पर भी उसने सीताका सतीत्व भङ्ग (बलात्कार) किया भी नहीं। परन्तु

उक्त समस्त बातों के होते हुए रावण का हृदय पर स्त्री पर मोहित हो ही गया, जिससे कि कामातुर व्यभिचारी भीरु चोर के समान सीता की अनिच्छा जानकर भी राम लक्ष्मण की अनुपस्थिति में उसे बलपूर्वक अपहरण करके लंका में ले गया और वहां पर सीता को विविध प्रलोभन तथा भय दिखाकर अपने ऊपर अनुरक्त करने की चेष्टा भी करता रहा।

शूरवीर धर्मप्रिय स्वाभिमानी रावण के इस एक पक्षीय अनुराग में कारण क्या था ? यही कि उसे अपनी स्त्रियों का रूप इतना सुहावना प्रतीत न हुआ जितना कि अपने ऊपर अनासक्त सती सीता का रूप सुहावना प्रतीत हुआ। कामातुर मनुष्यों की ऐसी ही निन्द्य चेष्टा हुआ करती है कि उनको अपनी सुन्दरी स्त्रियों से भी अधिक आकर्षण कुरूप व्यभिचारिणी स्त्रियों में प्रतीत होता है और अनेक विपत्तियां उठाकर उनके साथ कामलीला करने पहुँच जाते हैं। रानी चन्द्रमती का पति राजा यशोधर सुन्दर बलवान तरुण सुशील युवक था, परस्त्रीगामी न था किन्तु फिर भी वह हस्तिपाल (महावत) पर, जो कि कुबड़ा, कुरूप, नीच था, आसक्त होगई और उसके साथ कामक्रीड़ा करके अपने तथा यशोधर राजा के अनेक भवों तक सर्वनाश का कारण बनी। राजा भर्तृहरि क्षत्रिय न्यायप्रिय सुन्दर युवक था, अपनी रानी पिङ्गला से बहुत स्नेह करता था, परन्तु रानी पिंगला अश्वपाल (सईस) के ऊपर आसक्त होगई, जबकि वह अश्वपाल हृदय से उसको चाहता भी न था।

इन सब घटनाओं का कारण केवल एक है कि अविवेकी स्त्री पुरुषों को अपनी निजी वस्तु उतनी प्रिय मालूम नहीं होती जितनी कि पराई वस्तु प्रिय प्रतीत होती है। यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि मनुष्य को अपने थाल के स्वादिष्ट भोजन से भी अधिक स्वादिष्ट दूसरे की थाली का भोजन मालूम होता है।

संसारी अविवेकी जीव की यही चेष्टा उसके नाश का कारण बन जाती है। मनुष्य अपनी पत्नी के साथ अपने घर में रात दिन काम चेष्टा करता रहे, विषयानुरागी बनकर घर से बाहर न निकले, महीनों वर्षों या समस्त जीवन इसी तरह बिता देवे तो उसकी इस चेष्टा से उसको कुछ हानि नहीं होती न कोई उसको ऐसा करने से रोक सकता है, परन्तु जब वह किसी अन्य स्त्री के साथ लुक छिप कर भी व्यभिचार करे तो उसको भय बना रहता है, उसका जीवन खतरे में रहता है। यदि पकड़ा जाता है या देख लिया जाता है तो उस पर मार पड़ती है, कभी कभी अपने जीवन से भी हाथ धोना पड़ता है।

संसारी जीव भी अपने आत्मा में रमण करे तो अनन्त काल तक आत्म मग्न रहना उसके लिये आकुलता, चिन्ता, विपत्ति या अन्य कोई हानि नहीं पहुँचा सकता, बल्कि उसको आत्मनिमग्न रहने से पूर्ण सुख, निराकुलता, शान्ति, सन्तोष मिल सकता है। परन्तु अपने विकृत परिणाम के द्वारा वह आत्म-भिन्न भौतिक शरीर, विषय भोग, धन, मकान, पुत्र, स्त्री, मित्र, परिवार आदि परवस्तुओं से प्रेम जोड़ता है या उनको अपना बनाने की चेष्टा करता है, तब ही उस पर कर्मों की मार पड़ती है, संसार की जेल में अपना जीवन काटना पड़ता है। परन्तु मोहनीय कर्म की मोहिनी शक्ति से विवेक भ्रष्ट हुआ जीव फिर भी उन्हीं पर पदार्थों के पीछे फिरता रहता है, अपनी ओर कभी देखता भी नहीं। संसारी जीव की मूर्खता को कवि ने कैसे सुन्दर सत्य रूप में चित्रित किया है—

काहू घर पुत्र जायो काहू के वियोग आयो, कहूँ राव रंग कहूँ रोया राई परी है,
जहां भानु ऊगत उछाह गानं गीत देखे सांझ समय ताही जगह हाय हाय परी है।

ऐसी जग रीति देखि मीत क्यों न भीत होत हा-हा नर मूढ़ तेरी मति कौ ने हरी है,
मानुष जनम पाय सोवत विहाय जाय खोवत करोरन की एक एक घरी है ॥

यानी—संसार में देखते हैं कि किसी के घर पुत्र उत्पन्न हुआ है जिसके आनन्द मंगल उस घर में मनाये जा रहे हैं, किसी के घर पुत्र मर जाने के कारण सब पर शोक छाया हुआ है। किसी के घर विवाह आदि के उत्सव मनाये जा रहे हैं, किसी के घर मृत्यु, धननाश, अपमान, मारकाट आदि के कारण विलाप हो रहा है। प्रातःकाल जिस स्थान पर नृत्य गान होते हैं दुर्भाग्य से उसी स्थान पर शाम के समय अकस्मात् किसी प्राणनाश, धननाश आदि हो जाने के कारण दुख प्रकाशिनी हाय-हाय मची हुई देखी जाती है। हे मित्र ! संसार की ऐसी बेढंगी विचित्र रीति देखकर तू भयभीत क्यों नहीं होता ? तू बड़ा मूर्ख है, पता नहीं तेरी बुद्धि किसने छीन ली है। अमूल्य मनुष्य भव पाकर तू अचेत सोने में करोड़ों रुपयों की एक एक घड़ी-समय व्यर्थ खो रहा है।

कवि ने संसार की मोहमाया छिन्न-भिन्न करने के लिए सोदाहरण सचेत किया है। दुर्भाग्य का चित्र अंकन करते हुए पं० भूधरदास जी कहते हैं—

देखो भर जोवन में पुत्र को वियोग आयो, तैसे ही निहारी निज नारी काल मग में,
जे जे धन्यवान जीव दीसत हैं या महीपै, रंक भये फिरैं तेहू पनहीं न पग में।
एते पै अभाग धन जीतव सों धरै राग, होय न विराग जानै रहूँगो अलग मैं,
आंखिन विलोकि अन्ध सूसे की अन्धेरी करै ऐसे राज रोग को इलाज कहा जग में ॥

अर्थात्—दुर्भाग्य के प्रताप से मनुष्य अपने युवक पुत्र की मृत्यु देखता है, पुत्र मर जाता है दुख भुगतने के लिये स्वय जीवित रहता है। उसी तरह असहाय निर्बलदशा में अपनी जीवन सहचरी स्त्री की मृत्यु भी देख लेता है। यह भी इसे दीखता है कि जो कभी पुण्य के प्रभाव से सदा रथ, घोड़े, हाथी, मोटर पर सवारी करते थे, थोड़ी दूर भी जमीन पर पैर न रखते थे, वे ही धनवान व्यक्ति दुर्भाग्य के जोर से झट यहां तक दीन दरिद्र रक बन जाते हैं कि उनके पैरों में फटा जूता भी नहीं रहने पाता। यह सब देखता जानता हुआ भी अभागा निर्बुद्धि जीव धन, जीवन, शरीर आदि से ही अनुराग करता है, विरक्त नहीं होता। यों समझ लेता है कि मैं समस्त आपत्तियों से बचा रहूँगा। जैसे खरगोश अपने सामने शिकारी को आया देखकर कानों से नेत्र बन्द कर लेता है समझता है कि मेरी आफत टल गई। ऐसी बेसमझी के घातक रोग का संसार में कोई इलाज नहीं है, यह तो असाध्य व्याधि है।

जिस तरह परदेशी मनुष्य से चाहे जितना गाढ़ा प्रेम करो, चाहे जितना गहरा मित्र उसे बनाओ परन्तु उसको जब अपने घर की याद आती है तब सारे प्रेम बन्धन तोड़ कर अपने घर को चल देता है, इसी तरह पराई वस्तु को चाहे जितना अपनाया जाय वह कभी अपनी नहीं हो सकती। मनुष्य अपने पुत्र स्त्री मित्र आदि को अपना समझ कर उनके लिये संसार के सभी पाप अन्याय किया करता है, उनको प्रसन्न और सुखी करने के लिये स्वयं दुखदायी अशुभ कर्मों का बन्ध किया करता है, वे पुत्री स्त्री

मित्र आदि भी अपने स्वार्थ सधने-तक अपने बने रहते हैं जब उन्हें स्वार्थ सधता नजर नहीं आता, तभी छोड़ जाते हैं, आंखें फेर लेते हैं। शरीर चाहे जितनी सेवा करो यह साथ नहीं चलता, यहीं रह जाता है। विषय भोगों के भोगते भोगते अनन्त भव व्यतीत हो गये परन्तु अभी तक इस जीव की भोगतृष्णा शान्त नहीं हुई। इन विषय भोगों में लिप्त रह कर मनुष्य आत्म कल्याण के लिये थोड़ा भी समय नहीं निकाल पाता। इस तरह विषय भोग आत्मा का अहित ही करते हैं।

बज्रदन्त राजा ने समस्त भरत खण्ड को विजय करके चक्रवर्ती सम्राट् पद प्राप्त किया था। उसके रणवास में एक से बढ़ कर एक सुन्दरी हजारों स्त्रियां थीं, साठ हजार अच्छे पराक्रमी पुत्र थे, नव निधियां और ७ अचेतन तथा ७ चेतन रत्न थे, अपार वैभव थे। सभी तरह के विषय भोग उनको सुलभ थे, तदनुसार वे विषय भोगों और राजशासन का आनन्द ले रहे थे।

एक दिन माली ने लाकर उनको प्रतिदिन के समान कमल का फूल लाकर भेंट किया। बज्रदन्त चक्रवर्ती ने उस फूल को खोल कर देखा तो उन्हें उसके भीतर एक मरा हुआ भौंरा दिखाई दिया। भौंरे को देख कर राजा ने विचार किया कि यदि यह भौंरा चाहता तो कमल की पंखुड़ियां बन्द होने से पहले उड़ कर अपने प्राण बचा सकता था, अथवा कमल के मुकुलित हो जाने पर अपने तीक्ष्ण डंक से कोमल पंखुड़ियों को छेद कर फूल से बाहर निकल सकता था, परन्तु कमल की गंध सूंघने में वह इतना मस्त रहा कि उसने उसी में घुट कर अपने प्राण दे दिये। उसने तो केवल एक नासिका इन्द्रिय के विषय भोग से अपना इतना बिगाड़ किया, मैं तो पांचों इन्द्रियों का दास बन कर विषय भोगों में अचेत हो रहा हूँ, आत्मा को शुद्ध करने के लिये कुछ भी नहीं कर रहा, पता नहीं मेरी क्या दुर्गति होगी?

ऐसा विचार करते करते उसे संसार के सभी पदार्थों से विराग हो गया और घर गृहस्थी में उसे एक क्षण भी रहना बहुत बुरा मालूम होने लगा। तब उसने अपने पुत्रों को बुला कर अपने विचार प्रकट किये कि मैंने जिस तरह बाहरी राज-शत्रुओं पर विजय पाकर अखण्ड राज्य प्राप्त किया है, इसी तरह अब मैं अपने काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि आत्मा का पतन करने वाले अन्तरङ्ग शत्रुओं के साथ युद्ध करके कर्मों का समूल विनाश करके आत्मा का अखण्ड, अमर, अविनाशी मुक्तिराज्य प्राप्त करूंगा, इस राज्य को तुम सम्भालो।

पिता की बात सुनकर पुत्रों को भी संसार, शरीर, तथा विषय भोगों से अरुचि हो गई, उन्होंने कहा कि आप स्वयं तो इस संसार की कीचड़ से निकलना चाहते हैं और हमको इसमें फंसाना चाहते हैं। यह आप हमारा क्या हित करते हैं आप के भोगे हुए जूठन के समान इस राज्य को हम भी नहीं भोगना चाहते, हम लोग भी दिगम्बर मुनि बन कर तपस्या करेंगे और आत्मशुद्धि करके अजर अमर मुक्तिपद प्राप्त करेंगे। बज्रदन्त चक्रवर्ती ने क्रमशः अपने सभी पुत्रों से राज्य करने को कहा किन्तु उनमें से एक भी पुत्र ने राज्य करना स्वीकार न किया। तब चक्रवर्ती ने अपने पोते को राज्याधिकार सौंप कर अपने ६० हजार पुत्रों के साथ मुनि दीक्षा ले ली।

इस तरह जब मन में आत्म-रुचि प्रकट होती है तब ये भोग काले सर्प के समान त्याज्य प्रतीत होने लगते हैं। कविवर पं० भूधरदास जी जैन शतक में कहते हैं—

राग उदै भोगभाव लागत सुहावने से बिना राग ऐसे लागें जैसे नाग कारे हैं,
राग ही सों पाग रहे तन में सदीव जीव राग गये आवत गिलानि होत न्यारे हैं।
राग सों जगत रीति झूठी सब सांच जाने, राग मिटे सुभूत असार खेल सारे हैं,
रागी विन रागी के विचार में बड़ो ही भेद जैसे भटा पथ्य काहु काहू को बयारे हैं॥

यानी—राग भाव का उदय होने पर मनुष्य विषय भोगों को बहुत सुहावना समझता है, जब उस के हृदय से राग भावना दूर हो जाती है तब उसको वे विषय भोग काले सर्प के समान दीखने लगते है। राग के कारण से यह जीव अपने शरीर की सेवा में सदा लगा रहता है, जब इसको विराग होता है तब इस शरीर से इसको घृणा हो जाती है और सदा के लिये शरीर से अलग होने में प्रयत्नशील हो जाता है। *राग के कारण ही मनुष्य को संसार की झूठी माया सत्य प्रतीत होती है,* वैराग्य होते ही संसार की सारी लीला निःसार त्याज्य दिखाई देने लगती है। इस तरह रागी और वैरागी मनुष्य के विचारों में महान् अन्तर है। जैसे बैंगन किसी को पथ्य होते हैं और किसी को वायु पैदा करते हैं।

मनुष्य के जीवन का बहु भाग व्यर्थ चला जाता है वह अपने आत्मा को सुखी संतुष्ट बनाने के लिये कुछ भी नहीं कर पाता। संसार में एक दूसरे से मिलते समय परस्पर में एक दूसरे की कुशल क्षेम पूछते हैं। संसार लिप्त मनुष्य विषय भोगों को ही श्रेयस्कर समझ कर अपनी कुशल क्षेम कह देते हैं परन्तु संसार से विरक्त धार्मिक पुरुष कहता है—

जो दिन कटै सोई आयु में अवश्य घटै, बूंद बूंद बीतै जैसे अंजुलीको जल है,
देह नित छीन होत नैन तेज हीन होत जोवन मलीन होत छीन होत बल है।
आवै जरा नेरी तकै अन्तक अहेरी, आय परभौ नजीक जात नरभौ निकल है,
मिलकैं मिलानी जन पूछत कुशल मेरी ऐसी दशा माहि मित्र काहे की कुशल है॥

अर्थात्—विवेकी पुरुष कहता है कि जो जो दिन बीत रहा है वह वह मेरी आयु में से अवश्य कम होता जा रहा है, जिस तरह कि हाथ की अंजुलि में भरा हुआ पानी एक एक बूंद टपक टपककर पानी कम होता जाता है। शरीर दिन पर दिन क्षीण होता जा रहा है. नेत्रों की ज्योति कम होती जाती है, यौवन घटता जा रहा है और शक्ति दिन पर दिन कम होती जा रही है। बुढ़ापा मेरे समीप आता जा रहा है और मृत्यु मेरी ओर ध्यान लगा कर देख रही है। आगामी भव मेरे निकट आ रहा है और मेरा यह अनुपम नर भव निकला जा रहा है। इस पर दिन पर दिन मेरी बहुत भारी हानि हो रही है। इस दशा मे प्रेमी मित्र जन मिलते समय मुझ से मेरी कुशलता (राजी खुशी) पूछते हैं, बताओ तो सही कि इसमें मेरी क्या कुशलता है?

धार्मिक पुरुष का यह विचार अक्षरशः यथार्थ है। अतः मनुष्य को शरीर, घर, परिवार में इतना तन्मय न रहना चाहिये कि अपने आत्मा के कल्याण के लिये वह कुछ भी न करे, कुछ न कुछ थोड़ा बहुत समय आत्महित के लिये अवश्य देना चाहिये।

प्रवचन नं० १३६

स्थान— तिथि—

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली। आश्विन शुक्ला ६ शनिवार, २२ अक्टूबर १६५५

घर की लक्ष्मी

यह जीव स्वतन्त्रता के साथ अपने मन, वचन, शरीर के कार्यों द्वारा कर्म बन्धन करता है, परन्तु कर्म बन्ध हो जाने पर उसे उन कर्मों के आधीन होकर संचित कर्मों के अनुसार सुख दुःख कारक शुभ अशुभ फल भोगना पड़ता है। कर्मों को ही भवितव्यता, भाग्य या दैव कहते हैं। संसारी जीव शुभ काम करता हुआ भी जो दुःख भोगता है और बुरे कार्य करता हुआ भी सुख भोगता है इसमें पूर्व समय सचित किये हुए कर्मों का फल ही मुख्य कारण है। जब अशुभ कर्म का उदय होता है, तो सुख साधन मिलाते हुए भी अनायास दुःख की सामग्री आ उपस्थित होती है। एक नीतिकार का कहना है—

कर्मणो हि प्रमाणत्वं किं कुर्वन्ति शुभाः ग्रहाः।
वसिष्ठदत्तलग्नोऽपि रामः प्रव्रजितो वने॥

यानी—अशुभ कर्म उदय आने के समय शुभ ग्रह भी कुछ काम नहीं करते। रामचन्द्र के राज्य-अभिषेक होने की लग्न विद्वान् वसिष्ठ ऋषि ने ज्योतिष देखकर शुभ निकाली थी। किन्तु शुभ लग्न पर राम को राज्य गद्दी तो प्राप्त न हो सकी, उल्टे दुःखदायक चौदह वर्ष का वनवास प्राप्त हुआ।

कर्मों के मूल भेद ८ हैं। उत्तर भेद १४८ हैं। उनमें से नाम कर्म संसारी जीवों का शरीर बनाता है और मोहनीय कर्म अनेक प्रकार के विकारी भाव उत्पन्न करनेमें निमित्त बनता है। स्त्री, पुरुष, नपुंसक के भिन्न भिन्न प्रकार के अंग उपांगों के साथ शरीर बनने में नाम कर्म निमित्त कारण है और उनमें स्त्रियों पुरुषों तथा नपुंसकों के-से भाव उत्पन्न करना मोहनीय कर्म का कार्य है।

मानवीय या पशु सृष्टि का मूल कारण स्त्री, पुरुष हैं। जिस तरह अन्न की उत्पत्ति में भूमि और बीज कार्य करते हैं उसी तरह मनुष्य पशु पक्षियों की उत्पत्ति में नर, नारी या नर मादा कार्य करते हैं। स्त्री भूमि का रूप है, पुरुष बीज का रूप है। दोनों के संयोग से सन्तान की उत्पत्ति होती है।

स्वभावतः मनुष्य का शरीर कठोर कार्यों के अनुरूप होता है, अधिक बलवान होता है और अधिक पुरुषार्थी होता है। तथा स्त्री का शरीर कोमल, पुरुष की अपेक्षा बलहीन होता है। सांसारिक यात्रा में, घर परिवार में, रहने वालो को स्त्री पुरुष परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। स्त्री को पुरुषके अवलम्बन की आवश्यकता है और पुरुष को स्त्री की सहायता की अपेक्षा है। स्त्री के बिना गृहस्थाश्रम नहीं होता, मनुष्य घर के कार्य निपटाने में असमर्थ होता है और पुरुष के बिना स्त्री घर परिवार के कार्य संचालन में प्रायः असमर्थ रहती है, घर से बाहर के अनेक कार्य करने में अशक्त रहती है। इस तरह पुरुष का बल स्त्री के निर्वाह के लिये आवश्यक है, और स्त्री की शक्ति पुरुष जीवन के लिये बहुत आवश्यक है।

गृह-परिवार-त्यागी मुनि आर्यिकाओं के लिये ऐसी बात नहीं है, वे तो लोकोत्तर होते हैं, वे तो संसार भ्रमण का उच्छेद करने में स्वतन्त्र रूप से प्रयत्न शील होते हैं, अतः उनको एक दूसरे पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं। विराग मार्ग में स्त्री और पुरुष का मार्ग स्वतन्त्र पृथक् पृथक् है।

गृहस्थाश्रम में रहते हुए स्त्री पुरुष रथ के दो पहियों की तरह एक साथ मिल कर गृहस्थाश्रम की गाड़ी को चलाते हैं। इसी कारण योग्य वर कन्याओं के विवाह की प्रथा अनादि काल से चली आ रही है। विवाह हो जाने पर स्त्री पत्नी यानी घर की स्वामिनी के रूप में और पुरुष पति के रूप में अधिष्ठित होते हैं। स्त्री अपने पति की सहायिका बनकर कार्य करती है और पुरुष स्त्री का सहायक या रक्षक बनकर कार्य करता है। गृहस्थाश्रम की गाड़ी जीवन में आगे चलाने के लिये स्त्री पुरुष समान रूप से अपने अपने कन्धे पर गृहस्थाश्रम का जुआ रखते हैं। जिस तरह एक बैल के द्वारा गाड़ी का जुआ रखकर खींचना कठिन हो जाता है, उसी तरह पति-पत्नी में से एक के न रहने पर गृहस्थाश्रम की प्रक्रिया भी बिगड़ जाती है। पत्नी के न रहने पर पति का जीवन दूभर हो जाता है और पति के न रहने पर पत्नी का जीवन असहाय-दूभर बन जाता है।

यद्यपि पुंवेद के उदय से स्त्री के साथ काम सेवन करने के तथा स्त्री वेद के उदय से पुरुष के साथ रमण करने के भाव होते हैं और उस काम वासना को तृप्त करने के योग्य स्त्री पुरुषों के विभिन्न प्रकार के अग उपांग होते हैं। पति-पत्नी पारस्परिक शरीर संयोग से अपनी कामेच्छा शान्त किया करते हैं। कामवासना अन्य वासनाओं की अपेक्षा अधिक दुर्द्धर्ष एवं प्रबल होती है। इसी कारण कामातुर स्त्री पुरुष अनेक प्रकार के दुराचार या अनर्थ कर डालते हैं उन अनर्थों को रोकने तथा सीमित करने के लिये भी विवाह प्रथा प्रचलित है। विवाहित पति-पत्नी के सिवाय अन्य स्त्री पुरुषों का काम सेवन निषिद्ध तथा निन्दनीय माना गया है। दुर्द्धर्ष काम पर विजय प्राप्त करने वाले ब्रह्मचारी स्त्री या पुरुष को इसी कारण ससार महत्व देता है।

परन्तु विवाह का उद्देश्य कामवासना की ही तृप्ति करना नहीं है। जो स्त्री पुरुष अपनी इन्द्रिय-तृप्ति को ही विवाह का लक्ष्य समझते है, वे विवाह का वास्तविक प्रयोजन नहीं समझते। काम सेवन के लिये तो विवाह बन्धन की कोई आवश्यकता नहीं। पशु पक्षियों में कहां विवाह होता है। विवाह करने के ३ उद्देश्य है—१. कुलाचार तथा धर्माचार की परिपाटी स्थिर रखने के लिये या परम्परा चालू रखने के लिये योग्य सन्तान का उत्पन्न करना। २. परस्पर में सहायक बन कर एक दूसरे का निर्वाह करना। ३. विषय वासना को सीमित, वैध, न्यायमय बनाना। मुख्य उद्देश्य इनमें से पहले दो हैं, तीसरा उद्देश्य गौण है।

पुरुष व्यापार, उद्योग, शारीरिक श्रम आदि द्वारा घर से बाहर रह कर धन-उपार्जन करता है, गृहस्थाश्रम के लिये आवश्यक सामग्री को जुटाने में लग जाता है। देश, परदेश, जल, थल, आकाश में अपने बल पौरुष द्वारा घर के कार्य चलाने, परिवार के पालन-पोषण के लिये अर्थ संचय करता है। चोर और डाकू भी भयानक खतरा मोल लेकर चोरी डकैती भी अपने घर परिवार के पालन-पोषण के लिये ही करते हैं। विवाह के समय उसने जिस स्त्री का हाथ ग्रहण किया है उसका पालन पोषण संरक्षण करना वह अपना कर्तव्य समझता है, उसी कारण अपने अमूल्य प्राण देकर भी वह अपनी स्त्री के जीवन की, उसके सन्मान की सुरक्षा किया करता है।

रावण जब सीता का अपहरण कर ले गया तब राम को महान दुःख हुआ, राम अपनी सती पत्नी की खोज में विह्वल होकर वन के मूक पशु-पक्षियों तथा वृक्षों से पूछते फिरे कि भाई ! बताओ मेरी प्राण-प्रिया सीता कहां गई ? उनके पास में एकत्रित उनके हितैषी उनको बहुत आश्वासन देकर उनका शोक दूर करने की चेष्टा करते थे, परन्तु राम का हृदय बिना सीता की खोज व पत्र पाये शान्त न हुआ। उनके मित्रों ने वन पर्वतों का कण कण छान मारा किन्तु सीता का कुछ पता नहीं लगा। तब कुछ व्यक्तियों ने राम से यह भी कहा कि आप को सीता-जैसी अनेक कन्यायें प्रदान की जा सकती हैं, आप सीता का शोक छोड़ दीजिये। परन्तु राम ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया, उस पर जरा भी ध्यान नहीं दिया।

हनुमान द्वारा जब सीता के समाचार मिले तब महान् बलवान रावण पर विजय प्राप्त करके सीता को प्राप्त करना बलहीन साथियों को असंभव प्रतीत हुआ, तब उन्होंने राम के सामने यही बात रक्खी कि आप उस सीता को जाने दीजिये, हम आप को अनेक सीतायें (सीता जैसी सुन्दरी गुणवती कन्यायें) दे देंगे, आप अपनी चिन्ता दूर करें। इस प्रस्ताव को राम ने बड़ी घृणा के साथ सुना और कहने वालों को उस शोक सन्तप्त हृदय के समय भी बड़ी फटकार लगाई। उन्होंने कहा कि सीता का मैंने पाणि (हाथ) ग्रहण किया है। उसकी रक्षा करना, विपत्ति से उसका उद्धार करना मेरा कर्तव्य है। मै कामातुर होकर दुःखी नहीं हूँ। मेरे दुःख का कारण सीता पर आई हुई विपत्ति है, अतः जब तक मैं उसका उद्धार न कर लूंगा, मेरा शोक और मेरी चिन्ता तब तक दूर नहीं हो सकती, जब तक कि सीता न मिल जावे।

रावण के पास भी उन्होंने यही सन्देश भेजा कि "तूने मेरी पत्नी का चोरी से अपहरण करके मेरा तथा संसार का महान् एवं अक्षम्य अपराध किया है, इस अपराध का जो भी कड़े से कड़ा दण्ड तुझे दिया जावे बहुत थोड़ा है। परन्तु मैं तेरे समस्त अपराध क्षमा कर दूंगा यदि तू मेरी सीता मेरे पास पहुँचा देगा। यदि तूने ऐसा न किया तो यह अपराध तेरी मृत्यु का कारण बनेगा, राक्षस वंश के सर्व नाश का कारण बनेगा। अभेद्य लंका दुर्ग की एक एक ईंट छिन्न भिन्न कर दी जायगी। प्राणों की बाजी लगा कर सीता को प्राप्त करने का प्रत्येक उचित कार्य किया जायगा।

राम की समुचित वार्ता अभिमानी तथा कामातुर रावण ने स्वीकार न की। बल के गर्व में उसने अपमान जनक उत्तर भेजा, तब राम ने वह कर दिखाया जो प्रत्येक पत्नीव्रत पति के लिये आदर्श कहा जा सकता है। राम चाहते तो हनुमान आदि के द्वारा चोरी से भी सीता पा सकते थे किन्तु मनस्वी, न्यायप्रिय राम ने ऐसा नहीं किया और अभिमानी अत्याचारी रावण के अत्याचारों की समाप्ति करने के लिये युद्ध के मैदान में रावण से बदला लेने का निर्णय किया, ससार ने देखा कि केवल अपनी एक सती पत्नी को प्राप्त करने के लिये रावण का तथा उसके सहायकों का कैसा इतिहास प्रसिद्ध विध्वंस किया, और सीता का उद्धार किया।

उधर पतिव्रता सीता को देखिये, उसने दुर्द्धर्ष रावण के आधीन रावण के घर में रह कर भी अपनी मानसिक वृत्ति पवित्र रक्खी। रावण ने सीता को अपने ऊपर आसक्त करने के लिए, उसे फुसलाने के लिये अनेक यत्न किये, अनेक प्रलोभन दिये, अनेक भय दिखलाये परन्तु सब व्यर्थ गये। अबला सीता का मन महान् शक्तिशाली और अजेय प्रमाणित हुआ, स्वप्न में भी उसने राम के सिवाय

रावण था अन्य किसी पुरुष को पति भाव से न विचारा। इसी का परिणाम यह हुआ कि सीता अग्नि-कुण्ड में निःशङ्क होकर कूद पड़ी, उसके निर्दोष शील ने अग्नि को जल बना दिया।

पति-पत्नी का राम-सीता सरीखा पारस्परिक अटूट प्रेम स्थापित होना विवाह का प्रधान उद्देश्य है।

संसार का प्रख्यात कौरव पाण्डव युद्ध, जिसमें कि महान् वीरों का सत्यानाश हुआ। भीम, अर्जुन की पत्नी द्रोपदी का दुर्योधन द्वारा अपमान किये जाने के कारण हुआ। इन दो प्रसिद्ध युद्धों के सिवाय अन्य भी अनेक युद्ध स्त्रियों के सन्मान रक्षा के लिये हुए हैं।

अतः पुरुष अपनी विवाहित पत्नी की रक्षा अपने पूर्ण बल के साथ करता है और पत्नी भी अपने पति के घर को अपनी समस्त सेवाओं से स्वर्ग बना देती है। स्त्री की सेवा की तुलना जगत् में किसी के साथ नहीं की जा सकती। स्त्री अपना सर्वस्व अपने पति के लिये समर्पण कर देती है। अपने पति का दुःख दूर करने के लिये स्वयं यथा संभव सारे कष्ट स्वयं झेल लेती है। पति को प्रसन्न तथा सुखी रखना उसका प्रधान लक्ष्य होता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये वह अपना सुरक्षित धन और शरीर भी अर्पण कर डालती है।

घर की व्यवस्था पुरुष से नहीं हो सकती, बच्चों का पालन-पोषण पति नहीं कर पाता, भोजन बनाकर परिवार को पहले खिलाना, पीछे बचा खुचा आप खाना, घर आये हुए अतिथि का सत्कार करना, मुनि, ऐलक आदि व्रती त्यागियों के आहार दान की व्यवस्था करना, घर स्वच्छ रखना, परिवार के प्रत्येक व्यक्ति के वस्त्रों की स्वच्छता का खयाल रखना, घर में अशुद्ध खान पान न होने देना, कुलाचार धर्माचार को सुरक्षित रखना। ये सभी अमूल्य कार्य स्त्रियों के हैं। स्त्री चाहे तो घर को स्वर्ग बना दे और यदि वह चाहे तो उसे नरक बना दे। इस प्रकार स्त्री अपने पति की बड़ी भारी सहायिका शक्ति है। स्त्री के बिना गृहस्थ मनुष्य न धर्म-कार्य शान्ति से कर पाता है और न व्यावहारिक कार्य उसके संपन्न हो पाते हैं। इस प्रकार पतिव्रता स्त्री घर की साक्षात् लक्ष्मी है।

प्रवचन नं० १४०

स्थान—	तिथि—
श्री दिगम्बर जैन मंदिर, कूचा सेठ, दिल्ली।	आश्विन शुक्ला ७ रविवार, २३ अक्टूबर १९५५

अशरण-शरण

संसार भ्रमण करने वाला जीव चाहे अन्य किसी व्याधि से पीड़ित हो या न हो, चार व्याधियां तो अवश्य लगी हैं—१. भूख, २. प्यास, ३. जन्म, ४. मरण। शरीरधारी जीव को जठराग्नि के प्रज्वलित होने पर भूख की वेदना होती है यदि समय पर उसको भोजन द्वारा उपशम न किया जावे तो जीव तड़फड़ाने लगता है, मृत्यु भी हो जाती है। भूखी माता अपने दूध मुंहे बच्चे को छोड़ कर भाग खड़ी होती है। पेट की भूख मिटाने के लिये जीव जघन्य से जघन्य पाप किया करते हैं। एक कवि ने कहा है—

त्यजेत्क्षुधार्ता महिला स्वपुत्रं, खादेत्क्षुधार्ता भुजगी स्वमण्डम् ।
बुभुक्षितः किं न करोति पापं क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ।।

अर्थात्—भूख से पीड़ित स्त्री अपने प्राण प्रिय पुत्र को भी छोड़ जाती है; भूख से दुखी सर्पिणी अपने ही अंडे खा जाती है। भूखा जीव सब तरह के पाप करने के लिये तैयार हो जाता है, भूख से दुखी मनुष्यों को दयाभाव नहीं रहता।

एक बार दुर्भिक्ष के दिनों दक्षिण प्रान्त में अन्न न मिलने से एक स्त्री अपने सगे पुत्र को मार कर उसे भूनकर खाने के लिये तैयार हो गई थी, इस कारण भूख सबसे बड़ा कष्ट है।

भूख की तरह प्यास भी महान् दुःख है, शरीर के भीतर जब जलीय अंश की कमी हो जाती है तब गला सूख जाता है, गला सूख जाने पर यदि पीने के लिये जल न मिले तो मनुष्य, पशु-पक्षी, मर जाते हैं। भूखा मनुष्य तो कुछ दिन जी सकता है, ८०-९० दिन तक आजकल भी अनेक मनुष्य निराहार रूप में जीवित देखे गये हैं, परन्तु प्यास इतने दिन तक नहीं सही जाती।

गत दूसरे महायुद्ध में जब जापानी सेना ने बर्मा पर बम बरसाने प्रारम्भ किये जब हजारों बर्मा में रहने वाले भारतीय स्त्री पुरुष बर्मा के जंगली मार्ग से होकर भारत की ओर भागे। मार्ग में पानी न मिलने के कारण बहुत से मनुष्यों ने घोड़े की लीद को निचोड़ कर गन्दा पानी निकाला और उससे अपनी प्यास बुझाई, बहुतों ने दूसरे मनुष्यों का पेशाब पीकर अपने गले को तर किया। बहुत से मनुष्य किसी भी तरह का जल न मिलने से मर गये।

इसी तरह जन्म लेना भी महान् दुःखजनक वार्ता है। गर्भज जीवों को अपनी माता के गर्भ में महान् दुख होता है। गर्भाशय में संकुचित स्थान होता है, उसमें सिकुड़ कर उलटा रहना पड़ता है, माता जैसा भी कुछ खाती है उसी के रस द्वारा गर्भ में भोजन मिलता है। उत्पन्न होते समय महती वेदना होती है, अनेक बच्चों की मृत्यु जन्म समय ही जरा सी असावधानी के कारण हो जाया करती है। जन्म समय का दुख अबोध अवस्था में होता है, इस कारण किसी को स्मरण नहीं रहता, अन्यथा जीवन में उस दुख की कल्पना से भी मनुष्य कांपने लगें। दुख के कारण ही जन्म लेते ही बच्चे रोया करते हैं, जो नहीं रोते उनका जीवन खतरे में समझा जाता है।

जन्म देते समय माता को भी, वह चाहे स्त्री हो या पशु पक्षियों की मादा हो, बड़ी भारी असह्य वेदना होती है, उस वेदना की समानता जगत में किसी अन्य पीड़ा से नहीं की जा सकती। माता अपनी जन्म दी हुई सन्तान का मुख देखकर सन्तुष्ट हो जाती है। अनेक स्त्रियां तो उसी पीड़ा में प्राण तक दे डालती हैं।

मरण का दुख तो संसार में सबसे बढ़कर है ही, इस दुख से तो सभी कोई बचना चाहता है।

एक राजा को भविष्यज्ञानी साधु के द्वारा यह ज्ञात हो गया कि मैं अमुक दिन मरूंगा और मर कर अपने ही विष्टा गृह (टट्टी घर) में लाल रंग का कीड़ा बनूंगा। उसने अपना जीवन टट्टी के कीटक के शरीर में बिताना अनुचित समझा, अतः अपने पुत्र को बुलाकर कहा कि अमुक दिन मेरी मृत्यु होगी,

और टट्टी घर में अमुक समय अमुक रंग के कीड़े के रूप में मेरा जन्म होगा, सो उत्पन्न होते ही तू मुझे मार देना जिससे मैं उस गन्दे शरीर में न रहने पाऊं। पुत्र ने अपने पिता की बात स्वीकार करली।

राजा उसी बतलाये हुए समय पर मर गया और उसी निर्दिष्ट समय पर अपने ही टट्टी घर में उसी रंग का कीड़ा बना। संकेत के अनुसार जब उसका पुत्र उसको मारने आया तब वह झट टट्टी में घुसकर छिप गया। राजा का लड़का उसे न मार सका। राजा के उस लड़के ने मुनि महाराज से पूछा कि महात्मन्! मेरे पिता ने टट्टी घर में जन्म लिये हुए अपने आपको कीड़े की पर्याय में न रहने देने के अभिप्राय से मार देने के लिये कहा था, किन्तु जब मैं उस कीड़े को मारने के लिये गया तो वह कीड़ा छिप क्यों गया?

मुनीश्वर ने उत्तर दिया कि टट्टी का कीड़ा होकर तेरा पिता अपने आपको उसी शरीर में सुखी मान रहा है, अतः अब वह नहीं मरना चाहता, उसी शरीर में मस्त है।

इसी कारण नीतिकार का कहना है।

> अमेध्यमध्ये कीटस्य, सुरेन्द्रस्य सुरालये।
> समाना जीविताकांक्षा समं मृत्यु भयं द्वयोः॥

यानी—विष्ठा में रहने वाले कीड़े को और स्वर्ग में रहने वाले इन्द्र को जीवित रहने की इच्छा एक ही समान है और मरने का भय भी दोनों को एक जैसा ही होता है।

इसी कारण कोई भी मनुष्य सुमेरु पर्वत के बराबर भी सुवर्ण भण्डार के बदले में अपने प्राण देने के लिये तैयार नहीं होता। संसारी जीव की दुखी अवस्था का संक्षेप से वर्णन करते हुए पं० भूधरदास जी लिखते हैं—

> या संसार महावन भीतर भ्रमते छोर न आवे।
> जन्म जरा मृतु वैरी धावे जीव महा दुख पावे॥

यानी—संसार रूपी विशाल जंगल में भटकते हुए संसारी जीव के भ्रमण का अन्त नहीं आता है। जन्म, जरा (बुढ़ापा) और मरण रूपी शत्रु सदा इसका पीछा करते रहते हैं जिसके कारण संसारी जीव को महान् दुख मिलता रहता है।

मरण से बचने के लिये प्रत्येक जीव बड़े यत्न करते हैं, अपनी सुरक्षा के बहुत उपाय करते हैं परन्तु सब कुछ व्यर्थ हो जाता है मृत्यु को रोकने के लिये कोई भी यत्न अभी तक सफल सिद्ध नहीं हुआ मनुष्य और सबसे जीत सकता है परन्तु मृत्यु से उसको हार खानी पड़ती है।

अशरण भावना में कहा गया है कि—

> दल बल देवी देवता, मात पिता परिवार।
> मरती बिरियां जीव को, कोई न राखन हार॥

अर्थात्—मित्रों का समुदाय, सेना, देवी-देवता, माता पिता तथा भाई, स्त्री, पुत्र आदि सभी व्यक्ति मरने से नहीं बचा सकते।

मनुष्य अपने सुखी जीवन के लिये अन्य के प्राण लेने के लिये तैयार हो जाता है परन्तु मृत्यु उसे भी नहीं छोड़ती।

एक बार चार चोरों ने चोरी की। चोरी का धन लेकर वे एक निर्जन सूने स्थान में पहुँचे। वहां पर उनको भूख लगी तो दो चोर भोजन लेने के लिये नगर में गये और दो उसी धन की रखवाली के लिये वहाँ पर ही रह गये।

नगर में गये हुए चोरों ने स्वयं हलवाई की दुकान पर बैठकर भोजन कर लिया और अपने साथियों के लिए पूड़ी मिठाई खरीद ली और चल पड़े। मार्ग में उनके हृदय में पाप आया कि अगर हमारे साथी चोर मर जावें तो चोरी का सारा माल हमें मिल जावे। इस विचार से उन्होंने उस भोजन में विष मिला दिया। उधर धन की रखवाली करने वाले दोनों चोरों ने सोचा कि यदि नगर में गये हुए दोनों चोरों को आते ही मार डाला जावे तो यह सारा धन हमको ही मिल जावे। इस विचार से उन्होंने भोजन लाने वाले चोरों को मारने का प्रबन्ध कर लिया।

जैसे ही वे चोर भोजन लेकर वहां पर पहुँचे कि दूसरे दोनों चोरों ने झट तलवार से दोनों का शिर काट लिया। वे दोनों चोर मर गये। तदनन्तर उन दोनों ने उस विप मिश्रित भोजन को खाया तो विष के प्रभाव से वे भी वहीं पर मौत के मुख में चले गये। जो औरों को मारने का उपाय करता है वह भी स्वयं मारा जाता है।

संसार मे मृत्यु के आक्रमण से बचने के लिये अनेक यत्न और उपाय किये जाते हैं परन्तु सब निष्फल रहते हैं। पं० भूधरदासजी ने लिखा है—

लोहमयी कोट केई कोटन की ओट करो, कांगुरेन तोप रोपि राखो पट भेरिकैं,
इन्द्र चन्द्र चौकायत चौकस ह्वै चौकी देहु चतुरंग चमू चहुँ ओर रहो घेरि कैं।
तहां एक भौंहरा बनाय बीच बैठो पुनि बोलो मति कोऊ जो बुलावै नाम टेरि कैं,
ऐसे परपंच पांति रचो क्यों भांति भांति कैसैं न छोरै जम देख्यो हम हेरि कैं॥

यानी—कोई चक्रवर्ती सम्राट् मृत्यु से बचने के लिये लोहे का कोट (किला) बनाकर उसके अनेक परकोटे लोहे के बनवाले, कोट के ऊपर कंगूरों पर दूर तक गोले बरसाने वाली तोपें रखवा दे। उस किले के द्वार बन्द करदे। द्वारों पर इन्द्र, चन्द्र आदि चौकन्ने होकर सदा पहरा देते रहें। तथा चतुरंग (पैदल, रथसवार, हाथीसवार, घुड़सवार) सेना चारों ओर से किले की रक्षा के लिये तैयार खड़ी रहे। ऐसे सुरक्षित किले में एक तलघर बनवा कर उसमें वह चक्रवर्ती बैठ जावे और ऐसी चुप्पी साध ले कि नाम लेकर बुलाने वाले को भी कुछ उत्तर न दे। ऐसे बड़े भारी अनेक प्रपंच बना लेने पर भी मृत्यु से वह नहीं बच सकता, ढूंढकर मृत्यु उस भौंरे में से भी पकड़ कर ले जाती है।

सारांश यह है कि मृत्यु से रक्षा करने वाला संसार में कोई भी नहीं है, बलवान से बलवान मनुष्य, देव, दानव भी मृत्यु के सन्मुख निर्बल हैं।

यहां इतना और समझ लेना चाहिये कि अनेक व्यक्ति भूल से ऐसी धारणा कर लेते हैं कि 'हम अमुक स्त्री पुरुषों के उदर पोषक हैं, उनकी रक्षा करने वाले हैं, हमारे भंडार से उनका पालन-पोषण हो रहा है, यदि हम चाहें तो उनका प्राणनाश कर सकते हैं। यानी—उनका जीवन-मरण हमारे हाथ में है, हम उनके रक्षक हैं और मारक भी हो सकते हैं। परन्तु उनका ऐसा विचार भ्रम मात्र है। कोई भी व्यक्ति किसी की रक्षा नहिं कर सकता है जब तक कि उसके शुभ कर्म का उदय न हो, आयुकर्म अवशेष न हो। तथा तब तक कोई किसी का विनाश नहीं कर सकता जब तक कि उसके अशुभ कर्म का उदय न हो, आयुकर्म का अन्त न हो। इतने मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र. औषधि आदि भी उसे ही बचा सकते हैं जिसके शुभ कर्म या आयु कर्म का उदय है। आयु कर्म समाप्त हो जाने पर कोई भी मंत्र, तंत्र आदि नहीं बचा सकता।

नीतिकार ने बिलकुल ठीक कहा है—

> अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं, सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।
> जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥

अर्थात्—भाग्य जिसकी रक्षा करता है, वह अरक्षित होता हुआ भी सुरक्षित रहता है और अभागे व्यक्ति की रक्षा की जाय तो भी नहीं बचता। भयानक वन में छोड़ा गया अनाथ प्राणी भी भाग्य उदय से जीवित रहता है और आयु के अभाव में घर में समस्त उपाय न करने पर मर जाता है।

समुद्र के बीच में लंका में अपना गढ़ बनाकर, बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करके भी रावण युद्ध में लक्ष्मण द्वारा मारा गया। रावण का महान बल और उसकी बहुरूपिणी विद्या लक्ष्मण का कुछ भी न बिगाड़ सकी। बुन्देलखण्ड का प्रसिद्ध मनस्वी देशभक्त वीर छत्रसाल माता का स्तनपान करने वाला छोटा बच्चा था, तब बादशाही फौजों से बचने के लिये उसके पिता राजा चम्पतराय और उसकी माता प्राण बचा कर भागे। अपने भागने में बाधक समझ कर शिशु छत्रसाल को एक झाड़ी में रखकर चले गये। दुध मुंहा बच्चा बिना माता के दूध के कैसे बच सकता है। परन्तु भाग्य से उस झाड़ी के ऊपर मधु-मक्खियों का एक छत्ता था उसमें से शहद की बूंदें टपक टपक कर उस बच्चे के मुख पर गिरती रहीं। उस शहद की बूंदों को चाट चाट कर वह बच्चा अपनी भूख मिटाता रहा, खेलता रहा, हंसता रहा, नींद आने पर सो भी लेता था। चार दिन बाद जब चम्पतराय ने अपने बच्चे की खोज की, तब वह जीवित पाया।

इतिहास प्रसिद्ध जहांगीर बादशाह की स्त्री नूरजहां के बाल्यजीवन की ऐसी ही घटना है। अतः जीव का रक्षक सौभाग्य है और विनाशक दुर्भाग्य है। अन्य कोई नहीं है।

शुभकर्म मन, वचन, काय शुभ प्रवृत्ति से बनता है, इस अपनी सुरक्षा के लिये प्रत्येक स्त्री पुरुष को पापाचार तज कर धर्म आचरण करना चाहिये। धर्माचरण से ही शुभ कर्म का संचय होता है जिससे कि दुःख संकट टला करते हैं, धर्म न करने से दुखदाता अशुभ कर्म संचित होता है।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

अर्थात्—धर्म का घात किया जावे तो मनुष्य पर अनेक तरह की विपत्तियां आती हैं और धर्म आचरण करते रहने से मनुष्य की विपत्तियों से रक्षा होती है। इस कारण इस अशरण संसार में धर्म ही शरण (आश्रयदाता-रक्षक) है।

प्रवचन नं० १४१

स्थान—
श्री दिगम्बर जैन मंदिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि—
आश्विन शुक्ला ८ सोमवार, २४ अक्टूबर १९५५

सम्यक्त्व की उत्पत्ति

किसी भी कार्य के होने के लिये दो प्रकार के कारणों की आवश्यकता हुआ करती है—१. उपादान, २. निमित्त। दोनों कारणों के मिलने पर ही कार्य हुआ करता है, दोनों में से कोई भी एक हो किन्तु दूसरा कारण न हो तो कार्य कभी नहीं होता। वस्तु में जो अपने कार्य रूप होने के शक्ति होती है उसे उपादान कारण कहते हैं। उपादान कारण के सिवाय जो और दूसरे कारण उस कार्य होने में सहायक हुआ करते हैं उनको निमित्त कारण कहते हैं।

जैसे—आम का पेड़ उत्पन्न करने के लिये उपादान कारण आम की गुठली है क्योंकि आम का पेड़ उत्पन्न करने की शक्ति उसी मे है। किन्तु आम का पेड़ उगाने के लिये उस गुठली से ही पेड़ नहीं उग सकता, उसको दूसरे सहायक कारण मिलने चाहियें, जैसे पेड़ उगने योग्य जमीन। क्योंकि गुठली पत्थर पर पड़ी रहे या पानी में रहे अथवा किसी बर्तन में रक्खी रहे तो वह पेड़ पैदा न कर सकेगी, उसके उगने योग्य जमीन होगी वहीं वह उग सकेगी। उसके साथ ही उसको उगने योग्य खाद्य, पानी, हवा तथा उगाने वाला माली, उसके उगने योग्य ऋतु आदि और और पदार्थ भी होने आवश्यक हैं जब सब कारण मिल जाते हैं तब आम का वृक्ष उत्पन्न होता है, न तो केवल गुठली से होता है और न केवल जमीन, पानी, खाद, हवा आदि से।

इसी प्रकार आत्मा की शुद्धि के लिये मूल कारण सम्यग्दर्शन (दर्शन शब्द का प्रसिद्ध अर्थ 'देखना' यहां नहीं लिया गया यहाँ दर्शन का अर्थ 'श्रद्धा न करना' लिया गया है। सम्यक् शब्द का अर्थ 'ठीक' या 'भले प्रकार' है। यानी—ठीक रूप से आत्मा की श्रद्धा होना-सम्यग्दर्शन है) के उत्पन्न होने के भी दो कारण हैं। आत्मा तो उसका उपादान कारण है क्योंकि आत्मा में ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने की शक्ति है। तत्वों का श्रद्धान होना, पांच लब्धियों का मिलना, योग्य अन्य साधनों का प्राप्त होना निमित्त कारण हैं।

गर्भाशय आदि होने पर भी, अपने पति का प्रसंग मिलने पर जिस तरह बन्ध्या स्त्री के सन्तान नहीं होती क्योंकि उस स्त्री में गर्भ धारण करने की योग्यता नहीं होती, इसी प्रकार तात्विक श्रद्धान,

कुछ लब्धियाँ (करण लब्धि के सिवाय शेष ४ लब्धियाँ) तथा अन्य साधन मिलने पर भी अभव्य जीव में सम्यग्दर्शन प्रगट होने की स्वाभाविक योग्यता नहीं होती, इस कारण सम्यग्दर्शन का उपादान कारण 'भव्य जीव' है। भव्य जीवों में भी कुछ दुरानुदूर भव्य ऐसे होते हैं जिनमें सम्यग्दर्शन होने की स्वाभाविक योग्यता होती है किन्तु उनको निमित्त कारण सम्यग्दर्शन के लिये नहीं मिल पाते। जैसे कि किसी अवन्ध्या (जो बांझ नहीं है, गर्भ धारण कर सकती है) कुलीन (जिस कुल में स्त्री का दूसरा विवाह नहीं किया जाता) स्त्री बाल विधवा हो (पति का समागम होने से पहले ही पति मर गया हो—विधवा होगई हो) तो सन्तान उत्पन्न करने की योग्यता होने पर भी जन्म भर पति का संयोग न मिलने के कारण सन्तान उत्पन्न न कर सकेगी। इसी तरह दूरानुदूर भव्य भी सम्यग्दर्शन होने के लिये ठीक उपादान कारण होते हुए भी अन्य बाहरी निमित्त कारण न मिलने की वजह से कभी सम्यग्दर्शन प्रगट न कर सकेगा।

तत्त्व

वस्तु के स्वरूप को तत्त्व कहते हैं (तस्य भावस्तत्त्वं, योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनं) जैसे मनुष्यत्व (मनुष्यपना), पशुत्त्व (पशुपना) आदि। तत्त्व वस्तु से पृथक् नहीं होता है जैसे—अग्नि से पृथक् उष्णता (गर्मी) नहीं रहती। अतः तत्त्व का अभिप्राय 'तत्त्वार्थ' यानी—'अपने स्वरूप सहित वस्तु' ही समझना चाहिये। इसी कारण श्री उमास्वाति आचार्य ने मोक्षशास्त्र में सम्यग्दर्शन का लक्षण बतलाते हुए 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' यानी अपने स्वरूप सहित (मोक्षमार्ग-उपयोगी) पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

वैसे तो जगत् में घटत्व, पटत्व, पुस्तकत्व, मनुष्यत्व, पशुत्व आदि अनन्तानंत तत्त्व हैं, उनके ठीक या गलत श्रद्धान से आत्मा का कल्याण या अकल्याण नहीं होता। आत्मा को शुद्ध मुक्त करने के लिये श्रद्धेय तत्त्व सात हैं—१. जीव, २. अजीव, ३. आस्रव, ४. बन्ध, ५. सवर, ६. निर्जरा और ७. मोक्ष।

जानने देखने वाला (ज्ञान-दर्शन उपयोगमय) चेतन पदार्थ जीव है, जो संसार में कर्मबन्ध के फलस्वरूप मिले हुए मनुष्य, पशु, देव, नारकी के शरीर में से किसी एक शरीर में कुछ समय तक रहकर अपने पिछले कर्मों का फल भोगता है तथा भविष्य के लिये अन्य कर्म संचित किया करता है। इसी संसारी जीव को विकारी भावों से छुड़ाकर शुद्ध और कर्म बन्धन से छुड़ाकर मुक्त करने का प्रारम्भिक मूल उपाय 'सम्यग्दर्शन' है। यानी—संसारी जीव को यह दृढ़ श्रद्धान होना चाहिये कि मैं इस समय विकृतबद्ध अवस्था में हूँ, विकारों तथा कर्मों को हटा कर शुद्ध मुक्त हो सकता हूं।

चैतन्य-रहित जड़ पदार्थ अजीव हैं। सभी दृश्यमान (दिखाई देने वाले) पदार्थ तो अजीव जड़ हैं ही, शरीर भी जड़ है, जब तक शरीर में जीव रहता है तब तक जीव के संबन्ध से शरीर को जीवित कह देते हैं। सभी भौतिक पदार्थ तथा अमूर्त-चार अमूर्त पदार्थ—धर्म, अधर्म, आकाश, काल—अजीव पदार्थ हैं। इनमें से जीव के साथ सम्बद्ध होने वाला और उसको संसार जेल में रखने वाला 'कार्माण स्कन्ध' नामक पुद्गल (भौतिक) पदार्थ है। कार्माण स्कन्ध जब जीव के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं तब वे 'कर्म' कहलाते हैं।

कार्माण स्कन्धों को आकर्षित करने वाली (अपनी ओर खींचने वाली) एक 'योग' नामक शक्ति जीव में होती है जो कि मन, वचन, शरीर का सहयोग पाकर आत्मा के प्रदेशों (अंशों) में हलन चलन (हरकत) किया करती है। इस योग शक्ति से जो कार्माण स्कन्धों का आकर्षण (खिंचना) होता है उसको 'आस्रव' कहते हैं।

आकर्षिक कार्माण स्कन्धों का जीव के प्रदेशों के साथ कशाय के निमित्त से एकमेक (दूध पानी के समान) सम्बन्ध हो जाता है उस दशा का नाम 'बन्ध' है। आस्रव और बन्ध क्रिया एक साथ होती हैं। संसारी जीव प्रति समय अनन्तानन्त परमाणुओं वाले कार्माण स्कन्धों का आस्रव और बन्ध किया करता है। इस आस्रव और बन्ध की मात्रा में कुछ कमी बेशी तो हो जाती है किन्तु दोनों बातें सदा होती रहती हैं।

सम्यक्त्व, व्रत, संयमादि द्वारा जो कर्म-आस्रव-प्रणाली रुकती जाती है, उस कर्म आने की रोक का नाम संवर है। संसार अवस्था में यानी पूरी तौर से कर्म नष्ट होने से पहले कर्म-आस्रव पूरी तौर से नहीं रुका करता, आस्रव का कुछ कुछ अंश रुकता जाता है। जैसे किसी कुंड में ५ मोरियों से जल भरता था उनमें से जब एक मोरी बन्द कर दी गई तब चार मोरियों से पानी आता रहा, जब दो मोरियों का मुख बन्द कर दिया तब पानी का आना और भी कम हो गया। इसी तरह कर्म आने के कारण ज्यों ज्यों कम होते जाते हैं त्यों त्यों संवर बढ़ता जाता है यानी कर्म-आस्रव कम होता जाता है, अंत में जब आस्रव के सभी कारण नष्ट हो जाते हैं तब पूर्ण संवर हो जाता है, उसी समय मोक्ष हो जाती है।

जिस प्रकार प्रतिसमय नये नये कर्मों का बन्ध होता रहता है उसी तरह प्रतिसमय पहले के बन्धे कर्म उदय आकर कर्म छूटते भी जाते हैं, इस तरह कर्मों की निर्जरा (छूटते जाना) प्रत्येक संसारी जीव के स्वयं हुआ करती है, इस सविपाक निर्जरा से जीव का कुछ कल्याण नहीं होता किन्तु तपस्या करने से पूर्वबद्ध कर्म बिना फल देकर भी आत्मा से छूट जाते हैं वह अविपाक निर्जरा है, मुक्ति में कारण यही अविपाक निर्जरा होती है।

संवर और निर्जरा होते होते जो समस्त कर्म आत्मा से छूट जाते हैं आत्मा पूर्ण शुद्ध हो जाता है उसको मोक्ष कहते हैं। जिस तरह चावल के ऊपर का छिलका उतर जाने के बाद फिर वह चावल नहीं उग सकता इसी तरह एक बार समस्त कर्म छूट जाने पर फिर कर्मों का बंध नहीं होता। आत्मा सदा के लिये कर्म-बन्धन से मुक्त होकर अजर अमर निरंजन निर्विकार पूर्ण शुद्ध बन जाता है।

संसारी जीव को पूर्ण शुद्ध करना है, अतः सबसे प्रथम जीव तत्त्व रक्खा गया है। जीव अजीव रूप पुद्गल (कर्म नो कर्म) से सबद्ध होकर संसार में भ्रमण कर रहा है, अतः जीव तत्व के अनन्तर अजीव तत्त्व रक्खा गया। ससार के कारण आस्रव और बन्ध हैं, इसलिये तीसरा चौथा तत्त्व आस्रव, बन्ध रक्खा गया। ससार से छूटने के भी दो कारण हैं, संवर और निर्जरा। इसलिये पांचवां छठा तत्त्व संवर निर्जरा रक्खा गया। संवर और निर्जरा का फल क्या होता है? मोक्ष। अतः मोक्ष को सबसे अन्त में रक्खा गया।

इस तरह जीव के साथ साथ कर्म (अजीव), कर्म आने, बन्धने, कर्म आस्रव रुकने, कर्म झरने

तथा मुक्त होने को बतलाने रूप सात तत्त्व बतलाये हैं। इन सातों तत्वों का विवरण (हाल) जानकर बन्धन तथा मोक्ष की प्रक्रिया का श्रद्धान हो जाने पर आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ करता है।

सम्यग्दर्शन उत्पन्न (प्रगट) होने का उपादान कारण दर्शन मोहनीय (आत्मा की अनुभूति न होने देने वाला) कर्म का उपशम (कुछ समय तक कर्म का उदय न होना) या क्षय (कर्म का बिलकुल नष्ट हो जाना) अथवा क्षयोपशम (कुछ उदयाभावी क्षय, कुछ उपशम और कुछ उदय) होना है। दर्शन मोहनीय का उपशम होने से अन्तर्मुहूर्त तक उपशम सम्यक्त्व होता है। दर्शन मोहनीय का क्षय हो जाने से सदा के लिये क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है और दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने पर क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है जो कि अन्तर्मुहूर्त और ८ वर्ष कम एक कोटि पूर्व ६६ सागर तक (अधिक से अधिक) रहता है, तदनन्तर छूट जाता है।

किन्तु इन सम्यक्त्वों को होने के लिये बहिरंग निमित्त कारण भी अवश्य होने चाहियें, सो नरकों में तीसरे नरक तक नारकी जीवों में सम्यग्दर्शन किसी को अपने मित्र देव द्वारा धर्म उपदेश सुनने से, किसी को पहले भव का स्मरण आ जाने से और किसी को नारकीय- यन्त्रणाओं (पीड़ाओं) के कारण चित्त में निर्मलता आने पर हो जाता है। नरकों में देव तीसरे नरक तक ही जाते हैं उससे आगे नहीं जाते, अतः चौथे नरक से सातवें नरक तक नारकी जीवों को सम्यग्दर्शन होने के दो ही कारण होते हैं— १–पूर्व भव स्मरण, २–वेदना का अनुभव।

तिर्यञ्च (पशु) गति में किसी पशु, पक्षी को किसी मुनि आदि द्वारा धर्म उपदेश सुनने से, किसी को पूर्व भव का स्मरण हो जाने से और किसी को जिनेन्द्र भगवान् की शान्त वीतराग मूर्ति का दर्शन करने से सम्यग्दर्शन हो जाता है। मनुष्यों को भी इन ही तीन कारणों से सम्यग्दर्शन होता है।

देव गति में किन्हीं देवों को तीर्थंकर, मुनि आदि का उपदेश सुनने से, किन्हीं को तीर्थंकरों के कल्याणक देखने से, किन्हीं को पहले भव का स्मरण हो जाने से और किन्हीं देवों को बड़े ऋद्धिधारक देवों को देखकर सम्यग्दर्शन हो जाता है। ये चारों कारण भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी तथा बारहवें स्वर्गों के देवों के लिये हैं। १३, १४, १५, १६ वें स्वर्ग के देवों में ऋद्धिधारक देवों को देखने के सिवाय तीन कारणों से सम्यग्दर्शन होता है। नव ग्रैवेयकों के देवों में किसी को धर्म उपदेश सुनने से और किसी को पूर्व भव के स्मरण हो जाने से परिणामों में निर्मलता आने पर सम्यग्दर्शन हो जाता है। उनसे ऊपर अनुदिश तथा ५ अनुत्तर विमानों में रहने वाले सभी देव सम्यग्दृष्टि होते हैं।

इस तरह निमित्त और उपादान कारण मिलते ही सम्यग्दर्शन प्रगट होने की संक्षेप से प्रक्रिया है। हमको देव शास्त्र गुरु में अटल भक्ति रखनी चाहिये, चाहे जैसी विपत्ति क्यों न आ जावे किन्तु कुदेव, कुशास्त्र, कुधर्म, कुगुरु की श्रद्धा, मान्यता, भक्ति अपने मन में न आने दें, न उनकी स्तुति करें, न उन्हें नमस्कार करें। तथा—सातों तत्वों का स्वरूप अच्छी तरह समझ कर कर्म आस्रव और बन्ध के कारणों से अपने आपको बचाते रहने का यत्न करते रहना चाहिये, संवर निर्जरा होने के कारणों को आचरण में लाना चाहिये। तथा जिनवाणी का मन लगाकर स्वाध्याय करना चाहिये, चारित्र धारक गुरुओं से उपदेश सुनना चाहिये और जिनेन्द्र भगवान् का बड़ी श्रद्धा भक्ति से दर्शन, विनय, पूजन करना

चाहिये, जिससे हमारे आत्मा में अच्छे भाव, अच्छे संस्कार उत्पन्न हों और आत्मा शुद्धि की ओर अग्रसर हो। आत्मा को शुद्ध करने के लिये मनुष्य भव मे सभी साधन उपलब्ध हैं हमें उनसे लाभ उठाना चाहिये।

प्रवचन नं० १४२

स्थान— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि— आश्विन शुक्ला ६ मंगलवार, २५ अक्टूबर १६५५

श्रावक का लक्षण

कर्मों का जटिल जाल छिन्न भिन्न करके आत्मा को स्वतन्त्र करने के लिये उन क्रियाओं का त्याग करना कार्यकारी है जिनसे वह कर्मजाल टूटने के बजाय मजबूत होता जाता है। क्योंकि जिन क्रियाओं से कर्मबन्धन जटिल होता है उन क्रियाओं को छोड़कर उनसे विपरीत क्रियाएं करने से ही कर्मों से छुटकारा मिल सकता है।

कर्मबन्धन का मूल कारण मिथ्यात्व है, अतः आत्मा तथा अजीव, आस्रव आदि अन्य तत्वों के विषय में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उन तत्वों की श्रद्धा ठीक करनी चाहिये और कुदेव, कुधर्म, कुशास्त्र, कुगुरु की श्रद्धा भक्ति त्याग कर सत् देव, सत् शास्त्र, सद्गुरु की उपासना करनी चाहिये। ऐसा करने से मिथ्यात्व का नाश होकर सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है जिससे कि मिथ्या श्रद्धान के द्वारा जो कर्म संचय होता था वह फिर नहीं होने पाता।

मिथ्यात्व से छुटकारा पा लेने पर कर्मबन्धन के दूसरे कारण को दूर करने का यत्न करना चाहिये जिससे कर्म-आस्रव का दूसरा द्वार बन्द होकर आत्मा का कर्मभार और हल्का होजावे।

कर्मबन्धन का दूसरा कारण 'अविरति' यानी 'असंयम' है। असंयम का अर्थ 'अनियन्त्रण' यानी—अपने वश में न रखना है जिसका अभिप्राय यह है आत्मा जब अपनी इन्द्रियों तथा मन पर नियन्त्रण (रोक-कन्ट्रोल) नहीं रखता है तब इन्द्रियाँ और मन आत्मा को हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, काम सेवन और परिग्रह-संचय में प्रवृत्त कर देता है। इन क्रियाओं से कर्मबन्धन ही नहीं होता है बल्कि आत्मा को बहुत दुखदायक, दुर्गतियों में आत्मा की दुर्गति कराने वाला अशुभ कर्मों का बन्ध हुआ करता है। इस कारण आत्मा की दुर्गति मिटाने के लिये असंयम या हिंसा आदि पांच पापकार्य छोड़ने परम आवश्यक हैं।

पापकार्यों का पूरी तरह से त्याग तो घरबार छोड़कर साधु बन जाने पर होता है क्योंकि साधु अवस्था में न धन-संचय की आवश्यकता है, न चोरी करने, झूठ बोलने और किसी जीव की हिंसा करने की आवश्यकता है। स्त्रियों का सम्पर्क तो बिल्कुल छूट ही जाता है अतः कामसेवन का वहाँ पर कुछ काम नहीं। इसी तरह मुनिदशा में अविरतिका संसर्ग पूरी तरह से दूर होजाता है। परन्तु गृहस्थाश्रम में रहने वाला गृहस्थ इन पांच पापों को पूरी तरह नहीं त्याग सकता, क्योंकि खेतीबाड़ी, वाणिज्य व्यापार द्वारा घर परिवार के लिये धन-सचय की आवश्यकता होती है, इन कार्यों में कुछ न

कुछ जीव हिंसा होती ही है, थोड़ा बहुत असत्य बोले बिना व्यापारिक कार्य नहीं होते। सन्तान उत्पन्न करने के लिये विवाह करना तथा मैथुन क्रिया होती है, घर के लिये आवश्यक अन्न, वस्त्र, वर्तन, घर, रुपया पैसा आदि वस्तुओं का संचय करना ही पड़ता है, अतः गृहस्थ पापों को पूर्ण तौर से नहीं त्याग सकता।

इस कारण सम्यग्दृष्टि पापपंक से बचने के लिये संकल्पी त्रसजीवों की हिंसा (जान-बूझकर दोइन्द्रिय आदि जीवों को मारने का) का त्याग कर देता है। राज्य से दण्डनीय और पंचों से भण्डनीय (निन्दनीय) असत्य बोलने का त्याग कर देता है। जल और मिट्टी (जिन पर कि किसी विशेष व्यक्ति का अधिकार नहीं है) के सिवाय अन्य कोई भी पदार्थ बिना पूछे नहीं लेता। अपनी विवाहित स्त्री के सिवाय अन्य सभी स्त्रियों से काम सेवन का त्याग कर देता है तथा अपनी आवश्यकता के अनुसार धन सम्पत्ति नियमित करके और अधिक धन संग्रह करने का त्याग कर देता है। इस तरह पांचों पापों का वह कुछ त्याग कर देता है, इसी कारण उसके इस त्याग को 'अणुव्रत' कहते है।

इस धार्मिक गृहस्थ का दूसरा नाम 'श्रावक' भी है जिसका अपभ्रंश शब्द अनेक जगह 'सरावगी' प्रचलित होगया है। श्रावक शब्द का अर्थ 'सुनने वाला' है। यानी—जो अपने निर्ग्रन्थ गुरु से आत्म कल्याण का उपदेश सुने। (शृणोति इति श्रावकः) श्रावक के अनेक तरह अनेक भेद किये गये हैं उनके विषय में हम फिर कभी बतलावेंगे यहाँ पर श्रावक सामान्य स्वरूप सागारधर्मामृत ग्रन्थ में पंडित प्रवर श्री आशाधरजी ने जो लिखा है उसे बतलाते हैं, उन्होंने लिखा है—

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्‌गीस्त्रिवर्गं भजन्,
अन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणी स्थानालयो ह्रीमयः।
युक्ताहार विहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी,
शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत्॥

यानी—जो न्याय पूर्वक धन उपार्जन करता हो, अपने गुरुओं की पूजा उपासना करता हो, सत्य बोलता हो, धर्म अर्थ काम इन तीन पुरुषार्थों का अविरुद्ध सेवन करता हो, अपने योग्य स्त्री, मुहल्ला, घर वाला हो, लज्जाशील हो, योग्य आहार विहार करने वाला हो, सज्जन पुरुषों की संगति करता हो, बुद्धिमान हो, कृतज्ञ हो, इन्द्रिय विजयी हो, धर्म उपदेश को सुनता हो, पापों से भयभीत हो, दयालुचित्त हो, ऐसा पुरुष श्रावक धर्मका आचरण करता है। अर्थात् श्रावक धर्म आचरण करने वाले व्यक्ति को ऊपर कहे गये गुणों से युक्त होना चाहिये।

गृहस्थाश्रम को चलाने के लिये रुपया पैसा आदि धन सम्पत्ति की आवश्यकता हुआ करती है और धन संचय करने के लिये बड़े प्रयत्न करने पड़ते हैं। गृहस्थका अधिकांश समय इस धन-संचय में ही व्यतीत होता है, अतः धन-संचय करना तो बुरा नहीं है किन्तु वह धन-संचय अन्याय, अनीति, धोखाधड़ी, चोरी, बेईमानी, व्यभिचार, नीच कर्म से नहीं होना चाहिये। मन शरीर और वचन के

परिश्रम से न्याय पूर्वक होना चाहिये। न्याय पूर्वक कमाई अपने लिये तथा अन्य जनता के लिये बहुत लाभदायक होती है।

अतः जो व्यक्ति अन्न का व्यापार करता है अथवा पंसारी सोना चाँदी आदि का कार्य करता है उसको तोलने के बांट और तराजू ठीक रखनी चाहिये तथा तोलने में अनीति न करनी चाहिये, माल लेने के लिये भारी बांट और देने के लिये हल्के बांटों का प्रयोग छोड़ देना चाहिये। तराजू न्याय का चिन्ह है अतः तराजू से बावन तोले पाव रत्ती के समान बिल्कुल ठीक तोलना चाहिये। जो व्यक्ति कपड़े का कार्य करता हो उसको नापने का गज ठीक नाप का रखना चाहिये, लेने के लिये लम्बा गज और देने के लिये छोटा गज न होना चाहिये तथा नापने की क्रिया भी ठीक रखनी चाहिये। जो व्यक्ति लेन देन साहूकारी का व्यापार करते हों उन्हें लेन देन ब्याज बट्टा आदि में अनीति न करनी चाहिये। कर्ज लेने वाले तथा अपने आभूषण गिरवी रखने वाले गरीब प्रायः अपढ़ अशिक्षित होते हैं, हिसाब नहीं जानते हैं उनसे लेन देन मे अनीति नहीं करनी चाहिये। तथा रुपये पैसे को ही सब कुछ न समझकर गरीबों के साथ व्यापार में दया का वर्ताव करना चाहिये। यदि उनके पास कर्ज चुकाने के लिये कुछ न हो तो उनके रहने की झोंपड़ी नीलाम करा कर उन्हें निराश्रय बनाने की निर्दयता न करनी चाहिये।

इसके सिवाय बढ़िया असली चीजों में कम मूल्य की घटिया वस्तु मिलाने की प्रवृत्ति छोड़ देनी चाहिये। खाने पीने के पदार्थों तथा औषधियों में मिलावट करना हिंसा जैसा पाप है। इस कारण ऐसे कार्य कभी न करने चाहियें।

तथा—चुंगी कर की चोरी, आय-कर (इन्कम टैक्स) की भी चोरी न करनी चाहिये। जिस देश में हम रहते हैं, जिस देश की पुलिस सेना हमारे प्राणों तथा सम्पत्ति की रक्षा करती है उस देश की शासन व्यवस्था चलाने के लिये जो कर लगाये जाते हैं उनकी चोरी करना देशद्रोह है। देशद्रोह भी महान पाप है।

व्यापार करते समय भावना लोक कल्याण की रखनी चाहिये। कोई लोभी वैद्य डाक्टर मन में सोचते रहते हैं कि रोग बीमारियां फैलें तो हमारा व्यापार खूब चले। अनाज के व्यापारी बहुत से नीच स्वार्थी लोग दुष्काल होने की भावना करते हैं जिस से उनको अच्छा लाभ हो, इत्यादि भावनाएं बहुत बुरी हैं। जैन व्यापारियों को ऐसी भावना कदापि न करनी चाहिये।

जो व्यक्ति नौकरी करके धन-उपार्जन करते हैं उनको भी अपना कार्य नीतिपूर्वक (ईमानदारी से) करना चाहिये। जो कार्य उनको दिया जाय उसको अपना निजी कार्य समझकर नियत समय के भीतर समाप्त करने का यत्न करना चाहिये। जिसकी नौकरी करे उसको हानि पहुंचाने की चेष्टा कदापि न करनी चाहिये।

इसी तरह मालिक को भी अपने नौकरों के साथ अपने पुत्रों तथा भाइयों के समान मीठा व्यवहार करना चाहिये, न उनके साथ कठोर वर्ताव करना चाहिये, न उनके वेतन देने में रंचमात्र अनीति करनी चाहिये।

जहां तक हो सत्य बोलना चाहिये। जिस तरह मधु मक्खी फूलों को बिना कष्ट पहुचाये उनसे रस ले आती है इसी तरह जनता को कष्ट न देते हुए न्याय नीति से व्यापार करना चाहिये।

जो व्यक्ति दर्शन ज्ञान चारित्र में अपने से अधिक हैं ऐसे गुणवान सद्गुरुओं, का आदर विनय सन्मान करना-धार्मिक श्रावक का मुख्य कर्तव्य है। संसार से पार करने वाले साक्षात् तरणतारण गुरु हीं होते हैं उनके समान उपकार करने वाला व्यक्ति और कोई नहीं होता। इसलिये उनके गुण प्राप्त करने के लिये श्रद्धा से उनकी पूजा उपासना करनी चाहिये।

जैन श्रावक की वाणी (वचन) हित मित प्रिय प्रामाणिक होनी चाहिये। वचन में क्रोध, अभिमान की झलक न हो, स्व-पर हितकारक हो तथा सत्य हो। भय-उत्पादक, क्षोभ उत्पन्न करने वाली बात न कहनी चाहिये। दीन दुःखी प्राणियों के साथ मीठा बोलना चाहिये तथा आवश्यकता से अधिक न बोलना चाहिये।

धर्म-साधन करने से पुण्य कर्म का बन्ध होता है, पुण्य कर्म के उदय से धन का लाभ होता है, धन से इन्द्रियों के विषय भोगों की साधन सामग्री प्राप्त होती है। अतः सबसे प्रधान लक्ष्य धर्म सेवन का होना चाहिये। प्रातःकाल सबसे पहले पवित्र होकर भगवान् का दर्शन, पूजन, सामायिक, स्वाध्याय आदि धर्म क्रिया करनी चाहिये। फिर व्यापार आदि धन-उपार्जन का कार्य करना चाहिये। रात्रि में गुणी धार्मिक सन्तान उत्पादन के लिये काम पुरुषार्थ करना चाहिये। रजस्वला के समय, रोगी दशा में, अष्टान्हिका, दशलाक्षणी, अष्टमी चतुर्दशी को तथा गर्भाधान के बाद पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये, शेष दिनों में भी अधिक से अधिक ब्रह्मचर्य पालन का यत्न करना चाहिये। ब्रह्मचर्य से शरीर बलवान् तेजस्वी होता है, सन्तान गुणवान् होती है, तथा दीर्घ आयु होती है।

अपनी स्त्री को शिक्षित बनाकर धर्मात्मा बनाना चाहिये। धार्मिक स्त्री के कारण सारे परिवार को शुद्ध भोजन मिलता है तथा परिवार में धर्म आचरण बना रहता है।

रहने का घर अच्छा हो जिसमें खुला प्रकाश, वायु तथा धूप आती हो, जिसमें धुआं न भर जाता हो, सीलन न रहती हो। घर ऐसे स्थान पर हो जहां आस पास में शराबी, मांस भक्षक, जुआरी, लुच्चे, चोर, गुण्डे बदमाश न रहते हों। सद्गृहस्थों का पड़ोस हो।

धार्मिक व्यक्ति को बुरे कार्य करने में संकोच शील होना चाहिये। निर्लज्ज मनुष्य निन्दनीय कार्य करते संकोच नहीं करता, अतः उसकी सब जगह निन्दा होती है।

धर्मात्मा मनुष्य को अपना खान-पान आहार विहार शुद्ध सात्विक रखना चाहिये। अभक्ष्य पदार्थ, नशीली चीजें, रोग पैदा करने वाली वस्तुएं न खानी चाहियें।

सदा सज्जन पुरुषों की संगति करनी चाहिये। दुर्जन, दुर्गुण, मूर्ख, व्यसनी पुरुषों की सगति से सदा दूर रहना चाहिये। मनुष्य के आचार व्यवहार पर संगति का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। कुसगति मनुष्य को वर्बाद कर देती है और सत्संगति से मनुष्य का उद्धार हो जाता है। अतः सदा सज्जन पुरुषों के समागम में रहना चाहिये।

सदा अपने ज्ञान को बढ़ाने का अभ्यास करना चाहिये। आवश्यक धार्मिक, सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक ज्ञान प्रत्येक स्त्री पुरुष को होना आवश्यक है।

सब से बुरा पाप विश्वासघात और कृतघ्नता (अहसान फरामोशी) है, अतः धर्मात्मा सज्जन व्यक्ति को कृतज्ञ (अपने साथ की हुई भलाई को याद रखने वाला) बनना चाहिये, जो व्यक्ति अपने साथ भलाई करे उसके साथ कभी बुराई न करे।

इन्द्रियों का दास न बनकर इन्द्रियों को अपना दास बनाना चाहिये जो मनुष्य इन्द्रिय-विजयी होता है उसे कोई नहीं जीत सकता।

दीन दुःखी, दरिद्र, अनाथ, भयभीत जीवों पर सदा दया करनी चाहिये, उनके दुःख संकट दूर करने में तन, मन, धन से प्रयत्न करना चाहिये। दया करना धर्मात्मा व्यक्ति का मुख्य कार्य है जिसके हृदय में दया नहीं उसमें मनुष्यता भी नहीं पाई जाती।

इसके सिवाय मनुष्य को ससार में केवल पाप कार्यों से डरना चाहिये क्योंकि पाप करने से इस जन्म में तथा परजन्म में दुर्गति होती है, दुःख संकट मिलते हैं, आत्मा का पतन होता है। पाप के सिवाय और किसी से डरने की आवश्यकता नहीं।

जैन श्रावक को सदा अपने गुरु के मुख से धर्म-उपदेश सुनना चाहिये, यदि गुरु का समागम न हो तो शास्त्रसभा में शास्त्र सुनना चाहिये, यदि शास्त्रसभा न हो तो स्वयं धर्म ग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहिये।

जो मनुष्य ऊपर लिखी सब बातों का क्रियात्मक आचरण करता है, वह ही श्रावक धर्म का पालन करता है।

प्रवचन न० १४२

स्थान—	तिथि
श्री दिगम्बर जैन लाल मन्दिर, दिल्ली।	आश्विन शुक्ला १० बुधवार, २६ अक्तूबर १६५५

आशा तृष्णा

संसार के समस्त प्राणी इन्द्रियों के दास बनकर एक ही दिशा में दौड़े जा रहे हैं, अपने मन वचन और शरीर की शक्ति का उपयोग अपनी इन्द्रियों की प्यास बुझाने के लिये या इन्द्रियों को प्रसन्न करने के लिये कर रहे है। इसी भाग दौड़ में उनकी सारी आयु बीत जाती है, सारा बल विक्रम नष्ट हो जाता है परन्तु उनकी प्यास नहीं बुझ पाती। जिस तरह खारा पानी पीने से प्यास बुझती नहीं है, और अधिक बढ़ती है, इसी प्रकार इन्द्रियों के विषय भोग पहले तो अपनी इच्छानुसार मिलते नहीं है क्योंकि प्रत्येक प्राणी को इतनी तृष्णा है कि वह समस्त संसार के पदार्थ अकेला ही ले लेना चाहता है, तब अनन्त प्राणियों की इच्छा कहां पूर्ण हो सकती है।

आत्मानुशासन में श्री गुणभद्र आचार्य ने कहा है—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यत्र विश्वमणूपमम् ।
कस्य किं कियदायाति वृथा तो विषयैषिता ॥

यानी—प्रत्येक प्राणी को इतनी दीर्घ आशा लगी हुई है कि उसकी आशा के गहरे गड्ढे को भरने के लिये समस्त संसार परमाणु समान दीखता है। इस दशा में किस किस जीव की आशा पूर्ति के लिये सांसारिक वस्तुओं का कितना कितना हिस्सा आ सकता है ? अर्थात् सारे संसार के पदार्थों से एक जीव की भी आशा पूर्ण नहीं हो सकती तब समस्त जीवों की इच्छा पूर्ण होने के लिये तो कुछ भी नहीं रहता। इस कारण विषयों की इच्छा करना व्यर्थ है।

हाथी जैसा विशालकाय और महाबलवान प्राणी कागज की बनी हुई हथिनी को सच्ची हथिनी समझ कर उससे अपनी विषय वासना तृप्त करने के लिये उसकी ओर दौड़ता है, उसको पता नहीं होता कि जहां वह कागज की हथनी रक्खी है उसके नीचे खड्डा बना हुआ है। परिणाम यह होता है कि वह हाथी वहां पहुंचते ही उस खड्डे में जा पड़ता है, और मनुष्य वहां से पकड़ कर ले जाते हैं, फिर जन्म भर उसे पराधीनता में रहना पड़ता है।

मछियारे मछली पकड़ने के लिये लोहे के कांटे पर जरा सा आटा लगा देते हैं मछली उस आटे को खाने के लिये ज्यों ही उस पर झपटती है कि वह लोहे का कांटा उसके गले में फस जाता है और जीभ की लालसा पूर्ण करने के लिये अपने प्राणों से हाथ धो लेती है।

भौंरा सुगन्धि का बड़ा लोभी होता है, सुगन्धित पदार्थों को सूंघने के लिये उधर जा पहुंचता है, सूंघते सूंघते वहां से हटना नहीं चाहता, और कभी कभी तो अपने प्राण भी वहीं दे बैठता है। कमल का फूल दिन में खिलता है और रात्रि को मुकुलित होकर बन्द हो जाता है। दिन में उस खिले हुए कमल के फूल पर भौंरा उसकी सुगन्धि सूंघने आ बैठता है, और सूंघते सूंघते वहीं बैठा रहता है। अनेक बार रात को भी उसी कमल के भीतर रहकर अपने प्राण तक दे डालता है।

अपनी आंखों की प्यास बुझाने के लिये पतंगा रात को दीपक, लालटेन, बिजली के जलते हुए बल्ब पर झपटता है और वहीं पर जलकर मर जाता है। आजकल रात में असंख्य पतंगे प्रतिदिन इसी तरह अपने प्राणों की बाजी लगाकर अपनी आंखों की लालसा पूरी करने का यत्न करते हैं और उसी यत्न में मर जाते हैं।

हिरण को मीठे सुरीले बाजे की ध्वनि सुनने में बहुत रुचि होती है, इसी कारण हिरणों को पकड़ने के लिये कुछ मनुष्य जंगल में जाकर सुरीला बाजा बजाते हैं बाजे का मधुर स्वर सुनने के लिये हिरण उधर चला आता है और शिकारी के हाथों में अपने कानों की इच्छा पूर्ण करते हुए फंस जाता है।

इस तरह एक एक इन्द्रिय के दास हाथी, मछली, भौंरा, पतंगा और हिरण अपने आपको विपत्ति में डाल देते हैं तो पांचों इन्द्रियों का दास यह मनुष्य तो अनेक विपत्ति उठाता ही रहता है।

मनुष्य जब यह देखता है कि इन्द्रियों के विषय भोग धन के द्वारा प्राप्त होते हैं तो धन कमाने

की आशा में बुरे से बुरे और कड़े से कड़े काम करने पर उतारू हो जाता है। देश विदेश में घूमना, आकाश में उड़ना, नदी नाले लांघना, समुद्र में यात्रा करना, पृथ्वी के नीचे खानों में घुसना, धनिक लोगों की गुलामी करना, चोरी करना, विश्वासघात करना, अनीति करना, डाका डालना, अत्याचार करना, हिंसा करना, व्यभिचार करना कराना आदि सभी बुरे से बुरे कार्य मनुष्य रुपया पैसा पाने की आशा में किया करता है। धन की आशा में सब किसी नीच ऊंच, दुराचारी दुष्ट, निर्दय, अयोग्य पुरुष की चाकरी करने लगता है। एक कवि ने कहा है—

आशायां ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः ॥

यानी—जो मनुष्य आशा के चाकर बने हुए है, वे सारे संसार के चाकर हैं यानी धन की आशा दिखाकर कोई भी मनुष्य उन्हें अपना नौकर बना सकता है। और जो मनुष्य आशा को अपनी दासी बना लेते है यानी- आशा को अपने वश मे कर लेते हैं सारा संसार उनका दास बन जाता है।

बड़े बड़े धनिक सेठ, राजे, महाराजे, सम्राट, चक्रवर्ती आशा के चक्कर में पड़ कर सदा चिन्ताकुल बने रहते हैं, उन्हें अपने धन तथा राज्य को बढ़ाने की तथा उसको सुरक्षित रखने की चिन्ता लगी रहती है, उसी चिन्ता के कारण ये रात को निश्चिन्त होकर सो भी नहीं सकते, उनको सदा चोर डाकुओं का, राजविप्लव, आक्रमण आदि का भय बना रहता है। भोजन भी सन्तोष से नहीं कर पाते, उन्हे उसमें भी विष आदि मिलने की आशंका बनी रहती है। इस तरह बड़ी सम्पत्ति और राज्य पाकर भी सुख से न खा पी सकते हैं, न आराम से सो सकते हैं। सदा कैदियों की तरह पहरेदारों के पहरे में बाहर आते जाते हैं। इस तरह आशा तृष्णा का शिकार यह मनुष्य किसी भी तरह सुख शांति नहीं पाता।

इसी कारण एक कवि ने कहा है—

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा संछिन्द्य कान्ताशां सुखं सुष्वाय पिङ्गला ॥

यानी—किसी विषय की आशा बहुत दुःखदायक है, आशा छोड़ देना बहुत सुखदायक है। पिङ्गला ने जब अपने प्रियतम की आशा छोड़ दी तो उसने सुख की नींद ली।

पिङ्गला नामक एक वेश्या थी उसके एक प्रेमी ने एक बार पिङ्गला को एक स्थान पर मिलने का संकेत किया। पिङ्गला उस स्थान पर नियत समय पर पहुंच गई और अपने प्रेमी के आने की प्रतीक्षा करने लगी। अपने प्रेमी की आशा में बैठे बैठे जब पिङ्गला को बहुत समय बीत गया और उसका प्रेमी आया नहीं, तब पिङ्गला के हृदय में विवेक जाग्रत हुआ कि मेरा सच्चा प्रियतम तो मेरा भगवान् है जो कि हृदय में सदा रह सकता है यदि मैं अपने हृदय से बुरी वासनाओं के कूड़े को झाड़ बुहार कर निकाल फेंकूं तो मेरा प्यारा भगवान् सदा मेरे पास रहेगा। मैं इन दुराचारी स्वार्थी प्रेमियों की आशा में अपना जीवन क्यों खराब करूं।

ऐसा विचार कर उसने ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया और कामवासना के प्रेमी अपने सब मित्रों की आशा छोड़कर, धन, भोगों की आशा छोड़ कर भगवान् की भक्ति में लग गई और बहुत आराम से रहने लगी।

इसी प्रकार जो आशा के पाश में फंसे रहते हैं वे दुःखी बने रहते हैं। जो सब तरह की आशाओं को छोड़ कर अपने प्रियतम आत्मा में तन्मय हो जाते हैं वे परमसुखी हो जाते हैं। चक्रवर्ती सम्राटों को राज्य करते हुए विषय भोगों में शान्ति और तृप्ति नहीं मिली। जिस समय वे विषय भोगों की आशा छोड़ कर घर बार राज पाठ से सम्बन्ध तोड़कर साधु बन गये तब उनको शान्ति और सुख स्वयं अपने आत्मा में ही मिल गया।

जिस तरह मनुष्य यदि अपने शरीर की छाया को पकड़ने दौड़े तो छाया हाथ नहीं आती, आगे आगे भागती चली जाती है। यदि मनुष्य उसको पकड़ना छोड़कर अपने मार्ग पर चला चले तो वही छाया मनुष्य के पीछे स्वयं चलने लगती है। इसी तरह मनुष्य धन की आशा में दौड़ता फिरता है किन्तु शुभ कर्म के बिना वह हाथ नहीं आता। यदि वह आशा की मात्रा घटा कर शुभ कार्य करता जावे तो लक्ष्मी स्वयं उसके पैरों पर लोटने लगेगी।

हम अपनी आत्मनिधि को भूल चुके हैं और उस भौतिक धन को पाने के लिये लालायित हो रहे हैं जो कि न तो आत्मा के साथ रहा और न कभी रहेगा। धन की आशा मनुष्य को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर नहीं रहने देती। जिसके पास कुछ नहीं है वह कुछ सौ रुपये चाहता है तब उसके पास सैंकड़ों हो जाते हैं तब वह हजार पति बनना चाहता है। हजारपति हो जाने पर भी उसको सन्तोष नहीं होता तब वह लखपति बनना चाहता है। सौभाग्य से यदि वह लखपति बन जावे तब भी उसकी आशा शान्त नहीं होती और वह कोटिपति बनने की आशा में चिन्तातुर हो उठता है।

निन्यानवें का फेर

एक नगर में एक धनिक सेठ रहता था उसके पास काफी धन था, फिर भी उसकी इच्छा बढ़ती ही जाती थी जिससे रात दिन धन संचय में लगा रहता था, आराम से न भोजन करता था, न कुछ समय अपने परिवार के साथ बिताता था, न आराम से सोता था।

उसके पास में एक सन्तोषी ब्राह्मण रहता था जो कि केवल एक दिन की भोजन-सामग्री संचित रखता था। एक दिन सेठ के घर अच्छा भोजन बना। रात को कुछ भोजन अपने पड़ौसी ब्राह्मण के घर भेजा, किन्तु ब्राह्मण ने यह कह कर भोजन लौटा दिया कि मेरे घर कल के लिये भोजन सामग्री रक्खी हुई है।

सेठानी ने सेठ से ताना मारते हुए कहा कि देखो ब्राह्मण की सन्तोष वृत्ति को और अपनी आशा तृष्णा को। सेठ ने उत्तर दिया कि ब्राह्मण निन्यानवें ९९ के फेर में आकर सब सन्तोष भूल जावेगा। ऐसा कह कर सेठ ने एक रूमाल में ९९ रुपये बांध कर चुपचाप ब्राह्मण के आंगन में डाल दिये।

ब्राह्मण जब सवेरे उठा तो उसने ९९ रुपये की पोटली अपने आंगन में पड़ी पाई। रुपये देख कर

ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुआ उसने ब्राह्मणी से कहा कि किसी तरह अधिक परिश्रम करके एक रुपया और कमाऊंगा जिससे ये १००) रुपये हो जावेंगे। यह सोच कर कुछ उसने अधिक दौड़ धूप करके ६६) से १००) कर लिये। फिर उसने सोचा कि सौ रुपये ठीक नहीं होते इन्हें सवा सौ करना ठीक रहेगा। यह सोच कर अपने आराम का समय कम करके और अपने भोजन में से बचत करके उसने कुछ दिन में सवा सौ रुपये कर दिये। फिर उसने विचार किया कि ये रुपये २५०) हो जाने चाहियें। तब सवा सौ रुपये और जोड़ने में तन्मय हो गया।

इस तरह ब्राह्मण पर आशा और लोभ का भूत ऐसा सवार हुआ कि वह सेठ से भी अधिक धन संचय में लग गया, समय पर भोजन करना, सोना, विश्राम करना सब कुछ भूल गया। तब सेठानी से सेठ बोला कि देखा निन्यानवें ६६ रुपये का फेर, ब्राह्मण की सन्तोषवृत्ति कहाँ चली गई?

इसी प्रकार सारी जनता धन संचय के चक्कर में न कुछ धर्मध्यान करती है, न परोपकार में कुछ समय लगाती है, न पर्याप्त विश्राम करती है। रात दिन लोभ की चक्की चलाते चलाते अपना अमूल्य समय नष्ट कर देती है। जीवन समाप्त हो जाता है किन्तु आशा समाप्त नहीं होती।

मनुष्य जीवन में जीवन के मूल्यवान क्षण यदि सफल करने हैं तो आशा के दास मत बनो! प्रभात होते ही सब से पहले भगवान् का दर्शन करो, पूजन करो, स्वाध्याय, सामायिक करो, फिर शुद्ध भोजन करके न्याय नीति से व्यापार, उद्योग आदि करो। भाग्य पर विश्वास रक्खो, भाग्य से अधिक एक कौड़ी भी न मिलेगी। अतः नियत समय पर धर्म साधन, भोजन, व्यापार, विश्राम आदि सारे कार्य करो। धर्म आराधन, परोपकार, दान, दीन दुःखियों की सेवा करने से व्यापार में-धन-संचय में सफलता मिलती है।

प्रवचन नं० १४४

स्थान—	तिथि—
श्री दिगम्बर जैन मंदिर कूचा सेठ, दिल्ली।	अश्विनी शुक्ला ११ सोमवार २७ अक्तूबर १६५५

मन की दौड़

आत्मा एक अनन्त शक्तिमान पदार्थ है, उसके ज्ञान सुख बल आदि गुण अथाह अनन्त हैं। उसका सुख गुण जब प्रगट होता है तो वह स्वाधीन सुख आत्मा को अनन्तकाल तक (सदा) सुखी बनाए रखता है, कभी भी रंचमात्र भी फिर वह आत्मा दुखी नहीं होता। आकुलता, व्याकुलता, चिन्ता, उद्वेग, भय, शोक, अशान्ति, अस्थिरता आदि कुछ नहीं होता, अथाह निष्कम्प समुद्र के समान तथा सुमेरु पर्वत के समान अचल बना रहता है, अपने आप में निमग्न रहता है, न कोई इच्छा रहती है, न लालसा, न कोई आवश्यकता होती है। इस प्रकार पूर्ण शान्त, पूर्ण सुखी, पूर्ण स्वाधीन, निर्भय, निर्विकार सदा के लिये बन जाता है, उसे जो कुछ चाहिये वह सब कुछ अपने आप में ही मिल जाता है।

इसी प्रकार जब उसकी ज्ञान ज्योति पूर्ण प्रकट होती है तब उसका प्रकाश समस्त जगत में

फैल जाता है, असंख्य सूर्य, चन्द्र, दीपक आदि एक साथ उदित होकर भी उतना प्रकाश नहीं कर सकते जितना कि एक आत्मा का ज्ञान जगमगाता हुआ प्रकाश करता है। सूर्य चन्द्र कुछ समय पीछे अस्त हो जाते हैं उनका उदय चार पहर से अधिक नहीं रहता उतने थोड़े समय में उनके प्रकाश में अनेक परिवर्तन होते हैं उनका पहले थोड़ा होता है फिर बढ़ता जाता है, दोपहर पीछे फिर बढ़ता जाता है, अन्त में सारा प्रकाश छिप जाता है। दीपक में जब तक तेल और बत्ती रहती है तभी तक वह प्रकाश करता है, तेल या बत्ती समाप्त होते ही वह बुझ जाता है। परन्तु आत्मा का जब ज्ञान पूर्ण विकसित हो जाता है तब उसमें न कभी कमी आती है, न कभी वह बढ़ता है क्योंकि वह सर्वव्यापक तो होता ही है उससे अधिक होने का न कोई स्थान है, न कोई आवश्यकता। समस्त चर अचर पदार्थ उस ज्ञान में उस आत्मा को बिलकुल स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं, कोई भी वस्तु उसकी पूर्ण जानकारी से बाहर नहीं रहती।

वह जिस तरह समस्त जगतवर्ती पदार्थों को वर्तमान रूप से जानता है उसी तरह सभी पदार्थों का पूर्णभूत और पूर्ण भविष्य भी स्पष्ट जानता है। यानी- ऐसी कोई भी वस्तु तथा उसकी कोई ऐसी दशा नहीं जो पूर्ण विकसित ज्ञान द्वारा जानने से छूट जावे। तब फिर न कभी कोई शंका होती है, न अंट शंट, उलटा बोध होता है, न किसी प्रकार अनध्यवसाय होने पाता है और न किसी प्रकार का आश्चर्य उसे हो पाता है। सारांश यह है कि उस पूर्ण विकसित ज्ञान में जानने विषयक रंचमात्र कोई भी त्रुटि नहीं रहने पाती।

उस पूर्ण विकसित ज्ञान के साथ ही उस आत्मा में अनन्त आत्मबल का भी प्रादुर्भाव होता ह जिसके द्वारा वह सदा निरन्तर जगतवर्ती समस्त पदार्थों को पूर्णरूप से जानता हुआ भी न थकता है, न उसके बल में कमी आती है। जिसे बहुत भारी विद्वान् पुरुष भी अध्ययन करते करते थक जाता है, उसका दिमाग आगे कार्य नहीं करता, पढ़ना लिखना उसे बन्द करना पड़ता है। अनेक मनुष्य दिमाग की निर्बलता से पागल हो जाते हैं। विज्ञान तथा गणित के कठिन प्रश्नों को हल करने में मनुष्य शीघ्र थक जाता है क्योंकि मनुष्यों में बल की कमी है। परन्तु ऐसी कमी उन आत्माओं (परमात्माओं) में नहीं हुआ करती, जिनका ज्ञान पूर्ण विकसित है और जिनमे अनन्त बल भी पाया जाता है।

संसारी जीवों को, जैसे रहने के लिये शरीर मिला करता है, नाम कर्म के द्वारा, इसी तरह उनको अपना ज्ञान काम में लेने के लिये उसी शरीर में पाच इन्द्रियां मिला करती हैं। १. स्पशन (त्वचा-चमड़ा) इन्द्रिय पदार्थों को छूकर ठंडक, गर्मी आदि का ज्ञान कराती है। २. रसना(जीभ) इन्द्रिय खट्टे मीठे आदि स्वादों को जनाती है तथा बोलने में भी काम आती है। ३. घ्राण (नाक) सुगन्ध, दुर्गन्ध बतलाती है तथा सांस भी लेती है। ४. नेत्र इन्द्रिय से देखते हैं उन चीजों को जिनमें कि कोई न कोई रग होता है। बिना रंग के अमूर्तिक पदार्थ अथवा सूक्ष्म रंगदार पदार्थ हवा आदि नेत्रों द्वारा दिखाई नहीं देते। ५. कर्ण (कान) इन्द्रिय मनुष्य, पशु, बाजे आदि की आवाज सुना करती है।

जो जीव एकेन्द्रिय हैं उनमें केवल पहली स्पर्शन इन्द्रिय होती है जैसे पेड़ आदि। दोइन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना ये दोइन्द्रियां होती हैं जैसे गेहुँआ, लट (चावल आदि में पड़ने वाली गिड़ार) जोंक, शंख, कौड़ी आदि। तीन इन्द्रिय जीवों के पहली तीन इन्द्रियाँ होती हैं जैसे खटमल, जूं, चींटी आदि। चार इन्द्रिय जीवों में स्पर्शन, रसना, नाक और आँख ये चार इन्द्रियाँ होती हैं जैसे मच्छी,

मच्छर, पतंगा आदि। पंचेन्द्रिय जीव के सभी इन्द्रियाँ होती हैं जैसे मनुष्य, गाय, कबूतर, मछली, सांप आदि।

ज्ञानावरण कर्म ने जीव के ज्ञान पर पर्दा डाला हुआ है वह ज्ञान का पर्दा ज्यों ज्यों हटता जाता है त्यों त्यों ज्ञान का विकास होता जाता है। तदनुसार एकेन्द्रिय जीवों से दोइन्द्रिय जीवों में, दोइन्द्रिय जीवों से तीनइन्द्रिय जीवों में, तीनइन्द्रिय जीवों से चार इन्द्रिय जीवों में और चार इन्द्रिय जीवों से पांचइन्द्रिय जीवों में ज्ञान का विकास अधिक होता है। जिस तरह मकान में प्रकाश आने के लिये प्रकाशदान (रोशनदान) खिड़कियाँ द्वार होते हैं इसी तरह शरीर में ये इन्द्रियाँ बाहरी वस्तुओं का ज्ञान कराने वाली हैं। संसारी आत्मा इन इन्द्रियों के सहारे पदार्थों को जानता है। यदि आँख, कान आदि इन्द्रिय किसी तरह खराब हो जावें तो अन्धे बहरे होकर वे इन्द्रियाँ उस विषय का (देखने, सुनने आदिका) ज्ञान नहीं करा सकतीं यानी आत्मा में सुनने देखने आदि की शक्ति रहते हुए भी अपने बाहरी सहारे इन्द्रियों में खराबी आने पर सुन देख भी नहीं सकता। इस तरह ये इन्द्रियाँ बुड्ढे मनुष्य को चलने में सहारा देने के लिये लकड़ी के समान हैं। संसारी जीव इन इन्द्रियो के सहारे से जानता है।

इन्द्रियों की बाहरी बनावट नामकर्म के द्वारा होती है और उन इन्द्रियों के स्थान पर उस इन्द्रिय द्वारा जानने योग्य शक्ति ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से हुआ करती है जिसे कि भाव-इन्द्रिय कहा जाता है। इसी कारण प्रत्येक इन्द्रिय पृथक् पृथक् रूप से अपने ही विषय को जान सकती है अन्य विषय को नहीं जाना करती। जैसे—आँखें केवल देख सकती है। सुनना, सूंघना आदि अन्य ज्ञान उनके द्वारा नहीं हो सकता।

इन पांच इन्द्रियों के सिवाय कुछ संसारी जीवों के पास एक और अभ्यन्तर (भीतर रहने वाली) गुप्त इन्द्रिय होती है जिसका नाम 'मन' है। मन हृदय में एक आठ पांखुड़ो वाले कमल के आकार का होता है। मन के द्वारा आत्मा विचार किया करता है, जिन जीवों के मन नहीं होता है वे अपनी इन्द्रियों द्वारा दूसरे पदार्थों को जान तो लेते हैं किन्तु अपने विषय में या किसी अन्य विषय में सोच विचार नहीं सकते। जो जीव एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय होते हैं उनके मन नहीं होता। पंचेन्द्रिय जीवों में कुछ पशु ऐसे होते हैं जिनके मन नहीं होता, शेष सभी पंचेन्द्रिय जीवों के मन होता है।

मन अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा बहुत छोटा होता है और शरीर के भीतर गुप्त रूप से रहता है, परन्तु यह सूक्ष्म मन ही समस्त इन्द्रियों का अधिष्ठाता होता है। जिस तरह केन्द्र में गुप्त रूप से बैठा हुआ प्रधानमन्त्री देश के समस्त विभागों के समस्त कार्यों का संचालन करता है उसी तरह मन भी भीतर बैठा हुआ सब इन्द्रियों को चलाता रहता है। प्रत्येक इन्द्रिय के साथ मन का ज्ञानतन्तु जुड़ा हुआ है। नेत्र यदि किसी पदार्थ को देखते हैं तो उसी समय मन को मालूम हो जाता है, कान यदि कुछ सुनते हैं तो वह तुरन्त मन जान लेता है, इस तरह किसी भी बात को कोई भी इन्द्रिय जाने, मन को तत्काल ज्ञात हो जाता है।

इन्द्रियों का कार्य अपने अपने विषयों को जानना है सो वे तो पदार्थों को जानती हैं किन्तु उन जाने हुए विषयों मे इष्ट अनिष्ट की तत्काल कल्पना कर लेता है, जो वस्तु उसे प्रिय लगती है उससे

प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करने लगता है। और जो चीज मन को अप्रिय लगती है उस वस्तु से घृणा या द्वेष करने लगता है। जो चीज उसे व्यर्थ जान पड़ती है उसकी ओर ध्यान नहीं देता। इस समस्त इन्द्रियों की लगाम या नकेल मन के पास होती है यह मन सब इन्द्रियों का चौधरी (मुखिया) बना हुआ है।

एक नाटकघर में नृत्य गान हो रहा है, समस्त इन्द्रियों की सुखद सामग्री जुटी हुई है, एयर-कंडीशन के कारण वहाँ की वायु स्पर्शन इन्द्रिय को सुख दे रही है, पान मिठाई आदि स्वादिष्ट पदार्थों से समस्त मनुष्यों की जीभ आनन्द ले रही है, इनकी महक से नाक तृप्त हो रही है, नेत्र सुन्दर नृत्य देख रहे हैं और कान गाने बाजों की मधुर ध्वनि सुन रहे हैं। उस समय मन को जिस इन्द्रिय का विषय अधिक लग रहा है उसी विषय का आनन्द अधिक आरहा है, शेष विषयों का उतना अनुभव नहीं होता है।

मन की प्रवृत्ति यदि अन्य किसी ओर हो तो नेत्र देखते हुए भी नहीं देख पाते, कान सुनते हुएभी कुछ नहीं सुन पाते, जीभ चखती हुई भी रसका अनुभव नहीं कर पाती। मन प्रसन्न होता है तो अप्रिय पदार्थ भी अप्रिय नहीं मालूम होते। पं० टोडरमल जी का मन जब गोम्मटसार की टीका में लगा रहता था तब भोजन करते हुए उनको दाल शाक आदि के नमक, मिर्च आदि का फीकापन या तीखापन नहीं मालूम होता था। यदि मन किसी गंभीर सोच विचार में मग्न हो तो नगाड़ों की ध्वनि भी कानों को सुनाई नहीं देती और खुले हुए नेत्र भी कुछ नहीं देख पाते। यहां तक बात है कि मनमें यदि विपरीत विचारधारा चल रही हो तो इन्द्रियों की जानी हुई सीधी बात भी उलटी ज्ञात होती है। शोक में डूबे हुए मनुष्य का मन दुखका अनुभव करता है अतः स्वादिष्ट भोजन उसे कड़वे जहर मालूम होते हैं। नाच गान, खेल तमाशे उसे दुखदायक प्रतीत होते हैं।

इतना ही नहीं, अपितु जब सब इन्द्रियां अपना अपना कार्य बन्द करके आराम करती हैं उस सुप्त दशा में (सोते हुए) भी मन स्वप्न में सारे कार्य किया करता है। स्वप्न में वह पढ़ लिख भी लेता है, पूजन स्वाध्याय भी करता है, व्यापार भी करता है, लड़ता झगड़ता भी है, विवाह भी कर लेता है, बाल बच्चे भी हो जाते हैं, काम-सेवन का दृश्य भी बन जाता है और उस दशा में मनुष्यों को स्वप्नदोष (बिना मैथुन के वीर्यपात) भी होजाता है। इसे स्वप्नदोष कहा जाय या मनका दोष कहा जावे।

इस तरह बिना किसी बात के यह मन आत्मा को पापजाल में भी फंसा देता है।

चंचल यह इतना है कि संसार में इसके बराबर तेज दौड़ने वाला और कोई नहीं दिखाई देता। वायु, शब्द, हवाई जहाज, मोटर, बिजली आदि कोई भी शीघ्रगामी पदार्थ इसकी बराबरी नहीं कर सकता। सबसे अधिक तेज चाल परमाणु की है जो कि एक क्षण (समय) में १४ राजु (असंख्य योजन) तक दौड़ जाता है परन्तु मन की चाल उससे भी तीव्र है, मन एक क्षण में ३४३ राजु का चक्कर लगा लेता है। एक ही मिनट में एशिया, यूरोप, अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया का चक्कर काट आता है। अतः इस चंचल मन को प्रतिसमय कुछ न कुछ चाहिये। अच्छा काम सोचने को मिले तो उस अच्छे काम में उलझा रहेगा, यदि अच्छा विषय न मिले तो बुरे सोच विचार में लग जायगा।

ऐसे महान् चंचल, विलक्षण शक्तिशाली, अद्भुत पराक्रमी मन को अपने वश में रखना चाहिये जिससे आत्मा के लिये अच्छी कल्याणकारी बातों का विचार करे। एक मन में ४० सेर होते हैं तदनुसार मन में ४० शेरों की शक्ति होती है। जो मनुष्य ४० शेरों की शक्ति वाले इसको अपने वश में रख सकता है, वह संसार में किसी से नहीं हार सकता। जिस कार्य में मन साथ देता है वह कार्य सफल होता है। व्रत, तप, संयम, त्याग, पूजन, दर्शन, स्वाध्याय, सामायिक तभी आत्मा को शुद्ध करने में सहायता करते हैं जब कि वे मन के साथ किये जाते हैं। यदि पूजन, सामायिक, स्वाध्याय आदि धर्म कार्य करते हुए मन उन कार्यों में संलग्न न हो तो उनसे आत्मकल्याण नहीं होता। सामायिक करते हुए यदि मन बुरे विचारों में डूबा हुआ हो तो सामायिक की बाहरी क्रिया भी आत्मा का कुछ भला नहीं कर पाती। तन्दुल-मत्स्य केवल मन के हिंसक विचारों के कारण ही सातवें नरक में जाता है।

धर्मध्यान शुक्लध्यान मन की ही तो एक दौड़ हैं, उस दौड़ में मन सांसारिक विचारों से हट कर राग, द्वेष, भय, शोक आदि की धाराओं में न बह कर शुद्ध विचारधारा में बहता है जिसका परिणाम यह होता है कि करोड़ों भव के संचित कर्म अन्तर्मुहूर्त (पौन घंटे से भी कम समय) मे ही आत्मा से छूट जाते हैं। जिन कर्मों के बंधन या संचय में आत्मा को महान् परिश्रम करना पड़ता है वह महान् कर्म आत्मा-मन को नियंत्रित करके शुक्लध्यान से सहज में क्षय कर देता है। इस तरह मन के विचारों में जहां कुपथ पर चलकर आत्मा को कर्म बन्धन में जकड़ कर संसार की जेल में रखने की शक्ति है वहीं उस कर्म बन्धन को झटपट काट देने की भी शक्ति है। इसी कारण कहा है कि—

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'

यानी—मनुष्यों का मन ही संसार बन्धन या कर्म बन्धन का कारण है और कर्म ही कर्म-मुक्ति या संसार से मोक्ष दिलाने का कारण है।

अतः जिस मन ने अनादि काल से अब तक आत्मा को संसार में रुलाया है, अनेक क्या सभी अप्रिय प्रसंग पैदा किये हैं उसी मन को अब आत्मा की शुद्धि के लिये काम में लेना चाहिये। इसके लिये व्रत, तप, संयम, सामायिक, पूजा, स्वाध्याय आदि धर्म कार्य करते समय मन की विचार धारा सांसारिक कार्यों तथा विषयभोगों में न जाने देना चाहिये। दिन रात जब संसार के कार्यों में मन को फंसाये रखते हो तो कुछ समय तो आत्म-कल्याण के लिय धर्म-ध्यान में भी लगाना आवश्यक है।

प्रवचन नं० १४५

स्थान— तिथि—

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली। आश्विन शुक्ला १२ शुक्रवार, २८ अक्तूबर १६५५

पंच लब्धि

प्रत्येक जीव अपने भाग्य का विधाता स्वयं आप है। जिस प्रकार रेशम का कीड़ा स्वयं अपने भीतर से रेशमी तार निकाल कर अपने ऊपर लपेट कर अपना बन्धन तैयार करता है और यदि वह ठीक

समय पर चाहे तो स्वयं अपने चारों ओर लिपटे हुए उस रेशमी बन्धन को काट कर बाहर आ सकता है और स्वतन्त्रता का सुख अनुभव कर सकता है। परन्तु वह ऐसा नहीं करता अतः अपने तैयार किये हुए उस जाल में ही फंसा रहता है। परिणाम यह होता है कि उसी जाल में फंसा हुआ मारा जाता है। इसी प्रकार संसारी जीव अपने राग-द्वेष आदि दुर्भावों से अपना कर्म-बन्धन तैयार करता है और उस बंधन में फंसा हुआ अनेक प्रकार की यातनाए पाता है, अपमानित होकर दुःख सहता है। उसे उस बन्धन से स्वतन्त्र होने के अवसर भी मिलते हैं किन्तु उन अवसरों से लाभ नहीं उठाता, जिसका परिणाम यह होता है कि इसका संसार चक्र समाप्त नहीं हो पाता। जो बुद्धिमान् व्यक्ति अवसर से लाभ उठा लेते हैं, वे कर्मजाल काट कर सदा के लिये स्वतन्त्र हो जाते हैं समस्त दुःखों से मुक्ति पा लेते हैं।

इस तरह यह जीव अपना दुर्भाग्य भी स्वयं बनाता है—पाप क्रिया, अत्याचार, अनाचार, अन्याय द्वारा दुःखदायक अशुभ कर्मों का जाल बुनता है और नियमानुसार उन पाप कर्मों का दुःखदायक फल नरक आदि में स्वयं उठाता है। तथा अपना सौभाग्य भी यह जीव स्वयं बनाया करता है। दान, परोपकार, दीन दुखियों की सेवा, लोककल्याण, जीवदया आदि शुभ कार्य करके शुभ कर्मों का बन्ध पुण्य-बन्ध भी स्वयं करता है जिससे सुवर्ण की बेड़ी की तरह सांसारिक सुखदाता फल इसे स्वर्ग आदि में मिला करता है। यानी—संसारी जीव को सुख या दुःख देने के लिये कोई और नहीं आता, दोनों कार्य स्वयं यह जीव ही अपने लिये करता है।

इस शुभ अशुभ कर्म-बन्धन से स्वतन्त्र करने के लिये भी कोई और नहीं आता, उस बन्धन को तोड़ने की शक्ति भी इस जीव में ही है। परन्तु प्रत्येक कार्य के लिये योग्य अवसर की आवश्यकता है, जैसे गेहूं का बीज आषाढ़ में नहीं बोया जाता उसके बोने का समय शीत ऋतु के प्रारम्भ में आता है, उसी प्रकार कर्म जाल छिन्न भिन्न करने का अवसर भी एकेन्द्रिय आदि शरीरों में नहीं मिला करता उसके लिये भी उचित अवसर की आवश्यकता है। किन्तु अनेक वार अवसर पाकर भी यह जीव प्रमाद (गफलत) में उससे लाभ नहीं उठा पाता। जिस तरह विष्ठा का कीड़ा उसी दुर्गन्धि में रहना अच्छा समझता है उसी तरह संभवतः संसारी जीव को भी कर्मों की गुलामी से घृणा नहीं रही इसी कारण विषय भोगों की लोलुपता में सुवर्ण अवसर भी खो देता है।

एक गन्ध लोलुपी भौंरे की दशा का चरित्र चित्रण इस विषय में ठीक फबता है—

सूर्य उदय होते ही जैसे कमल के फूल खिले त्यों ही एक भौंरा एक कमल फूल पर जा बैठा और उसकी गन्ध सूंघते सूंघते दिन भर वहीं पर बैठा रहा, वहां से उड़ा नहीं। गन्ध का आनन्द लेता रहा। जब शाम होकर सूर्य अस्त होने लगा और उस कमल की पंखुड़ियां मुकुलित होकर बन्द होने लगीं, तब उस भौंरे को वहां से उड़ जाना चाहिये था, परन्तु कमल की गन्ध सूंघने में मस्त होकर ऐसा न किया। परिणाम यह हुआ कि कमल बिलकुल बन्द हो गया और वह गन्ध लोलुपी भौंरा भी उसी कमल के भीतर बन्द हो गया।

उस दशा में भी यदि भौंरा चाहता तो अपने तीक्ष्ण डंक से उस कोमल कमल की पंखुड़ियों को छेद करके बाहर निकल जाता, क्योंकि बड़े बड़े बांसों में भी अपने डंक से छेद करके जब भौंरा उनमें छेद कर देता है तो कमल का फूल छेद देना उसके लिये क्या कठिन बात है। किन्तु उस भौंरे ने ऐसा भी

नहीं किया वह वहीं पर बन्द रह कर भी गन्ध ही सूंघता रहा। इस के आगे जो कुछ होता है उसको कवि ने अपने निम्नलिखित श्लोक में बहुत सुन्दर ढङ्ग से लिख दिया है। भौंरा विचारता है—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं,
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कज श्रीः।

यानी—कुछ देर पीछे रात बीत जायगी, और सवेरा (प्रातः) हो जायगा, सूर्य का उदय होगा, और कमल विकसित होगा। यानी—कुछ देर पीछे मेरी इस जेल के फाटक स्वयं खुल जायेंगे, मैं क्यो फल में छेद करूं।

तब होता क्या है—

इत्थं विचिन्तयति पद्मगते द्विरेफे,
हो हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥

यानी—भौंरा ऐसा सोच विचार कर ही रहा था कि उसी समय एक हाथी उस तालाब में पानी पीने आया। पानी पी कर उस गजराज ने उस कमल को तोड़ कर अपने मुख में रख लिया, बेचारा भौंरा अपनी उधेड़ बुन में ही अपने प्राण खो बैठा।

इसी तरह संसारी जीव विषयों में मस्त होकर अपना समय खो देता है, बुद्धिमान् मनुष्य भी आत्म-उद्धार के लिये कुछ समय नहीं लगाते हैं उन्हें 'शुभस्य शीघ्रम्' नीति के अनुसार करना तो ऐसा चाहिये—

काल करे जो आज कर, आज करे सो अब।
पल में परलय होयगी, बहुरि करोगे कब।

यानी—जो शुभ कार्य कल करना चाहते हो उसको आज कर डालो, जिसे आज करना चाहते हो उसको अभी कर डालो, क्योंकि यदि अगले क्षण में प्रलय (बड़ा भारी कोई उपद्रव या मृत्यु) हो गई तो फिर उस काम को कब कर सकोगे।

इस नीति के अनुसार न चल कर प्रमादी मनुष्य यों सोचा करते हैं कि—

आज करना सो कल कर लेना, कल करना सो परसों।
जल्दी ऐसी कहां पड़ी है, अभी पड़ी हैं बरसों॥

यानी—जो कार्य आज करना है उसे कल कर लेना और जिसे कल करना चाहते हो उस काम को परसों (तीसरे दिन) कर लेना। क्योंकि अभी तो आयु के अनेक वर्ष पड़े हुए हैं, जल्दी क्या पड़ी हुई है।

ये बातें प्रमादी (आलसी) लोगों की है, ऐसे मनुष्य अच्छे अवसर खो कर अपनी बहुत भारी हानि कर लेते हैं, अतः मनुष्य भव का प्रत्येक क्षण शुभ अवसर है इसमें आत्म-उन्नति के लिये अच्छी क्रियाएं सदा करते रहना चाहिये।

हां तो आत्म-उन्नति का मूल कारण जो सम्यग्दर्शन है उसको प्राप्त करने के लिये ५ सुन्दर अवसर प्राप्त होते हैं जिनको कि शास्त्रीय भाषा में 'लब्धि' (लाभ) कहते हैं—१. क्षयोपशम, २. विशुद्धि, ३. देशना ४. प्रायोग्य और ५. करण।

सम्यग्दर्शन प्राप्त होने योग्य ज्ञानावरण आदि कर्मों का क्षयोपशम होना क्षयोपशम लब्धि है। इस अवसर पर ज्ञानावरण आदि समस्त अशुभ (अशस्त) प्रकृतियों का अनुभाग (शक्ति-रस) प्रतिसमय अनन्तगुणा घटता हुआ उदय में आता है और उत्कृष्ट अनुभाग के अनन्तवें भाग जो देशघाति स्पर्द्धक हैं उनका उदय होता है तथा उत्कृष्ट अनुभाग का अनन्त बहुभाग प्रमाण सर्वघाति स्पर्द्धक सत्ता में स्थित (उपशम) रहते हैं। इस प्रकार उदयाभावी क्षय, उपशम तथा उदयरूप परिणामों के कारण सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रथम अवसर होता है इसका नाम क्षयोपशम लब्धि है।

क्षयोपशम लब्धि होने के बाद जीव में जो दर्शन, पूजन, सामायिक, स्वाध्याय, व्रत, नियम, तीर्थ-यात्रा, दान, परोपकार आदि करने के जो भाव होते हैं जिन से कि सा..वेदनीय, शुभआयु, शुभनाम, उच्च गोत्र रूप पुण्य प्रकृतियों का बन्ध होता है आत्मा के परिणामों की इस निर्मलता को दूसरी लब्धि 'विशुद्धि' कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन प्राप्त होने की योग्यता रूप दूसरा शुभ अवसर होता है। इस अवसर पर अशुभ संक्लेश रूप परिणाम कम हो जाते हैं धर्म तथा धर्म के फल में अनुराग रूप शुभ परिणाम होते हैं।

तदनन्तर आत्मा के शुद्ध स्वरूप के बतलाने वाले, छह द्रव्य, नौ पदार्थ, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का—मोक्षमार्ग का उपदेश देने वाले सद्गुरु का समागम प्राप्त हो, उनका आत्महित-उपदेश हृदय में स्थान पावे इसका नाम 'देशना' लब्धि है। बिना गुरु के कोई विद्या प्राप्त नहीं होती तदनुसार आत्म शुद्धि की प्रक्रिया समझाने वाले सद्गुरु के उपदेश से ही सम्यक्त्व प्राप्त होने का अवसर मिलता है। नरक आदि स्थानों पर आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि आत्म हित उपदेशक का मिलना असंभव है ऐसे स्थानों पर पहले भव में सुने हुए उपदेश का संस्कार कार्य करता है, पहले भव का स्मरण आते ही वह उपदेश याद आ जाता है, इस प्रकार वहां भी देशना लब्धि का अवसर मिलता है।

इन तीनों लब्धियों के मिल जाने पर जब प्रतिसमय बढ़ती हुई विशुद्ध परिणामों के कारण कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति न रहे, अन्तः कोटा कोटि (कोटा कोटि के भीतर,—करोड़ को करोड़ से गुणा करने पर जो सख्या होती है वह कोटाकोटि है) सागर (असंख्यात वर्ष) प्रमाण (अधिक से अधिक) स्थिति आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की रहे तब 'प्रायोग्य' लब्धि होती है। इस अवसर पर जीव के विशुद्ध परिणामों से ७ कर्मों की स्थिति कम होकर अन्तः कोटाकोटि सागर से अधिक नहीं रहने पाती। उस समय घाति कर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय) की अनुभाग शक्ति (फल देने की शक्ति) शैल, अस्थि रूप न रह कर लता और दारु रूप रह जाती है तथा अघाति कर्मों (वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र) की अनुभाग शक्ति विष हालाहल से घट कर निंब कांजीर रूप रह जाती है।

'करण' का अर्थ आत्मा के भाव हैं। जिस समय ऊपर कहीं चार लब्धियों के बाद आत्मा के परिणाम उत्तरोत्तर अधिक विशुद्ध होते जाते हैं जिससे कि आत्मा की दर्शन मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व प्रकृति तथा चारित्र मोहनीय की अनन्तानुबन्धी कषाय प्रति समय क्षीण होती चली जाती है उस समय यह करण लब्धि होती है। करण के तीन भेद हैं—१ अधःकरण, २ अपूर्वकरण, ३ अनिवृत्तिकरण। इन तीनों में से प्रत्येक करण अन्तर्मुहूर्त तक होता है, तीनों करणों का सम्मिलित समय भी अन्तर्मुहूर्त है। (अन्तर्मुहूर्त छोटे बड़े की अपेक्षा अनेक प्रकार का होता है)।

अधःकरण के जितने समय हैं उतने ही परिणाम होते हैं और वे उत्तरोत्तर विशुद्ध होते जाते हैं। इस तरह समयों के अनुसार अधःकरण के असंख्यात परिणाम हैं। भिन्न भिन्न जीवों की अपेक्षा अधः-करण वाले आगे (समय की अपेक्षा पहले प्रारम्भ करने वाले) के जीवों के कुछ परिणाम पीछे प्रारम्भ करने वाले (अधः समयवर्ती) जीवों के परिणामों के ही समान विशुद्धता वाले होते हैं, इसी कारण इसका नाम 'अधःकरण' है।

अधःकरण का समय समाप्त होते ही अपूर्वकरण प्रारम्भ होता है, इसके भी जितने समय होते हैं उतने ही उत्तरोत्तर विशुद्ध परिणाम हैं, वे अपूर्व अपूर्व (पहले कभी नहीं हुए) परिणाम होते हैं, समान समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश भी होते हैं और विसदृश (असमान) भी होते हैं। परन्तु असमान समयवर्ती पिछले समय वाले जीवों से बिलकुल नहीं मिलते। इसी कारण इसका नाम 'अपूर्वकरण' है।

अपूर्वकरण का समय समाप्त हो जाने पर अनिवृत्तिकरण होता है। अनिवृत्तिकरण के जितने समय हैं उतने ही उत्तरोत्तर विशुद्धता की वृद्धि सहित परिणाम हैं। इस कारण समान समयवर्ती सभी जीवों के परिणाम समान होते हैं, जिस तरह वे शरीर की आकृति आदि से परस्पर निवृत्त होते हैं यानी एक समान नहीं होते उस तरह समान समयवर्ती जीव परिणामों की समानता से निवृत्त नहीं होते यानी परिणामों में सब समान होते हैं इस कारण इस करण का नाम 'अनिवृत्तिकरण' है। अधःकरण के प्रारम्भ से लेकर यहां तक परिणामों में अनन्तगुणी विशुद्धता हो जाती है। इस कारण प्रति समय अशुभ कर्मों की स्थिति अनुभाग क्षीण होता चला जाता है और शुभ कर्म प्रकृतियों की शक्ति बढ़ती चली जाती है। मिथ्यात्व मोहनीय कर्म और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का उपशम हो जाता है तब आत्मा की अनुभूति रूप सम्यक्त्व होता है जिसको प्रथम उपशम सम्यक्त्व कहते हैं। सम्यक्त्व होते ही आत्मा का अनुभव होने से अपूर्व अनुपम आनन्द होता है।

इन पांचो लब्धियों में से पहली चार लब्धियां भव्य तथा अभव्य जीवों के भी हो जाती है किन्तु करण लब्धि केवल भव्य जीवों को ही होती है। सम्यग्दर्शन करण लब्धि होने पर ही प्रगट होता है।

ये लब्धियां संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के ही जाग्रत तथा ज्ञानोपयोग वाली दशा में ही होती हैं। सम्मूर्छन जीवों के नहीं होती।

लब्धियों को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना भी आवश्यक है। अपनी शक्ति अनुसार व्रत आदि करके धर्मध्यान में मन लगाना चाहिये। स्वाध्याय, उपदेश श्रवण आदि तात्विक ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। अपना एक क्षण भी व्यर्थ न खोना चाहिये।

प्रवचन नं० १४६

स्थान— तिथि—

श्री दिगम्बर जैन मंदिर, कूचा सेठ, दिल्ली। आश्विन शुक्ला १३ शनिवार, २६ अक्टूबर १६५५

क्रान्तकारी परिवर्तन

आकाश द्रव्य के जितने भाग में जीव पुद्गल आदि द्रव्य अवलोकन किये जाते हैं उतने आकाश को लोकाकाश या जगत कहते हैं। यह किसी विशेष समय मे उत्पन्न नहीं हुआ, सदा से है, इसका प्रारम्भ कभी नहीं हुआ इस कारण काल की दृष्टि से यह जगत अनादि काल से है, अतः जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश भी अनादिकाल से चले आ रहे हैं। जीवों में मुक्त जीव भी अनादि समय से हैं और कर्म बन्धन से परतन्त्र ससारी जीव भी अनादिकाल से हैं।

कर्मबन्धन जीव के अशुद्ध भावों-राग द्वेष आदि से होता है और उस मोहनीय आदि कर्म के उदय से राग, द्वेष, क्रोध, मान आदि विकृत भाव होते रहते हैं इस तरह द्रव्यकर्म से भावकर्म और भाव-कर्म से द्रव्यकर्म की परम्परा सदा से चली आ रही है।

राग द्वेष आदि भावकर्मों की उत्पत्ति का कारण द्रव्यकर्मों का उदय है तथा अनादिकाल से यह जीव पर्यायबुद्धि बन गया है अतः उसके पर्यायबुद्धि संस्कार भी राग, द्वेष, मोह की उत्पत्ति में कारण हुआ करते हैं। जीव जिस पर्याय को पाता है उसी पर्याय को अपना रूप मान बैठता है, उसी शरीर को आत्मा समझ लेता है, अतः शरीर के सुख दायक पदार्थों से स्वयं राग (प्रेम) करता रहता है और शरीर को दुखदायक सामग्री को बुरा समझ कर उनसे द्वेष घृणा किया करता है।

मूत्र विष्ठा बहुत घृणित पदार्थ समझे जाते हैं प्रत्येक मनुष्य मल मूत्र देखकर नाक भौं सिकोड़ता है उसे देखना भी नहीं चाहता। परन्तु अशुभ कर्म के उदय से मनुष्य को टट्टी में पैदा होने वाले कीड़े की पर्याय मिल जावे तो यह जीव उसी पर्याय में प्रेम करने लगता है उसी टट्टी में रह कर मस्त हो जाता है जिसे देखकर पहले नाक भौं सिकोड़ता था। इसकी एक प्राचीन कथा प्रसिद्ध है—

एक राजा ने एक दिव्यज्ञानी मुनि से अपना भविष्य पूछा कि महाराज! मैं अगले भव में कौन सा शरीर पाऊ गा? अवधिज्ञान से जानकर मुनि ने उसको उत्तर दिया कि तू मर कर अमुक दिन अपने ही टट्टी घर में अमुक रंग का कीड़ा होगा।

राजा ने अपने मन में सोचा कि निर्ग्रन्थ निःस्पृह तपस्वी मुनि का न तो जानना असत्य होता है और न असत्य वचन ही वे अपने मुख से कहते हैं, अतः इनका भविष्य कथन अमिट सत्य है, यह सोचकर उदास होकर अपने घर आया। घर आकर उसने अपने पुत्र को बुलाया और मुनि महाराज के कथनानुसार अपने अगले भव का समाचार सुनाया। उसके पुत्र को भी अपने पिता की दुर्गति का बहुत शोक हुआ किन्तु 'भावी दुर्निवार है।' ऐसा सोचकर चुप रह गया।

तब वह राजा बोला कि अब मुझे अमुक दिन अमुक रंग के कीड़े का शरीर अपने ही टट्टी घर में

मिलेगा तो अवश्य, किन्तु तू पुत्र होने के नाते (पुनाति स्वकुलं इति पुत्रम्—यानी जो अपने कुल को पवित्र करे उसे पुत्र कहते हैं) मुझे दुर्गति में अधिक समय तक न रहने देना, तत्काल उस टट्टी के कीड़े को मार देना, जिससे मेरा उद्धार उस पर्याय से हो जावे। पुत्र ने पिता की आज्ञा स्वीकार की।

नियत दिन राजा मर गया और अपने ही टट्टी घर में मुनि के कहे अनुसार उसी रंग का कीड़ा हो गया। समस्त चिन्ह देखकर राजा का लड़का टट्टी घर में जाकर उस कीड़े को मारने पहुंचा। किन्तु ज्यों ही उसने उस कीड़े को मारना चाहा त्यों ही वह कीड़ा भागकर अपने प्राण बचाने के लिये टट्टी में छिप गया। यह देख राजा के पुत्र को बहुत आश्चर्य हुआ।

वह दूसरे दिन उन ही दिव्यज्ञानी मुनीश्वर के पास गया और अपने पिता की पिछली सारी कथा कह सुनाई। साथ ही यह भी पूछा कि जब मैं अपने पिता की ही इच्छा-अनुसार उस कीड़े को मारने गया तब वह कीड़ा प्राण बचाने के लिये टट्टी में क्यों छिप गया?

मुनिराज ने उत्तर दिया कि जब तेरा पिता मनुष्य था तब उसे टट्टी का कीडा बनने से घृणा थी। अतः उसने कीड़े की पर्याय से उद्धार पाने के विचार से तुझको कहा था, परन्तु अब न तो उस कीड़े को अपना पूर्वभव याद है और न वह इस समय उस कीड़े के शरीर को टट्टी में रहने को बुरा समझता है, अतः वह अब नहीं मरना चाहता, वह तो अब उसी पर्याय में प्रसन्न है।

मुनिराज का उत्तर सुनकर उस राजा के पुत्र की शंका दूर हो गई।

इस पर्याय-बुद्धि वाला जीव अपने चिरकालीन अभ्यास से स्वयं सांसारिक पदार्थों के साथ रागद्वेष का जाल बनाया करता है। इसके संस्कारों ने इसकी समझ को इतना दूषित कर दिया है कि यदि इसको आत्महित का मार्ग बताया जावे तो उस मार्ग पर चलना पसन्द नहीं करता, कुमार्ग पर चलने में उसे आनन्द आता है, चैन आता है, सुमार्ग दुःखदायी प्रतीत होता है।

एक मछियारे की लड़की और एक माली की लड़की बचपन में सहेली थीं। बड़े हो जाने पर माली की लड़की एक नगर में व्याही गई और मछियारे की लड़की का विवाह एक गांव में हुआ। वह मछियारे की लड़की जब कभी मछलियां बेचने उस नगर में जाती तो अपनी सखी से अवश्य मिल आती।

एक दिन जब वह मछलियाँ बेचने उस शहर में गई तो उसको मछली बेचते बेचते वहीं पर रात हो गई, इस कारण अपने गांव को न लौट सकी।

तब वह अपनी सखी के घर पहुँची, उसकी सखी ने उसका आदर सत्कार किया उसको भोजन कराया और उसको सोने के लिये विस्तर बिछा दिया। क्योंकि वह मालिन थी इसलिये उसके घर प्रति दिन मनों फूल आते रहते थे। मछियारी फूलों की सुगन्धि में आराम से नींद ले, इस विचार से उस मालिन ने उसके मुख के पास सुगन्धित फूलों का ढेर लगा दिया।

मछियारी उस बिस्तर पर सो गई परन्तु उसको नींद नहीं आई, वह करवट बदलती रही और सोने का प्रयत्न करती रही तब भी उसको नींद नहीं आई। तब उसकी सखी मालिनने उसके पास आ नींद

न आने का कारण पूछा, तब मछियारी बोली कि मुझे इन फूलों की गन्ध अच्छी नहीं लगती शायद इसी लिये मुझे नींद नहीं आ रही है, सो तू इन फूलों को मेरे पास से हटा ले। मछियारी की बात सुनकर मालिन को आश्चर्य हुआ किन्तु अपनी सखी की प्रेरणा से उसने ऐसा ही किया।

तब मछियारी ने अपनी मछली वाली टोकरी में पानी छिड़क-कर उस मछलियों की बदबूदार टोकरी को अपने मुँह के पास रख लिया। जब मछलियों की गन्ध उसके दिमाग में पहुँची तब उसको झट गहरी नींद आ गई।

इसी तरह की बुरी आदत संसारी जीवों को पड़ी हुई है जिसके उनको आत्मा की भलाई की बात नहीं सुहाती, आत्मा के पतन करने वाली बातें ही उसे अच्छी प्रतीत होती हैं।

किन्तु जिन जीवों की होनहार अच्छी होती है, उन्हें आत्म-हित की बातों में रुचि होने लगती है। ऐसे मनुष्य आत्मा और शरीर का भेद भाव समझ कर गुरु के उपदेश के अनुसार सातों तत्वों का श्रद्धान करने लगते हैं तथा सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति करने लगते हैं। धर्म के कार्यों से उन्हें प्रेम हो जाता है। पहले से आचार व्यवहार में बहुत भारी अन्तर आ जाता है, परन्तु जब तक उनका मिथ्यात्व कर्म उपशम, क्षय या क्षयोपशमरूप नहीं होता, तब तक आत्मा की अनुभति नहीं होती और न उन्हें तत्व श्रद्धान और देव शास्त्र गुरु की भक्ति से सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यग्दर्शन अनिवर्चनीय गुण है, उसे शब्दों द्वारा नहीं कहा जाता, इस कारण अनुभव, रुचि, श्रद्धान आदि जो भी लक्षण बतलाये जाते हैं वे सब ज्ञान-परक हैं। सम्यग्दर्शन तो आत्मा की अनुभूति रूप है। जिस तरह मनुष्य ज्वर आदि की पीड़ा के अनुभव को अथवा स्वादिष्ट भोजन आदि के अनुभव को शब्दों द्वारा ज्यों का त्यों नहीं कह सकता क्योंकि अनुभव (feeling) तो अनुभव द्वारा ही ज्ञात होता है, अतः आत्मा की अनुभूति को बतलाने वाले शब्द नहीं हैं वह तो अनुभूति ही बतला सकती है। ये श्रद्धान आदि तो उस आत्म-अनुभूति के सहचारी गुण हैं। यानी—जिस समय सम्यग्दर्शन हो जाता है उस समय उसे आत्मा की तथा सात तत्वों की सत् देव शास्त्र गुरु की अचल श्रद्धा प्रकट होती है। इस तरह तत्वश्रद्धान आदि सम्यग्दर्शन के लक्षण कहे गये हैं।

इसी कारण जो व्यक्ति मिथ्यादेव गुरु शास्त्र का श्रद्धालु न होकर सत्देव शास्त्र गुरु का तथा जिनवाणी अनुसार सात तत्वों का श्रद्धालु होता है उसे व्यवहार सम्यग्दृष्टि कहते है। व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शन का कारण है, अतः आत्मकल्याण के लिए प्रत्येक स्त्री पुरुष को व्यवहार सम्यग्दर्शन अवश्य प्राप्त करना चाहिये।

सम्यग्दृष्टि के कुछ चिन्ह

सम्यग्दर्शन की पहचान के लिये कुछ चिन्ह शास्त्रों में बतलाये हैं उनमें चार चिन्ह प्रसिद्ध हैं— प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य।

क्रोध, अभिमान, मायाचार और लोभ में कमी होकर शान्ति प्राप्त होना प्रशम है जिस व्यक्ति को सम्यग्दर्शन होता है उसके अनन्तानुवन्धी कषाय का उदय नहीं होता इस कारण जन्म भर रहने वाला

या अनेक भव तक बना रहने वाला पत्थर पर बनी हुई रेखा के समान क्रोध सम्यग्दृष्टि जीव को नहीं होता। न पत्थर के थम्भे की तरह अकड़ रखने वाला अभिमान ही उसको होता है। तथा बांस की जड़ों की तरह जटिल मायाचार भी उसे नहीं होता, और न मजीठ के पक्के रंग के समान कभी न मिटने वाला लोभ ही उसको होता है। इस कारण हलकी कषायों के कारण उसके परिणाम शान्त रहते हैं। उन शान्त परिणामों का नाम ही प्रशम है।

धर्म तथा धर्म के फल के साथ अनुराग होना संवेग है। सम्यग्दृष्टि जीव का झुकाव पाप-कार्यों की ओर नहीं होता, वह तो पापों को संसार भ्रमण का कारण समझकर उनसे दूर रहता है और मोक्ष के साधन धर्मकार्यों मे उसकी स्वाभाविक रुचि होती है। इसी तरह पाप के फल नरक आदि से भी सम्यग्दृष्टि जीव भयभीत रहता है। धर्म के फल से जो जीव को सुकुल आदि आत्मा की शुद्धि के साधन-भूत सामग्री प्राप्त होती है उसे भी उपादेय समझता है। धर्म तथा धर्म-फल के साथ उसका अनुराग मोहनीय कर्म जनित नहीं होता बल्कि सांसारिक विषय-भोगों की प्रीति से विपरीत धार्मिक रुचि के रूप में होता है।

जीवमात्र की हिंसा से बचकर समस्त जीवों की रक्षा करने, उनके दुःख दूर करने में तत्पर रहने रूप दया भाव को अनुकम्पा कहते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव उन जीवों पर भी दया करता है जो कि उसे कष्ट देते है। अतः अपने शरीर में डंक मारने वाले बिच्छू, सर्प, बर्र आदि जीवों को भी वह कभी नहीं मारता। उसके हृदय में यह उदार उच्च विचार रहता है कि जब ये जीव अपना दुष्ट स्वभाव नहीं छोड़ते तो मैं अपना दयालु स्वभाव क्यों छोड़ दूं। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि में आकर अन्य जीवों को मारने से तो मेरा पतन ही होगा। ऐसे उच्च आचार-विचार का नाम अनुकम्पा है।

आत्मा के पुनर्जन्म, नरक, स्वर्ग-मोक्ष, पुण्य-पाप का फल, आत्मा की अमरता, आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व को मानना आस्तिक्य है। आस्तिक्य भावों के कारण ही जीव पापकार्यों तथा अनिष्ट अनैतिक विषय भोगों से बचकर आत्मा को शुद्ध करने के लिये व्रत, तप, संयम, देव-शास्त्र गुरु की भक्ति आदि मोक्ष उपयोगी क्रियाएं करता है। नास्तिक मनुष्यों की श्रद्धा होती है कि स्वर्ग, नरक, परमात्मा आदि कुछ नहीं, आत्मा इसी भव में उत्पन्न हुआ है और इसी भव में नष्ट भी हो जायगा अतः व्रत, तपस्या आदि करना वृथा है। खूब सभी कुछ खाओ पियो, विषय-भोगों को भोगो, मद्य, मांस, व्यभिचार आदि का त्याग व्यर्थ है। ऐसी नास्तिक भावना सम्यग्दृष्टि की नहीं होती।

इस इस तरह प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य ये चारों गुण सम्यग्दृष्टि के प्रगट हुआ करते हैं। सम्यग्दर्शन होने से पहले का ज्ञान मिथ्याज्ञान होता है क्योंकि उस ज्ञान से आत्मा का कुछ कल्याण नहीं होता। ऐसे व्यक्ति के लिये एक कवि ने कहा है—

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः, यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्।
सुचिन्तितं चौषध मातुराणां न नाममात्रेण करोत्यरोगम्॥

यानी—बहुत पढ़कर भी जो मनुष्य आत्म-कल्याण के उपयोगी कार्य नहीं करते वे विद्वान्, नहीं, मूर्ख होते हैं। अच्छे अनुभवी वैद्य को भी रोगी दशा में औषधि का ज्ञान ही नीरोग नहीं कर

देता। अर्थात् औषधि सेवन करने से ही जैसे रोगग्रस्त वैद्य को लाभ होता है, उसी तरह विद्वान् को भी विद्या का लाभ तभी है जबकि आत्महित के लिये कुछ कार्य करे।

सम्यग्दृष्टि जीव का ज्ञान आत्मा की ओर झुककर आत्म-मुख होकर कार्य करता है अतः आत्म-हित में उपयोगी होने के कारण सम्यग्दृष्टि का थोड़ा भी ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है और आत्म-हित में अनुपयोगी होने के कारण मिथ्यादृष्टि का महान् ज्ञान भी मिथ्याज्ञान होता है। इस तरह सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान, स्वरूपाचरण, प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य, तत्वश्रद्धा, परमेष्ठि भक्ति आदि अनेक गुणों का उदय हो जाता है।

स्थान— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली

तिथि— आश्विन शुक्ला १४ रविवार ३० अक्टूबर १६५५

प्रवचन नं० १४७

भद्र-प्राणी

सिंहनी का दूध रखने के लिये सुवर्ण पात्र (सोने का वर्तन) आवश्यक होता है, अन्य धातु के वर्तन में वह ठीक नहीं रहता, इसी प्रकार आत्म-धर्म (जिसका कि दूसरा नाम जैनधर्म है) का उपदेश हृदयङ्गम करने के लिये भी भद्र पुरुष की आवश्यकता है। दुष्ट हृदय वाला, हठी, अभिमानी, मायाचारी, अतिशय लोभी, प्रमादी व्यक्ति धर्म का पात्र नहीं बन सकता। जिस तरह कंकड़, पत्थर, घास आदि से रहित, हल से जुती हुई स्वच्छ नम्र भूमि में बोया हुआ बीज बहुत अच्छा उत्पन्न होता है इसी प्रकार स्वच्छ हृदय वाले व्यक्ति के हृदय में धर्म का बीज शीघ्र अकुरित होता है।

कलिकाल में सत्यभाषी मृदुचित्त सरल व्यक्ति को मूर्ख व्यवहार शून्य समझा जाता है और असत्यभाषी, छली, स्वार्थ-साधक पुरुष को चतुर समझा जाता है उसका जनता में सन्मान होता है और उसकी प्रशंसा होती है। इसी कारण आजकल भद्र पुरुषों का मिलना दुर्लभ होगया है। जैनधर्म धारण करके भी लोग भद्र बनना पसन्द नहीं करते। किन्तु बीज का नाश नहीं होता, तदनुसार इस घोर कलिकाल में भी सरल नम्रचित्त धर्म के पात्र भद्र-पुरुष भी मिल ही जाते हैं।

पंडित प्रवर आशाधरजी ने ऐसे ही भद्र-पुरुषों के विषय में सागारधर्मामृत ग्रन्थ में लिखा है—

नाथामहेऽद्य भद्राणामन्यत्र किमु सद्दृशाम्।
हेम्न्यलभ्येऽपि हेमाश्मलाभाय स्पृहयेन्न कः॥

अर्थात्—आज के कलिकाल में भरतक्षेत्र में भद्रपुरुषों के प्राप्त होने की भी हमें आशा है यदि सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो जावें तब तो कहना ही क्या। जिस तरह कि यदि शुद्ध सोना न मिल सके तो सुवर्ण पत्थर मिलना भी अच्छा होता है। यानी—धर्माचरण के लिये आत्म-श्रद्धालु व्यक्ति तो अच्छा पात्र है, उसको दिया हुआ उपदेश बहुत जल्दी अच्छा सफल होता है, किन्तु यदि ऐसा सम्यग्दृष्टि पुरुप न मिले

तो भद्र मिथ्यादृष्टि भी धर्म के उपदेश के लिये पात्र बन सकता है और ऐसे भद्र-पुरुष अं कुटिल कलिकाल में भी मिल जाते हैं।

इसके आगे पं० आशाधरजी भद्रपुरुष के विषय में लिखते है—

कुधर्मस्थोऽपि सद्धर्मं लघुकर्मतयाऽद्विषन्।
भद्रः स देश्योद्रव्यत्वान्नाभद्रस्तद्विपर्ययात्॥

यानी—जो व्यक्ति कुल परिपाटी से किसी विधर्म का पालन करता है किन्तु वह हठी नहीं है, दृढ़ मिथ्यात्वी नहीं है उसकी मिथ्या श्रद्धा तीव्र नहीं है, इस कारण सत्य आत्म-धर्म से वह घृणा या द्वेष नहीं करता है। ऐसे भद्र पुरुष को उपदेश देना चाहिये क्योंकि भद्रता के कारण वह उपदेश पाकर भविष्य में सत्य धर्म का श्रद्धालु बन सकता है। परन्तु जो व्यक्ति भद्र नहीं है, हठी, द्वेषी, दृढ़मिथ्यात्वी है वह उपदेश का पात्र नहीं है, उसको उपदेश देने से कुछ लाभ नहीं।

ठीक है अच्छी कोमल स्वच्छ भूमि में बीज बोना सफल होता है ऊसर भूमि में बीज बोने से कुछ सिद्धि नहीं होती, परिश्रम व्यर्थ जाता है। इसी तरह भद्र पुरुषों को आत्मा की शुद्धि करने की प्रेरणा की जावे तो वे उसको अपने कल्याण की वार्ता समझ कर उसकी ओर झुकते हैं सन्मार्ग दिखाने वाले का आभार (अहसान) मानते हैं। अभद्र पुरुषों को विषय वासनाओं से, धोखाधड़ी, क्लेश क्षोभ मचाने में रुचि होती है, वे अपने कुलाचार से जिस मार्ग पर चल रहे है चाहे वह कुमार्ग ही क्यों न हो, उसी पर चलते हैं। युक्ति आगम से उनको सत् धर्म की रूपरेखा बताई जावे तो अपनी हठधर्मी से सुनना भी नहीं चाहते। ऐसे अभद्र पुरुषों को सन्मार्ग पर लाने का यत्न करना वृथा है। जिसका सौभाग्य होता है, जिसकी होनहार भली होती है, ऐसे व्यक्तियों को धर्म उपदेश से रुचि होती है। उनके ही साथ धर्म-चर्चा करनी चाहिये।

भद्र पुरुष को उपदेश मिलने से वह जैनधर्म का श्रद्धालु बन जाता है। यही बात पंडित आशाधर जी ने बतलाई है, वे लिखते हैं—

शलाकयेवाप्तगिराऽऽप्तसूत्र प्रवेशमार्गो मणिवच्च यः स्यात्।
हीनोऽरुच्या रुचिमत्सु तद्वद् भायादसौ सांव्यवहारिकाणाम्॥

यानी—जिस प्रकार किसी साधारण (कम चमकदार) मणि में बज्रसुई से छेद करके उसमें धागा डाल कर उस मणि को अन्य मूल्यवान दीप्तिमान् (अच्छी चमकदार) मणियों के साथ पिरो दिया जावे तो वह साधारण मणि भी अन्य मूल्यवान् मणियों के साथ वैसी ही दिखाई देती है। इसी तरह विधर्मी भद्रपुरुष जब आप्त (वीतराग परमात्मा) के सूत्र (शास्त्र) द्वारा जैन धर्म में प्रवेश करता है तब वह भी अन्य धर्मात्मा पुरुषों के साथ मिलकर उनकी ही तरह शोभायमान होता है।

प्रत्येक व्यक्ति अनेक प्रकार के ऋणों से ऋणी (कर्जदार) होता है। कुछ ऋण माता-पिता का होता है उस ऋण (कर्ज) को चुकाने के लिये माता-पिता की आज्ञा का पालन, तथा माता-पिता की सेवा करना चाहिये। जिस देश की भूमि पर मनुष्य का जन्म हुआ है जिस देश के जल, वायु, अन्न से जीवन का

निर्वाह होता है उस देश का ऋण भी मनुष्य पर होता है। अतः उस देश की उन्नति के लिये, उस देश का सन्मान ऊंचा करने के लिये देश सेवा करना मनुष्य का कर्तव्य है। जिस समाज में मनुष्य रहता है उस समाज के ऋण से भी मनुष्य तब छूट सकता है जब कि वह समाज की सेवा में भाग ले। इसी प्रकार मनुष्य अपने सत् धर्म का भी ऋणी होता है उस ऋण से छूटने के लिये मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने धर्म को अन्य भद्र पुरुषों में फैलाने के लिये प्रचार करे, क्योंकि जो धर्म प्राणीमात्र का उद्धार करने वाला, साधारण जीवात्मा से परमात्मा बना देने वाला है उसको लोक कल्याण के लिये जगत् में अच्छी प्रभावशाली युक्तियों के द्वारा जैन धर्म का महत्त्व दूसरे भद्र पुरुषों के हृदय में जमा कर उन्हें श्रद्धालु बनाना चाहिये, और जब वे धर्म के श्रद्धालु बन जावें तब उनको अपने साथ कर लेना चाहिये।

सांसारिक कर्तव्य-पालन में कुछ त्रुटि हो जावे तो उससे उतनी हानि नहीं है जितनी हानि अपने धार्मिक कर्तव्य-पालन न करने से है क्योंकि जिस धर्म के आचरण से पतित जीव भी पावन (पवित्र) बन जाता है, उस धर्म के प्रचार में त्रुटि करने से आत्मा की अपार हानि होती है।

यहाँ इतना ध्यान और रखना चाहिये कि ग्रन्थकार पं० आशाधरजी ने पूर्वोक्त श्लोक में जो मणियों की माला का दृष्टान्त दिया है उससे उन्होंने समाज संगठन पर प्रकाश डाला है, यह एक बहुत ही उपयोगी बात है। धर्म के अनुयायी पुरुषों में यदि संगठन न हो तो उ स धर्म के अनुयायियों की शक्ति क्षीण बनी रहती है उसका प्रभाव संसार पर कुछ नहीं पड़ता और वह असंगठित समाज संख्या में चाहे अधिक भी हो, धार्मिक सिद्धान्तों में महत्वशाली हो, और भी उल्लेखनीय योग्यताएं उसमें क्यों न विद्यमान हों, किन्तु उस समाज का सन्मान जगत में कुछ नहीं होता।

भारत में पारसी जाति केवल दो लाख स्त्री-पुरुषों की है, परन्तु उसका संगठन बड़ा प्रभावशाली है। भारतीय जातियों का जब भी उल्लेख होता है, नाम लिया जाता है तब करोड़ों मनुष्यों की संख्या वाली जातियों के साथ इस दो लाख की अल्पसंख्यक पारसी जाति का नाम अवश्य लिया जाता है। पारसी जाति के पारस्परिक संगठन का यह मधुर फल है कि पारसियों में कोई स्त्री-पुरुष दीन-दुःखी असहाय अनाथ दिखाई नहीं देता। वे लोग अपने दीन-दरिद्र, असहाय, अनाथ व्यक्ति को अच्छा सहयोग और आर्थिक सहायता देकर उन्हें सब तरह सम्पन्न बना देते हैं। जो बूढ़े स्त्री-पुरुष कुछ काम नहीं कर सकते, जीवन निर्वाह के लिये द्रव्य जिनके पास नहीं, ऐसे स्त्री-पुरुषों को पारसियों के सामाजिक फण्ड से घर बैठे हुए सहायता मिल जाती है। जिस विद्यार्थी के माता-पिता नहीं होते, उसके अध्ययन में कोई बाधा नहीं पड़ने पाती उसको पर्याप्त छात्रवृत्ति (स्कालरशिप) उसी पारसी फण्ड से दी जाती है, यदि वह विद्यार्थी लन्दन, अमेरिका, जर्मनी आदि विदेशों में जाकर उच्च शिक्षा ग्रहण करना चाहे तो उसके लिये भी उसको पूरी सुविधा दी जाती है।

इसी कारण पारसी जाति में प्रायः सभी शिक्षित स्त्री-पुरुष हैं तथा उनमें ताता जैसे विश्व-विख्यात धनिक व्यापारी, भावा जैसे वैज्ञानिक तथा उच्चपदासीन अधिकारी, अच्छे अच्छे डाक्टर आदि पाये जाते हैं।

सामाजिक संगठन पर प्रारम्भ से ही बल दिया गया है। धार्मिक व्यक्ति का चिन्ह यह बतलाया है कि जो अपने सहधर्मी व्यक्ति के साथ गाय बछड़े जैसा प्रेम करे। जिस व्यक्ति में अपने साधर्मी भाई के लिये ऐसा गाढ़ा स्नेह नहीं है वह व्यक्ति सच्चा धर्मात्मा नहीं, धर्म का आवरण ओढ़-

कर बनावटी धर्मात्मा है। जैनधर्म का मूल जो सम्यग्दर्शन है उसके ८ अंगों में एक वात्सल्य अंग भी हमारे अर्हन्त भगवान् ने आचरणीय बतलाया है, उस अंग का आचरण यदि कोई व्यक्ति नहीं करता है तो वह सम्यक् श्रद्धालु नहीं है क्योंकि जिनवाणी के विधान के अनुसार वह वात्सल्य अंग को भंग करता है।

संसार का सबसे महान् अतिशयशाली तीर्थंकर पद प्राप्त करने के लिये जिन षोडशकारण भावनाओं को बतलाया गया है उसमें एक प्रवचन वात्सल्य भावना भी है उसका अर्थ भी अपने समान धर्मी व्यक्ति से अतिशय प्रेम करना ही है, अन्य कुछ नहीं है।

जैन समाज के पूर्वज इस वात्सल्य अंग का पालन करते थे, तब ही पूर्वकाल मे जैनधर्म ने अच्छी प्रगति की थी। कोई कोई व्यक्ति अपने धन, बल, विद्या आदि के अभिमान में आकर अपने साधर्मी भाई का अपमान कर देते हैं, ऐसे व्यक्तियों को युक्ति पूर्वक समझाते हुए श्री समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कितना सुन्दर लिखा है—

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥२६॥

यानी—जो व्यक्ति अभिमानवश अपने अन्य धार्मिक व्यक्तियों का अपमान करता है वह उन व्यक्तियों का अपमान नहीं करता है अपितु अपने धर्म का ही अपमान करता है। इस बात की पुष्टि के लिये श्री समन्तभद्र आचार्य युक्ति देते हैं कि धर्म धर्मात्माओं के बिना नहीं रह सकता।

विश्वविख्यात महान् विद्वान् समन्तभद्र आचार्य का यह वाक्य (न धर्मो धार्मिकैर्विना) हमको अपने उठने बैठने के मुख्य स्थान पर, मन्दिर की स्वाध्यायशाला में सुन्दर अक्षरों में लिखवा लेना चाहिये जिससे हमारी दृष्टि बार बार उसके ऊपर पड़ती रहे। प्रत्येक धर्मप्रेमी को इस वाक्य का बड़ी गम्भीरता से मनन करके इसे हृदय पटल पर अंकित कर लेना चाहिये।

धर्म कोई चलता फिरता पदार्थ नहीं है जिसका कुछ स्वतन्त्र अस्तित्व हो, वह तो आत्मा का स्वभाव है जो कि आत्मा के साथ तन्मय है। आत्मा के सिवाय अन्य कहीं पाया नहीं जाता अतः धर्म वाले आत्मा का अपमान करना उससे अभिन्न धर्म का ही अपमान करना है। इस कारण जिस धर्म से मनुष्य क्या, प्रत्येक प्राणी फलता फूलता है, सब तरह की उन्नति करता है, उसी धर्म का अपमान करना तो अपने पैरों पर अपने हाथ से ही कुल्हाड़ी मारना है। बुद्धिमान मनुष्य ऐसा कार्य कदापि न करेगा।

अतः धर्म उन्नत करने के लिये धर्मात्माओं को उन्नत करना चाहिये, धर्म का विस्तार करने के लिये धर्मात्माओं का विस्तार करना चाहिये। जिन धर्मों ने विदेशों में जन्म लिया और जिनके सिद्धान्त युक्ति-युक्त नहीं, बहुत लचर हैं, वे धर्म तो इस भारत भूमि में दिन-दूने रात-चौगुने के रूप में बढ़ते जा रहे हैं। प्रत्येक जन-गणना में ईसाइयों की सख्या कैसी तेजी से बढ़ रही है, और जिस जैनधर्म का उदय, विकास, प्रचार इस देश में हुआ, जिसका प्रत्येक सिद्धान्त सौटंची सोने के समान पूर्णसत्य एव निर्दोष है उसके अनुयायियों की संख्या रंचमात्र भी नहीं बढ़ती, प्रत्युत दिनों-दिन कम होती जा रही है।

यह त्रुटि जैनधर्म की नहीं है इस त्रुटि का उत्तरदायित्व (जिम्मेवारी) जैनधर्मानुयायियों (जैन समाज) पर है। जैन भाई श्री समन्तभद्राचार्य के सदा स्मरणीय वाक्य का क्रियात्मक आचरण करें तो आज भी जैन समाज में आदर्श शक्ति का संचार हो जावे, जैनधर्म का महान् गौरव फिर जगत के मस्तक पर अंकित हो जावे।

भद्र-पुरुषों की आज भी कमी नहीं, कमी है उनमें जैनधर्म का प्रचार करने वालों की। अतः अपने कर्तव्य का पालन करो।

स्थान—
श्री दिगम्बर जैन मंदिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि—
आश्विन शुक्ला १५ सोमवार ३१ अक्टूबर १९५५

प्रवचन नं० १४८

काल की प्रबलता

अब आचार्य बतलाते हैं कि जब तक काल सम्मुख नहीं आता तभी तक समस्त पुरुषार्थ चलता है, पर उसके आते ही चाहे कितना भी बलवान् क्यों न हो कुछ नहीं चल सकता। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को काल रोकने का यत्न करना चाहिये।

तावद्वल्गति वैरिणां प्रतिचमूस्तावत्परं पौरुषं,
तीक्ष्णस्तावदसिर्भुजौ दृढतरौ तावच्च कोपोद्गमः।
भूपस्यापि यमो न यावददयः क्षुत्पीड़ितः सम्मुखं,
धावत्यन्तरिदं विचिन्त्य विदुषा तद्रोधको मृग्यते ॥पद्मनंदि० १७५

जब तक क्षुधा से पीड़ित यह निर्दयी काल राजा के भी सामने नहीं पड़ता तब तक उस राजा की सेना भी जहाँ तहाँ उछलती फिरती है, उत्कृष्ट पौरुष भी मालूम पड़ता है, तब तक तलवार शत्रुओं के नाश करने के लिये खूब पैनी बनी रहती है, भुजा भी बलवान् रहती है तथा कोप का भी उदय रहता है; परन्तु जिस समय वह काल बली सामने पड़ जाता है तब ऊपर लिखी हुई बातों में से एक भी बात नहीं होती। इसलिये भलीभांति विचार कर विद्वान् पुरुष उस काल के रोकने वाले को ढूंढ़ते हैं।

भावार्थ—इस काल बली को रोकने वाला केवल एकमात्र जिनेन्द्र भगवान् का धर्म ही है, क्योंकि धर्मात्माओं का काल कुछ भी नहीं कर सकता। अतः भव्य जीवों को चाहिये कि मन, वचन, काय पूर्वक धर्म की आराधना करते रहें।

रतिजल रममाणो मृत्युकैवर्तहस्त,
प्रसृत घन जरोरुप्रोल्लसज्जालमध्ये।

विकटमपि न पश्यत्यापदां चक्रमुग्रं,
भवसरसि वराको लोकमीनौघ एषः ॥ पद्मनंदि० १७६ ॥

जिस प्रकार मल्लाह के बिछाये हुये जाल के अन्दर रहकर भी मछलियों का समूह जल में क्रीड़ा करता है, किन्तु मारे जायेंगे इस प्रकार की आई हुई आपत्ति पर कुछ भी ध्यान नहीं देता, उसी प्रकार यह लोकरूपी मीनों का समूह मृत्युरूपी मल्लाह के द्वारा बिछाये हुए प्रबल जरारूपी जाल में रहकर इन्द्रियों के विषय में प्रीतिरूपी जो जल है उसमें क्रीड़ा ही करता रहता है, किन्तु आने वाली नरकादि आपत्तियों पर कुछ भी विचार नहीं करता। इसलिये गुरुदेव कहते हैं कि अरे भोले प्राणियो ! तुम्हारा समय क्षण-क्षण व्यतीत होता जा रहा है। इसके समाप्त हो जाने पर यदि तुम काल को जीतने का प्रयत्न पहले से ही नहीं कर लोगे तो बाद में तुम्हे बहुत पछताना पड़ेगा। जिस समय बच्चे का जन्म हो जाता है उस समय से जब वह बढ़ने लगता है, तब कुटुम्बीजन प्यार करते हुए कहते हैं कि हमारा बच्चा बढ़ रहा है यानी जवान होता जा रहा है, पर यह सोचना मूल में भूल है, क्योंकि जन्म से प्रतिक्षण बच्चा घटता रहता है उसकी अवस्था एक एक मिनट कम होती जाती है। कहा भी है कि—

अस्मिन्महामोहमये कटाहे, सूर्याग्निना रात्रि दिवेन्धनेन।
मासतु दर्वी परिघट्टनेन, भूतानि कालः पचतीतिवार्ता ॥

इस संसार के मोहरूपी कड़ाही में सूर्य रूपी अग्नि नीचे से धधक रही है, उसमे रात-दिन-रूपी ईंधन निरन्तर जलता रहता है, मास (महीना) और ऋतुरूपी दर्वी से चलाया जा रहा है और काल प्राणियों को पका रहा है, यही बात है। इस पर एक बड़ी सुन्दर कथा कही जाती है—

एक बार दो राजाओं में बड़े जोर की लड़ाई हुई। उसमें से जो निर्बल राजा था वह अपनी हार देखकर प्राण लेकर जंगल की ओर भाग गया। पीछे से उसका शत्रु उसे मार डालने के लिये दौड़ा। जब वह अपनी जान की रक्षा करने के लिये जगल में बहुत दूर निकल गया, तब उसे एक निर्जल पुराना कुंआ दिखलाई पड़ा। उस कुए में से एक पीपल का वृक्ष निकला था और उस वृक्ष की डाली व पत्तियों से कुआं ढ़का हुआ था। वह एकान्त स्थान जानकर पीपल की डाली पकड़ कर नीचे उतरा और एक शाखा पर शान्ति पूर्वक बैठ गया, किन्तु कालबली ने उसका पीछा कुएं में भी किया। थोड़ी देर बाद ही एक बहुत बड़ा भयानक सर्प ऊपर से उसको काटने के लिये अपना मुँह फैलाने लगा और नीचे से दो काले और सफेद चूहे पीपल की जड़ को काटने लगे। अब राजा को बड़ी चिन्ता हुई। वह मन ही मन सोचने लगा कि यदि ऊपर जाता हूँ तो सर्प काट लेगा और यदि नहीं जाता हूँ तो नीचे से जैसे ही दोनों चूहे वृक्ष की जड़ को काट डालेंगे वैसे ही नीचे गिरकर मर जाना पड़ेगा। किसी तरह से अब हमारी जान नहीं बच सकेगी। यह सोच ही रहा था कि इतने में दोनों चूहों ने जड़ को एकदम काट दिया और वह उसी में गिरकर मर गया। यह तो दृष्टान्त हुआ, पर अब जरा इसके दृष्टान्त पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। संसारी जीव, मृत्युरूपी शत्रु के भय से भागकर इधर उधर अपने प्राणों की रक्षा करने के लिये अवस्था (आयु) रूपी वृक्ष पर बैठे हुए हैं, परन्तु उसके खाने के के लिये कालरूपी सर्प बारंबार अपना मुँह फैलाया करता है और उसके आयुरूपी वृक्ष को रात-दिन

रूपी काले और सफेद दो चूहे प्रतिक्षण काटते रहते है। जैसे ही अवस्था समाप्त हुई कि तुरन्त ही कालबली आकर खा लेता है इसलिये इससे बचने के लिये प्रतिक्षण प्रयत्न करते रहना चाहिये।

आचार्य कहते है कि हे भव्य भक्तो! यदि काल को जीतना चाहते हो तो यह किसी अस्त्र-शस्त्रादि से नहीं जीता जा सकता तथा चतुरंगिणी सेना भी इस कालबली का कुछ नहीं कर सकती। इसके जीतने के लिये एक धर्ममात्र ही शस्त्र है। कहा भी है कि—

क्षुद्भुक्तस्तृडपीह शीतल जलाद् भूतादिका मन्त्रतः।
सामादेरहितो गदाद्गदगणः शांतिं नृभिर्नीयते॥
नो मृत्युस्तु सुरैरपीति हि मृते मित्रेऽपि पुत्रेऽपिवा।
शोको न क्रियते बुधैः परमहो धर्मस्ततस्तज्जयः॥ पद्मनंदि० ॥१७७॥

मनुष्य क्षुधा को भोजन से, प्यास को शीतल जल के पीने से, भूतादिकों को मन्त्र से, वैरी को साम, दाम, दण्डादिक से तथा रोग को औषधि आदि से शान्त कर लेते हैं, परन्तु मृत्यु को देवादिक भी शान्त नहीं कर सकते। इसलिये विद्वान् पुरुष, मित्र तथा पुत्र के मर जाने पर भी शोक नहीं करते, किन्तु वे उत्तम धर्म की ही आराधना करते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि उत्तम धर्म से ही मृत्यु का जय होता है।

विशेषार्थ—इस संसार में समस्त रोगादिक की शान्ति के उपाय मौजूद हैं, परन्तु मृत्यु की शान्ति का उपाय धर्म के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। इसलिये विद्वानों को यदि मृत्यु से बचना है तो उन्हें अवश्य ही धर्म की आराधना करनी चाहिये।

पूर्व जन्म में जिसने धर्म किया था वही आज धनी तथा सुखी है, लेकिन यदि इस समय धर्म का बीज नहीं बोया जायगा, अर्थात् धर्म संचय नहीं किया जायगा तो पूर्व पुण्य समाप्त होते ही नाना प्रकार के दुःखों को भोगना पड़ेगा। धर्मात्मा मनुष्य को मारवाड़ की मरु भूमि में भी धर्म के प्रभाव से शीघ्र ही पानी मिल जाता है। धर्मात्मा मनुष्य धर्म के लिये सदा प्रयत्न किया करते हैं। आज कल अधिकतर लोग फैसन बढ़ाने में लग गये हैं। आमदनी कम रहती है और ठाट बाट दिन प्रति दिन बढ़ता चला जा रहा है। लेकिन शरीर की सजावट से परेशानी के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं दिखाई पड़ता। औरतें आभूषण की अत्यधिक चाहना किया करती हैं। आभूषण से अपने शरीर को अलंकृत करके सुन्दर समझती हैं। परन्तु थोड़े समय के लिये बाह्य शृंगार अर्थात् आभूषणादि यदि शरीर के अलंकार बनते हैं तो वे ही आभूषण अधिकतर चोर डाकुओं के द्वारा आक्रमण करने पर शरीर के घातक होते दृष्टिगोचर होते हैं।

सारांश यह है कि जब शरीर स्वस्थ रहेगा, उसमें परोपकार व उदारता की भावना बनी रहेगी तथा शील संयमादि गुण विद्यमान रहेंगे तब अन्य किसी भी आभूषण की आवश्यकता नहीं रह जाती। परन्तु यदि भूख लगी है तब तो सभी आभूषण बेकार रहते हैं। इस पर एक दृष्टान्त दिया जा रहा है—

एक सेठ की स्त्री (सेठानी) पर्व तिथि आने पर सेठ जी से आभूषण बनवाने के लिये कहने लगी।

सेठ जी ने बहुत समझाया कि आभूषण साथ रखने से चोर डाकुओं का भय लगा रहता है, पर जब सेठानी एक बात भी सुनने को तैयार न हुई तब सेठ जी ने पूछा कि आभूषण पहन कर क्या करोगी ? सेठानी ने कहा कि आप को दिखलायेंगी। सेठ जी ने कहा कि अच्छा तुम भोजन तैयार करो हम आभूषण खरीदने के लिये बाजार में जाते हैं। सेठानी ने बड़े हर्ष से अच्छा से अच्छा पक्वान्न तैयार किया और सेठ जी के आने पर उन्हें प्रेम पूर्वक खूब भोजन कराया। सेठ जी के भोजन कर चुकने के बाद ही सेठानी की लगन आभूषणों में इतनी अधिक लगी थी कि वह बिना भोजन किये ही सजधज कर पति के सामने जाकर दिखाने लगी। सेठ जी तो खूब डटकर भोजन किये थे, इसलिये वे चारपाई पर मस्त पड़े थे, पर सेठानी को नीचे जमीन पर खड़े हुए जब काफी समय हो गया तब सेठ जी से कहने लगी कि अब मैं भोजन करने के लिये जाऊँ ? सेठ जी ने उत्तर दिया कि अभी हम तुम्हें ठीक तरह से देख नहीं चुके, इसलिये जब तक खूब न देख लें तब तक यहीं खड़ी रहो। यह कह कर सेठ जी सो गये और सेठानी के पैर खड़े खड़े सूज गये। बहुत देर के बाद जब उनकी आंख खुली तब सेठानी झुंझला कर कहने लगीं कि आप अपना जेवर वापिस कर लीजिये हमें ऐसे जेवर की जरूरत नहीं है। दिन भर तो हम बिना दाना पानी के खड़ी हैं और आप अभी तक देख ही नहीं चुके। अन्त में वह सब आभूषण सेठ जी की चारपाई पर फेंक कर चली गई।

इसलिये आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीवो ! अगर तुम आभूषण धारण करके सदा के लिये सुखी होना चाहते हो तो, कम से कम अष्टमी व चतुर्दशी की पर्व तिथि के दिन व्रत रूपी आभूषण धारण करके दान रूपी कंगन अपने हाथों में पहिनो। घर से मन्दिर में आकर भी जो तुम अपनी घरेलू बातें व प्रपंच जप के स्थान पर किया करते हो उसे एक दम त्याग करके भगवान् को साष्टांग नमस्कार करो तथा उन्हें अपने मन मन्दिर में विराजमान करके नासाग्रदृष्टि किये हुये इस प्रकार की भावना करो कि हे भगवन् ! जैसे आप अपने कर्म मल को नष्ट करके अक्षय पद प्राप्त कर चुके हैं, उसी प्रकार हमें भी ऐसी शक्ति प्रदान कीजिये जिस से कि हम भी आपके समान बन जायें। ध्यानाग्नि के द्वारा अपने कर्मों को जलाकर उसके ऊपर वारुणी जलधारा का अभिषेक करता हुआ इस प्रकार की भावना करे कि— 'सिद्धोऽहं, निर्विकारोऽहं परपदार्थ रहितोऽहं' अर्थात् हमारा आत्मा विकार व परवस्तु से रहित होकर सिद्ध है। इसी प्रकार पैंतीस अक्षर का बीजमन्त्र णमोकार उच्चारण करते हुए अपने स्वस्वरूप में मग्न हो जाओ। इस प्रकार श्रद्धा पूर्वक भगवान की पूजा करने से बाह्यकर्म वर्गणा रुक जाते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त क्रिया को करने से हृदय शुद्ध हो जाता है तथा मन स्थिर हो जाता है। इसलिये जिस प्रकार मकान की सफाई प्रति दिन की जाती है उसी प्रकार अपने मन मन्दिर की सफाई उपर्युक्त सत् क्रियाओं के द्वारा करना प्रत्येक श्रावक का परम कर्तव्य है।

आचार्य कहते हैं कि अगर तुम्हें जेवर पहनने का बड़ा शौक हो, तो तुम पान, बीड़ी, सिगरेट, सिनेमा आदि दुर्व्यसनों को छोड़कर सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र रूपी हार इसे पहनाओ। तुम्हारा आत्मा अनादि काल से भूखा हुआ तड़फड़ा रहा है इसे पंच परमेष्ठी का ध्यान करके 'अमृतोद्भव ३' इस प्रकार का मन्त्र उच्चारण करके क्षीर निकाल कर उसकी खीर तैयार करके खिलाओ। जिससे कि तुम्हारी क्षुधा सर्वदा के लिये मिट जाय। अभी तक तो तुम अपने शरीर की सजावट करते हुए चारों गतियों में भ्रमण करते हुए चले आ रहे हो, पर अब तो तुम्हें उत्तम मनुष्य योनि, उत्तम जैनकुल तथा सद्गुरु समागम परम सौभाग्य से प्राप्त हुआ है, इसलिये इसमें धर्म संचय करके अपना जीवन सफल कर लो, नहीं तो

बाद में बहुत पछताना पड़ेगा।

गुरुदेव कहते हैं कि हे जीवो ! यह उपदेश हम अपने मार्ग से जाते हुए इसलिये दे रहे हैं कि तुम्हें देख कर हमारे हृदय में बड़ी करुणा आई। कितने कालान्तर में नीच से नीच योनियो में जन्म-मरण करने के पश्चात् यह अमूल्य नर रत्न तुम्हें प्राप्त हो गया है, इसे भुनाकर तुम सर्वदा सुखी बन सकते हो, परन्तु हमे बड़ी दया आ रही है कि तमाम दुःख उठाने के बाद भी आज तुम अपनी आत्म-निधि को छोड़कर परपदार्थों के पीछे पड़कर कामान्ध हो गये हो। तुम्हे सदसद् की विवेक बुद्धि नहीं रह गई, इसलिये तुम गर्व रूपी वृक्ष की चोटी पर जा कर बैठ गये हो, यदि वहाँ से तुम गिर पड़े तो तुम्हारे हाथ पैर टूट जायंगे। इसलिये हम तुम्हें बारम्बार यही बतलायेंगे कि तुम परपदार्थों को छोड़कर अपनी आत्मनिधि का चिन्तन प्रतिदिन करते रहो, जिस से कि तुम्हारा दुःख सदा के लिये दूर हो जाय।
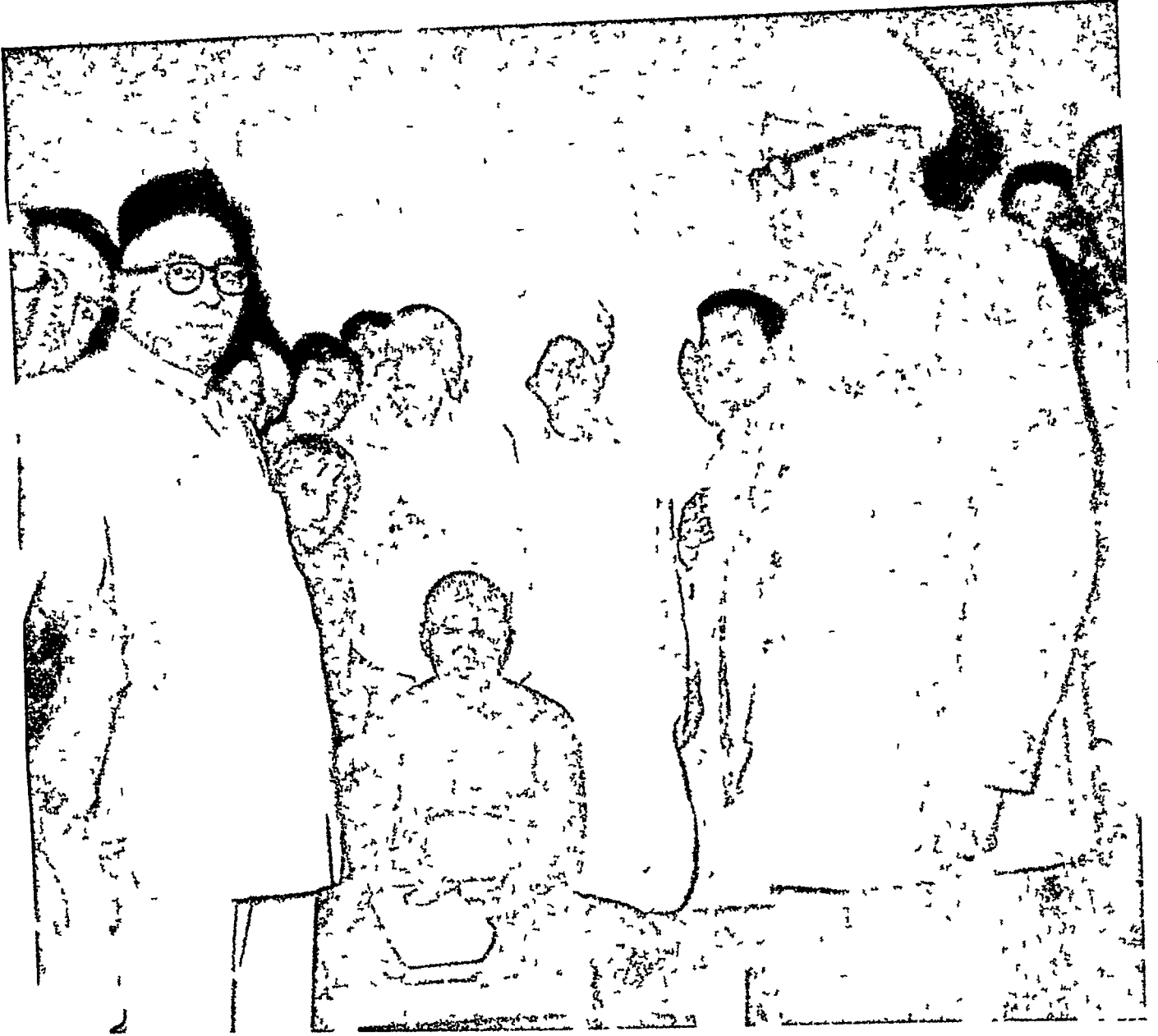
श्री १०८ आचार्य देशभूषणजी महाराज
तथा
श्री टी० एल० वैंकटारामाजी अय्यर
(भारतीय सुप्रीम कोर्ट के जज)

भारतीय सुप्रीम कोर्ट के जज
माननीय श्री टी. एल. वैंकटारामाजी अय्यर का
परम पूज्य श्री १०८ आचार्य देशभूषणजी महाराज के
दर्शन के लिए पदार्पण
और दिगम्बरत्व के प्रति वक्तव्य

ता० २०-२-५६ को श्री दि० जैन धर्मशाला पहाड़ी धीरज देहली में श्री १०८ आचार्य देशभूषणजी महाराज के दर्शनार्थ भारत की सुप्रीमकोर्ट के जज माननीय श्री टी० एल० वैंकटारामाजी अय्यर पधारे। आचार्य श्री की वीतरागी शान्तमुद्रा का दर्शन करके आपने अपने को कृत्य-कृत्य समझा और कुछ तत्व-चर्चा की। पश्चात् संस्कृत में संक्षिप्त निम्न लिखित विचार प्रकट किये।

न पुनः आत्मान समर्थ मन्ये। तथापि अलंघनीयत्वात् गुरोरज्ञाया किञ्चिदेव वक्ष्यामि। अस्माकं पुराणेषु देवाश्चासुराश्चेति अस्माभिः पठ्यंते।

न पुनरस्माभिः असुराः दृष्टाः विगतरूपः अमानुषरूपः चेति गुणः। देवः चेति गुणः असुरः इत्ययं असद्भिः प्रच्छति सर्वैरेव अयं अत्रातः अवगन्तव्यः।

असुभिः रमन्ते इति असुराः। येषां शरीरस्यैव आशा वर्तते इति असुराः। ये चिन्तयंति अयमेव देहाः मुख्या अस्य देहस्य पोषणार्थं सर्व कर्तव्यं इति ये ये चिन्तयन्ति ते सर्वे असुराः। ये पुनः चिन्तयन्ति अस्माद्देहात् व्यतिरिक्ताः कश्चिद् वर्तते सह अस्माभिः ज्ञातव्याः। इति ये ये चिन्तयन्ति के ते देवाः। इत्ययं अतः अस्मात्तस्मात् अस्माभिः देव पथ मनुसरद्भिः आत्मा अवगन्तव्यः।

अयमेव अस्माकं शास्त्राणां उद्देश्यः। तमुदिश्य मधिगन्तव्यः गुरुराश्रयं कुन इति चेत् गुरुरेव विद्या अधीतव्यः इत्यस्माकं निर्णयः।

आर्यवान् पुरुषो वेदः उच्यते वेदः।
तदा तथैव मातृदेवो भव, पितृदेवो भव,
आचार्य देवो भव इत्युच्यते वेदेषु।
मातृवत्तुल्यः पितृवत्तुल्यः गुरुरिति।
गुरो ब्रह्मा गुरोर्विष्णु, गुरु र्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात परम ब्रह्मः तस्मै श्री गुरुवे नमः॥

इत्युच्यते सर्वैरेव तस्मात् गुरु सेवाया एव अस्माभिः आत्मज्ञो नमः। नमराधिगन्तव्यः वर्तते। इदमेव मया संक्षेपे उक्तं।

कथं तवेति ते देवे? देवे इदानीमेव पुनरपि वक्ष्यामि।

सुधी किंचित वक्तव्य दिगम्बर मतमनुसृत्य अधिकृत्य किं नग्नत्वं साधुः वाऽसाधु इत्यत्र प्रश्नः वर्तते
पुराणेषु शास्त्रेषु सर्व शास्त्रेषु न केवलं जैन शास्त्रेषु सर्वेषा मेव मतेषु कचित् कचित् नग्नत्वमुप शोधनं वर्तते । दिनार्कि भगवान् अपि "दिगम्बरत्वेन निवेदित शुचि इत्युक्तः गणराशिः" ।

कीदृशस्य भगवान् पिनाकपाणि ?

किन्नाम दिगम्बरत्वं अस्मिन् काले समीचीन स्यात् ?

किमिद मस्माके नागरिक वृत्या स्वाधीनमिति आश्रित्य प्रच्छेति पुन रेतत् वक्तव्यः किं नग्नत्वं ?

साधुः वाऽसाधुः अथवा इति अत्र अस्माके मनरेव प्रथमे कारण । इत्यस्माकं मनः ।

कं शरीरं वर्तते तदा तत्र न किंचिदपि दोषः पश्यामि ।

यदि पुनरस्माकं कं शं वर्तते तदानग्नत्वे वयं पश्यामः अयमेव संक्षेपः ।

तस्मात्येषाः गुणः वर्तते अहं कं शरीरः पाप रहितं संबुद्धया तेषा मध्ये नग्नत्वं न दुष्टं भवति । यदि पुनः सन्ति मनुष्याः येषां चित मनः कीद श युक्तं भवति येषां मनः पाप शंकी येपां मनः न सर्वकालं पाप मेव चिन्तयति ।

तेषामग्रे यदि नग्नत्वं दृश्यते तदातेषां मनसि विकाराः स्यादिति ताम् ।

तस्मात् कोऽत्र निर्णयं कर्त्तुं शक्यमिति चेत् ।

यदि वयं मनसि शुद्धाः तदानामस्माकमत्र गृहीतं भवति ।

इत्येव मम अभिप्रायः इति मया गुरुरग्रे निवेदितः । तवगुरुरग्रे निवेदितु रशक्या इदानीं शक्त्यानुसारेण मया नग्नत्व रूप रूपं स्वरूपं निवेदितः ।

इत्यलं नमस्ते । पुनर्भूयात् दर्शनं ।

संस्कृत का अनुवाद इस प्रकार है—

हमारे शास्त्र पुराणों में देवता और राक्षसों का वर्णन किया गया है । यद्यपि हम लोगों ने अमानस रूप असुरों को नहीं देखा तथापि उनके दुर्गुणों व सद्गुणों से देवता व राक्षसो की पहचान होती है । सुरासुरों के कुछ लक्षण इस प्रकार है:—

जो प्राणों से रमण करते हैं यानी दूसरों की जान लेते हैं अथवा प्राणोत्सर्ग के समान पीड़ा देते हैं, जिनके शरीर में सदा क्षणिक भोगोपभोगों की आकांक्षा बनी रहती है तथा जो यह सोचते है "यह शरीर ही मुख्य है, इसका पालन-पोषण करना ही मूल कर्तव्य है, वे असुर यानी राक्षस हैं" परन्तु जो यह सोचते हैं कि "इस शरीर के अतिरिक्त भी कुछ है वही हम लोगों को जानना चाहिये, वे देवता हैं ।" इसलिये देवपथ का अनुसरण करने वाले हम लोगों को आत्मा को जानना चाहिये । यही हम लोगों के शास्त्रों का उद्देश्य है । इसी उद्देश्य को ग्रहण करके हमें गुरु का आश्रय ग्रहण करके गुरुदेव से ही विद्याध्ययन करना चाहिये, यही हमारा निर्णय है ।

आर्यवान् पुरुष वेद कहा जाता है। वेदों में मातृ-देव, पितृ-देव तथा आचार्य-देव होने के लिये शिक्षा दी गई है। माता के समान, पिता के समान तथा गुरु के समान बनने की शिक्षा गुरुओं ने दी है। गुरु गरिमा के विषय में कहा है—

गुरु ब्रह्मा, गुरु विष्णु, गुरु शंकर तथा गुरु साक्षात् परब्रह्म स्वरूप हैं। अतः ऐसे गुरुदेव के लिये नमस्कार है। गुरुदेव की सेवा से ही हम सब आत्म-ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, यही हमारा संक्षेप में कथन है।

अब दिगम्बर मत के विषय में भी हम कुछ कहना चाहते हैं। नग्नता क्या है, साधु और असाधु क्या है ? यह प्रश्न यहाँ उपस्थित होता है। इसके उत्तर में हमारा विचार यह है कि केवल जैनशास्त्र मे ही नहीं अपितु सभी शास्त्र पुराणों में तथा सभी मतों में नग्नत्व की प्रशंसा की गई है। दिनार्कि भगवान् ने भी गणराशि नामक शास्त्र में कहा है कि दिगम्बरत्व से पवित्रता का निर्माण होता है। किस प्रकार शंकर भगवान दिगम्बर वेष धारण किये थे। अब यहाँ पर पुनः यह प्रश्न उठता है कि नग्न वेष से साधु या असाधु की क्या विशेषता है ? तो इस प्रश्न के उत्तर में हमारा मन ही मूल कारण है। जब हमारा मन निर्मल रहता है तब हम दोष नहीं देखते तथा यदि हम विचार करें कि कहाँ कल्याण की प्राप्ति है तो नग्नत्व में ही देखते हैं। अर्थात जो निरभिमानी, निष्पाप तथा समता भाव धारण करने वाले हैं उनके मध्य में नग्नत्व कुछ भी प्रतिकूल नहीं मालूम पड़ता। परन्तु जो सशकित हैं या जिनका मन सदा पाप का ही चिन्तन किया करता है तथा जो अहर्निशि बाह्य पर-पदार्थों में ही उलझे रहते हैं उनके मन में नैसर्गिक विकार रहता है और वे ही स्वयं विकारी होने के कारण सर्वत्र सभी में दोष अन्वेषण किया करते हैं। इस प्रकार नग्नता परम पवित्रता की द्योतक है।

ऐसे गुरुदेव हमारे परम आराध्य हैं। अतः ऐसे पुरुषों के पाद पद्मों में हम बारबार नमस्कार करते हैं और सदा यही सद्भावना करते है कि इसी प्रकार हमें सत्संग का लाभ प्राप्त होता रहे तथा सर्व बन्धुओं से नम्र निवेदन है कि आप लोग भी इसी प्रकार अपनी सद्भावना रखकर अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त करें।

बसवेश्वरनाथ
पहाड़ी धीरज, देहली।